अध्यात्म ज्ञानेश्वरी

अध्यात्म

ज्ञानेश्वरी

प्रथम प्रकाश 1944

प्रकाशक :
ज्ञान यज्ञ प्रकाशन
बी.एन.78, पश्चिमी शालीमार बाग
दिल्ली 110052
दूरभाष : 7431651, 7220754, **फैक्स :** 7132775

मुद्रक : कृपाल प्रिंटर्स,
लेज़र टाइपसेटिंग : कैड कम्प्यूटर्स
बी - 207, लेन नं 2, मजलिस पार्क, दिल्ली - 33
फोन नं : 7125826
निवास : 7221242

ISBN No.81-86395-00-8

अनुक्रमणिका

निवेदन

मेरे पूज्य दादाजी (श्रीयुत् गोपाल रघुनाथ रानडे) की आधुनिक मराठी में अनुवादित ज्ञानेश्वरी का, यह उनके सहाय से किया हुआ हिन्दी अनुवाद है ।

जिससे यह ज्ञानजिज्ञासा उत्पन्न हो गई; उसीके चरणों पर यह कार्य समर्पित है । आपका, यह पुस्तक उठाने में, जो एक ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का संकेत है; वह जिज्ञासा ही उस वस्तु का एक कौतुकभरा दर्शन है ।

सच तो यह है कि दादाजी के कारण ही मैं यहाँ आपके सामने इस रूप में खड़ा हूँ ।

इस ग्रन्थ में हिन्दी भाषा सुधार का श्रेय श्रीमती अर्चना जैन, श्रीमती पूनम आहुजा व श्रीमती गार्गी कुमार का है, जिन्होंने निष्कामचित्त से अपना बहुमूल्य समय दिया । इस पुस्तक के प्रकाशन में अत्याधिक धैर्य व सहयोग श्री शील खन्ना, श्री सन्दीप शर्मा व श्री शशी मल्होत्रा से मिला, जिन्होंने बारम्बार त्रुटिसुधार सुशीलतापूर्वक एवं बड़े परिश्रम से किया । मुख-पृष्ठ की रचना में मेरी मामीजी श्रीमती गीता लौयलका, चि. बहन शुभलक्ष्मी और चि. पल्लवी अग्रवाल, इन तीनों परिवार के कलाकारों के योगदान का मिलन है ।

वाचक की सुविधा के लिए मूल श्रीमद्भगवद्गीता श्लोक, उनके सरल हिन्दी अर्थ सहित, प्रत्येक अध्याय के अन्त में दिए हुए हैं ।

संजय अग्रवाल

प्रस्तावना

भारतीय तत्वज्ञान में गीता एक ऐसा ग्रन्थ है कि जिसकी तुलना में पूरी सृष्टि में कोई ग्रन्थ दीखता नही । गीता एक जीवन शास्त्र है । इस गीता पर बहुत विद्वान लेखकों ने बहुत सा वाङ्मय उत्पन्न किया हुआ है । किन्तु इन सबमें संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर के ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी का स्थान अद्वितीय है । ज्ञानेश्वर ने गीता शास्त्र, बहुजन समाज तक पहुँचाने के लिये, उनकी मातृभाषा मराठी का उपयोग किया हुआ है । इस मराठी ग्रन्थ का अनुवाद जग की अनेक भाषाओं में हो चुका है । हिन्दी में भी इसके अनेक अनुवाद हो चुके है । किन्तु उनकी रचना करते समय ज्ञानेश्वर की प्रत्येक ओवी का सौन्दर्य, विचार, वाचको को पहुँचाने का प्रयत्न हुआ नहीं । सर्व लेखकों ने उसका सारांश ही लिखने का यत्न किया ।

इस ग्रन्थ में वह त्रुटि निकालकर, ज्ञानेश्वरी की प्रत्येक ओवी का सौन्दर्य, विचार प्रदर्शन, साहित्य गुणों का अविष्कार, वाचकों को देने का प्रयत्न किया हुआ है । वह कितना सफल हुआ है, इसका निर्णय करने का अधिकार केवल वाचकों का है । ज्ञानेश्वरी एक महान विस्तृत ग्रन्थ है । उसमे गीता के प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक श्लोक पर अपने विचार प्रतिभा संपन्नता से प्रगट किए हुए हैं । पूरे विस्तृत ग्रन्थ का पूर्ण हिन्दी अनुवाद, ऊपर लिखे हुए प्रकार से देने में, ग्रन्थ का विस्तार होकर अधिक महत्वपूर्ण उपयोग होने की सम्भावना नहीं है ।यह ध्यान में रखकर इस ग्रंथ में गीता व ज्ञानेश्वरी के टीका के केवल छः अध्याय ही चुनकर वाचकों के सामने प्रस्तुत किये हैं ।

गीता की रचना देखें तो अभ्यासकों को यह सहज प्रतीत होगा कि गीता में अनुक्रम से तीन-तीन अध्याय के छः गटों में एक-एक विषय प्रतिपादन किया हुआ है । जिसमें पहले दो-दो अध्याय उस मुख्य विचार के प्रस्तावनारूप हैं । उद्धारण के लिये गीता के प्रथम दो अध्याय तीसरे अध्याय 'कर्मयोग' की प्रस्तावना स्वरूप ही हैं, ऐसा दीखने में आएगा । चौथा व पाँचवा अध्याय, ये भी छठवे अध्याय के संन्यास विषय की ही प्रस्तावना हैं । यह ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ में तीसरा, छठवाँ, नवाँ बारहवाँ, पंद्रहवाँ व अठारवाँ, ऐसे छः अध्याय इस ज्ञानेश्वरी अनुवाद के लिये चुने हुए हैं । और पूरा विश्वास है कि इन छः अध्यायों में ही पूर्ण गीता शास्त्र समाया हुआ दिखेगा ।

इससे ज्ञानेश्वरी का स्वरूप संक्षिप्त किन्तु सुन्दर और सम्पूर्ण गीताशास्त्रप्रदर्शक होगा । वाचक इसका आनंद लेंगे, ऐसा विश्वास प्रकट करना यहाँ अनुचित नहीं होगा ।

गोपाल रघुनाथ रानाडे

अध्याय ३

कर्मयोग

गीता १

अब सुनो । अर्जुन ने कहा: भगवान कमलापति, आपने जो कुछ कहा वह मैंने ठीक से सुना है । १

तदनुसार देखें तो कर्म और कर्ता, यह भेद रहता ही नहीं है । हे अनन्त, अगर तुम्हारा यह निश्चित मत है २

तब फिर 'अर्जुन तू संग्राम कर' ऐसा हे कृष्ण, मुझे तू कैसे कहता है । अरे, इस महा घोर कर्म में मुझे धकेलने में तुझे कुछ भी चिन्ता नहीं होती । ३

भगवान, तुम जब सर्वकर्म का सम्पूर्ण त्याग कहते हो तब मुझ से यह हिसक कर्म तुम क्यों करवाते हो । ४

तो, हे कृष्ण, तू इसका विचार कर । तू कर्मत्याग को मान देता है, और इतनी बड़ी हिसा मुझसे करवा रहा है । ५

गीता २

भगवन्, तुम ही जब ऐसा बोलोगे तो हम अज्ञानी लोग क्या करें । अब सब विवेक का राज्य समाप्त ही हो गया, ऐसा ही कहना पड़ेगा । ६

देखो, उपदेश जब ऐसा होगा तो फिर अविचार तो कैसा होगा । अब मेरी आत्मबोध की इच्छा समाप्त ही हो गई । ७

वैद्य पथ्य बताकर चला गया और फिर उसने औषधि में विष दिया हो, तो रोगी कैसे जियेगा, बताओ । ८

जैसे अंधा आढ़मार्ग में जाए या बन्दर को मद्य पिलाई जाए, उसी तरह से तुम्हारा यह मीठा उपदेश हमारे दैव में आया हुआ है । ९

पहले ही मैं कुछ जानता नहीं, और उसपर मोह से पछाड़ा हुआ हूँ । इसलिये, हे कृष्ण, मैंने तुझसे उपदेश पूछा । १०

तो तेरा तो आश्चर्य ही है । यहाँ उपदेश में भी उलझन है । फिर उसी तरह से आचरण करके क्या होगा ! ११

हम शरीर, मन, प्राण लगाकर तुम्हारे उपदेश का आदर करते हैं । फिर तुम जब ऐसा आचरण करने लगोगे तो सभी ठप्प हो जाएगा । १२

अब ऐसा हमको कहो कि जिससे हमारा कल्याण हो जाए । अर्जुन कहता है, यहाँ इस समय ज्ञान की इच्छा कौन करे ! १३

अब ज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं, क्योंकि और एक दुविधा हो गई है । वह यह, कि मेरा मन जो पहले ही पंगु, और उस पर अब उलझन में फँसा हुआ है । १४

वैसे भी हे कृष्ण, यह तेरा आचरण मुझे समझ में नहीं आता । इस बहाने से मेरे अन्तःकरण की परीक्षा तो नहीं ले रहे हो ? १५

तुम मुझे फँसा रहे हो, या अलग रीति से कुछ तत्व कह रहे हो । इसका विचार करूँ तो सचमुच कुछ समझ नहीं आता । १६

इसीलिये भगवान अब सुनो, ऐसे भावार्थ से न बोलो । मुझे सुविचार कहना हो, तो सरल शब्दों में कहो । १७

मैं बिल्कुल मंदबुद्धि का हूँ । इसलिये मेरे जैसे को ठीक समझ में आ जाए ऐसा, हे कृष्ण, निश्चित विचार तुम मुझे कहो । १८

व्याधि से ठीक करना हो, तो औषध देना चाहिये । किन्तु वह मीठा और रुचिकर हो । १९

इसी तरह से सकलार्थ से पूर्ण ऐसा उचित तत्व ही मुझे कहो। किन्तु ऐसा, कि मेरे अन्तःकरण को समझ में आ जाए। २०

भगवन्, तुम्हारे जैसा निजगुरु ! फिर अपनी इच्छा तुम्हारे सामने क्यों न रखूँ। यहाँ क्यों संकोच करूँ। २१

तू तो हमारी माता है ! दैवयोग से कामधेनु का दूध जब हमको मिले, तब वहाँ, कामना की कमी क्यों रखें। २२

जब चिन्तामणि हाथ आएगा तो इच्छा को क्या अड़चन। अपने को जो अच्छा लगे, वह माँगना चाहिये। २३

बड़े कष्ट से अमृतसिंधु के पास पहुँचे और फिर वहाँ प्यास से पीड़ित हो जाए, तो वह कष्ट किया क्यों ? २४

अनेक जन्म उपासना करने के बाद, हे लक्ष्मीपति, तुम आज दैवयोग से हमारे हाथ आए हो। २५

तो हे परमेश्वर, हमको जो चाहिये वह क्यों न माँगें। भगवान, मन को यह सुकाल लगता है। २६

देखो, आज सर्व इच्छा का जीवन पूर्ण सफल हो गया है। मेरे सर्व मनोरथ आज विजयी हो गए। २७

सचमुच हे परममंगलधाम देवदेवोत्तम, तुम आज हमारे ऊपर प्रसन्न हो गए इसीलिये ऐसा हो गया। २८

जैसे, बालक को स्तन-पान देने के लिये माता को समय नहीं; ऐसा कभी नहीं होता। २९

इसी तरह से हे भगवान कृपानिधि. मेरी इच्छा को जो अच्छा लगता है वह मैं आज करुणापूर्वक पूछ रहा हूँ। ३०

अर्जुन कहता है : तो परमार्थ को हितकारक और आचरण योग्य, ऐसा एक निश्चित जो हो, वह कहो । ३१

गीता ३

यह सुनकर श्री कृष्ण को आश्चर्य हुआ और वे बोले : मेरे बोलने का अभिप्राय केवल सूचक ऐसा था । ३२

जो बुद्धियोग कहते हुए, सहज ही प्रसंग से मैंने सांख्यमत के विचार प्रकट किये । ३३

वह मेरा उद्देश्य तुझे समझ में नहीं आया इसीलिये व्यर्थ रोप करते हो। अब तुझे कहता हूँ ये दोनों ही मार्ग मेरे ही कहे हुए हैं । ३४

हे वीरश्रेष्ठ ! सुनलो, ये दोनों ही मार्ग मेरे से ही प्रगट हो गए, और वे अनादिसिद्ध हैं । ३५

एक को ज्ञानयोग कहते हैं जो, सांख्यों ने अनुसरण किया। उस मार्ग में ज्ञान होते ही परमेश्वर की तद्रूपता आ जाती है । ३६

दूसरा कर्मयोग। जहाँ साधकजन साधना में निपुण होकर कुछ समय के बाद परमगति को प्राप्त होते हैं । ३७

ये मार्ग दो दीखते हैं फिर भी अन्त में वे एकरूप हो जाते हैं। जैसे तैयार अन्न खाया या तैयार करके खाया, फिर भी समाधान एक ही । ३८

या प्रारम्भ में नदियाँ भिन्न-भिन्न दीखती हैं । कोई पूर्व से कोई पश्चिम से। किन्तु सागर में मिलने के बाद उनका ऐक्य होता है । ३९

ऐसे ये दोनों मार्ग एक ही उद्देश्य दिखाते हैं । किन्तु उनका आचरण योग्यता अनुसार हो जाता है । ४०

देखो, पक्षी उड़ते ही फल को पकड़ सकता हैं । परन्तु कहो, मनुष्य को वह सामर्थ्य कैसे मिलेगा । ४१

वह धीरे-धीरे एक फाँदी से दूसरी फाँदी पर चढ़ते हुए किसी समय वहाँ निश्चित पहुँच ही जाएगा । ४२

वैसा, सांख्य ज्ञानी लोग ज्ञान के अधिष्ठान से उस पक्षी समान, मोक्ष-पद प्राप्त कर लेते हैं । ४३

दूसरे, योगी, विहित कर्म के आधार से, आचरण में पूर्णता आ गई तो वे भी वही पद प्राप्त करते हैं । ४४

गीता ४

उचितकर्म का आरम्भ करके, वह जब तक सिद्ध हो जाए, तब तक करते रहे बिना, निश्चित ही कर्म-हीन अवस्था आती नही । ४५

या हे अर्जुन, प्राप्त कर्म का त्याग करके निष्कर्मता आ जाएगी ऐसा कहना भी व्यर्थ है, और मूर्खता का लक्षण है । ४६

कहो, नदी के परले तीर पर जाने की जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ नाव का त्याग करके कैसे चलेगा ? ४७

पेट में शान्ति चाहते है, तब भोजन बनाये बिना कैसे चलेगा ? या तैयार भोजन न खाकर कैसे चलेगा ? ४८

जब तक निरिच्छता नही आता तब तक कार्य तो करना ही है । समाधान होने के बाद ही वह रुकता है । ४९

इसीलिये हे अर्जुन, सुनो, जिसको निष्कर्मता अच्छी लगती है उसे उचितकर्म त्याग करके नही चलेगा । ५०

अपनी इच्छा से स्वीकार किया तो कर्म होता है, और छोड़ दिया तो छूट जाता है, ऐसा है क्या ? ५१

ऐसा बोलना व्यर्थ ही है । विचार किया जाए तो ऐसा दिखेगा कि कर्म छोड़ने से छोड़ा नही जाता । यह निश्चित समझो । ५२

गीता ५

जब तक प्रकृति का अधिष्ठान है, तब तक छोड़ना, करना, यह भाषा अज्ञान है । कारण, कार्य स्वयं ही गुणाधीन है । ५३

विहित कर्म जितना है इतना हठ से जो छोड़ा जाए, तब इन्द्रियों के स्वभाव-धर्म क्या नष्ट हो जाएँगे ? ५४

देखो, कान सुनना छोड़ देंगे क्या ? आँखों की दृष्टि कहाँ जाएगी ? नाक सुगंध लेनी बन्द करेगी क्या ? ५५

या प्राणापान गति रुक गई, बुद्धि के विचार बन्द हो गए, भूख-प्यास ये भावना नष्ट हो गई, ऐसा होगा क्या ? ५६

निद्रा और जागृत अवस्था बन्द हो गई या पाँव चलना भूल गए क्या ? ये छोड़दो, जन्म-मृत्यु क्या बन्द हो गए ? ५७

ये जब कुछ रुकता नहीं, फिर क्या छोड़ा । इसीलिये जो देहधारी है उसको कर्मत्याग नहीं । ५८

कर्म पराधीन है, प्रकृति-गुणों के कारण होता रहता है । करना, न करना, यह भावना व्यर्थ है । ५९

देखो, रथ पर चढ़कर, स्थिर बैठ गए, तब भी परतंत्र होकर चलन तो होता ही है, मार्ग-आक्रमण भी होता है । ६०

या सूखा पत्ता निश्चेष्ट हो, तब भी वायु से उड़ने के बाद, आसमान में भ्रमण करता रहता है । ६१

ऐसे ही प्रकृति के आधार से, कर्मेन्द्रियों के विकार से, निष्कर्मी भी निरंतर कार्य में रहता है । ६२

इसीलिये जब तक प्रकृति का संग है, तब तक कर्म का त्याग असंभव । ऐसा होते हुए भी, त्याग करने की इच्छा करने वाले जो होंगे, उनका तो केवल आग्रह ही रह जाएगा । ६३

गीता ६

जो उचितकर्म छोड़कर, या कर्मेन्द्रियों की प्रवृत्ति को रोककर, निष्कर्म होने की इच्छा करते हैं । ६४

उनको कर्मत्याग तो होता ही नही क्योंकि कर्त्तव्य मन में बैठा रहता है । ऊपर से नटना, यह सचमुच दरिद्रता ही है । ६५

अर्जुन, ऐसे जो होंगे वे सब नत्वतः विषयासक्त हैं ऐसा निःसंदेह जानो । ६६

अब अर्जुन, तुझे निरिच्छ व्यक्ति का गूढ़ लक्षण कहता हूँ । ध्यान दो । ६७

गीता ७

जो अन्दर से पक्का, परमात्मस्वरूप में स्थिर और ऊपर से तो सामान्य जैसा । ६८

वह इन्द्रियों को आज्ञा देता नहीं । विषयों का भय नहीं रखता । जो-जो उचित व पर्याप्त कर्म हैं, उनका त्याग नहीं करता । ६९

कर्मेन्द्रियाँ अपने कर्म में रहते हुए, उनका नियमन नहीं करता । किन्तु इनके उत्पन्न होने वाले विकारों से व्याप्त नही होता । ७०

जैसा पानी में होकर भी कमल-पत्र पानी से भीगता नही, उसी तरह से कामनाओं से वह घेरा नहीं जाता, और मोह-मल से लिपटता नही ।७१

संसर्ग में होता है, औरों जैसा दीखता है । जैसा, पानी के कारण सूर्य बिम्ब भासता है । ७२

वैसे तो वह सामान्य जैसा ही दीखता है , किन्तु उसको जानने की इच्छा की जाए, तो कुछ पता नही लगता । ७३

ऐसे लक्षणों से जो युक्त होगा, वह ही मुक्त है, और आशा-पाश रहित है, ऐसा जानो । ७४

अर्जुन, वह ही योगी है । इस जग मे उसका एक विशेष स्थान है । मैं इसीलिये यह कह रहा हूँ , कि तुम वैसे हो जाओ । ७५

तुम मन को नियमित रखो, अन्तःकरण मे निश्चल हो जाओ, फिर कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने व्यापार में सुख से रहने दो । ७६

गीता ८

निष्कर्म होना चाहिये ऐसा कहोगे, तो वह यहाँ संभव नही । और कर्म निषिद्ध हो, तो क्यों करे । विचार करो । ७७

इसीलिये उचित और परिस्थिति से जो-जो प्राप्त होगा, वह कर्म तुम फलाशा छोड़कर करते रहो । ७८

अर्जुन, और एक महत्व की गोप्ठ तू जानता नहीं । अरे, ऐसा कर्म स्वयं ही मुक्त करने वाला होता है । ७९

देखो, जो धर्म के आधार से स्वधर्माचरण करता रहता है, वह उसी कर्म से ही निश्चित मोक्ष को प्राप्त करता है । ८०

गीता ९

तो, जो स्वधर्म है वह नित्य यज्ञ है, ऐसा समझ लो । इसीलिये उसका आचरण करने में पाप नहीं । ८१

यह स्वधर्म जब छोड़ दें, तब कुकर्म की ओर वृत्ति बढ़ती है । इसी को ही संसार का बंधन कहते हैं । ८२

इसीलिये, स्वधर्माचरण, यही अखंड यज्ञ याजन है । ये जो करता रहेगा, उसको कोई भी बंधन नहीं । ८३

यह जीवलोक कर्म में बाँधा गया, देहाधीन हो गया, उसकी वजह एक ही है कि उसने नित्ययज्ञ का त्याग किया । ८४

अब इसके बारे में मैं तुझे एक कथा कहता हूँ । जब ब्रह्मदेव ने सृष्टि की रचना की, उस समय की कथा है । ८५

गीता १०

जब नित्ययज्ञ के साथ यह सर्वभूत सृष्टि निर्माण हो गई, तब, यज्ञ अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण लोग उसे जानते नहीं थे । ८६

उस समय, इसी हेतु, प्रजा ने ब्रह्म से विनती की कि हे भगवन्, हमको यहाँ किसका आश्रय है, कहो । तब ब्रह्मदेव ने भूतमात्र को कहा : ८७

कि वर्ण विशेष से हमने तुमको यह स्वधर्म ही कहा हुआ है । इसकी उपासना करो, फिर यह स्वयं ही तुम्हारी इच्छा पूर्ण करेगा । ८८

तुमको व्रत-नियम करने की आवश्यकता नहीं । यम-नियमों से शरीर को पीड़ा देना नहीं । दूर तीर्थस्थान को जाने की आवश्यकता नहीं । ८९

योगादिक साधन, साकांक्षित आराधना, मंत्र-यंत्र विधान, सब छोड़ दो । ९०

पतिव्रता अपने पति की जैसे सेवा करती है, उसी तरह से निष्काम चित्त से स्वधर्म का पालन करो । ९१

अन्य देवों की भक्ति करने का कारण नही । ऐसा कुछ न करो । सहज रीति से स्वधर्मयज्ञ का पूजन करते रहो । ९२

यह स्वधर्मरूप यज्ञ ही आप सब के आचरण करने योग्य है। ऐसा सत्यलोक-स्वामी ब्रह्मा बोले । ९३

देखो, जब तुम स्वधर्म का पूजन करोगे तब वह तुमको कामधेनु जैसा हो जाएगा । फिर हे प्रजाजन, यह स्वधर्म तुम्हें भूलेगा नही । ९४

गीता ११

ऐसा करने से सर्व देवता प्रसन्न हो जाएँगे और तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे । ९५

सर्व देवता-गणों का स्वधर्म से पूजन करने के बाद वे तुम्हारा योगक्षेम निश्चित संभालेंगे । ९६

तुम देवता का पूजन करोगे तो देव तुमको संतुष्ट करेंगे । इसमें परस्पर प्रेम बढ़ेगा । ९७

फिर तुमको जो करने की इच्छा होगी वह अपने-आप सिद्ध हो जाएगा । मन की इच्छा भी पूरी हो जाएगी । ९८

तुमको वाचासिद्धि आएगी । तुम आज्ञा करने वाले होगे, बड़े-बड़े अभिमानी तुम्हारे पास महासिद्धि मांगने आ जाएंगे । ९९

जैसे वसंतऋतु के द्वार पर ऐसी वनश्री निरंतर खड़ी रहती है कि उस के सौन्दर्य के सामने फलभार की कमी भासती ही नहीं। १००

गीता १२

तब सर्व सुख के साथ मूर्तिमंत दैव ही तुम्हारा मार्ग ढूँढते हुए तुम्हारे पीछे लगेगा । १०१

जब तुम स्वधर्मादिक कर्म नित्य करते रहोगे तब तुम सब भोग भोगकर निरिच्छ व दुःखमुक्त हो जाओगे । १०२

किन्तु सब सम्पदा प्राप्त होने के बाद विषयों के मिठासपन से मोहित होकर, जो इन्द्रियों के मदानुसार बरतेंगे । १०३

यज्ञ से प्रसन्न होकर देवों ने जो सम्पदा आपको दे दी, उससे स्वधर्मपूर्वक उस सर्वेश्वर का पूजन जो नहीं करेंगे ; १०४

जो अग्निमुख में हवन नहीं करेंगे ; देवता का पूजन नहीं करेंगे ; योग्य समय पर ब्राह्मण को अन्न नहीं देंगे ; १०५

जो गुरुभक्ति नहीं करेंगे ; अतिथि का आदर नहीं करेंगे ; अपने संबंधियों को समाधान नहीं देंगे ; १०६

ऐसा जो स्वधर्म पालन न करने वाले, सुस्थिति से उन्मत्त हुए, केवल भोग के पीछे लगे हुए होंगे ; १०७

उनको बाद में बहुत संकट भोगने पड़ेंगे । जिससे हाथ में जो है वह सब निकलकर, और जो मिलने वाला है वह भोग भी वे भोग नहीं सकेंगे। १०८

आयुष्य समाप्त होने के बाद जैसे शरीर में चैतन्य रहता नहीं । या भाग्यहीन के घर में जैसे लक्ष्मी नहीं रहती । १०९

इसी तरह से स्वधर्म जब जाएगा तब सब सुख चले जाएँगे। जैसे दीप जाने के बाद प्रकाश चला जाता है । ११०

जहाँ स्वधर्म नहीं रहेगा वहाँ आत्मस्वातंत्र्य भी रहेगा नहीं। प्रजाजनों सुनो। ऐसा ब्रह्मदेव कहने लगे । १११

इसीलिये जो स्वधर्म का त्याग करेगा उसको काल दण्ड देगा। चोर समझकर उसका सर्व हरण कर लेगा । ११२

फिर रात के समय श्मशान में भूत जैसे नाचते हैं, वैसे सर्वदोष चारो ओर से उसे घेर लेंगे । ११३

और त्रिभुवन के दुःख, अनेक प्रकार की पातके, और सारा दैन्य वही रहने आएगा । ११४

हे सर्वप्राणीमात्र, उस उन्मत्त मनुष्य की ऐसी अवस्था हो जाएगी। और कल्पांत तक भी रोते बैठा तब भी वह छूटेगी नही । ११५

इसीलिये स्वधर्म छोड़ना नही चाहिये। इन्द्रियों की बड़-बड़ सुनना नहीं। ऐसा उस चतुरानन ब्रह्मदेव ने प्रजा को सिखाया । ११६

मछलियों को पानी का त्याग करने के बाद तत्काल मरण आ जाता है। इस स्वधर्म का ऐसा ही है । इसीलिये इसको छोड़ना नही । ११७

इसीलिये आप सब लोग अपने-अपने उचित कर्मों में रम जाओ। ऐसा बार-बार मैं कह रहा हूँ। ११८

गीता १३

देखो, विहित कर्म के आचरण में, आशारहितबुद्धि से, जो अपने पास की सर्व समृद्धि खर्च करेगा। ११९

गुरु, गोत्र, अग्नि, इनका जो पूजन करेगा । प्रसंग में ब्राह्मणों का सम्मान करेगा, पितरों के उद्देश्य से श्राद्धादिक यजन करेगा । १२०

ऐसी उचित यज्ञ क्रिया को ही यज्ञ में हवन करने के बाद, सहज जो-जो अग्नि शेष रहेगा, १२१

जब वह अपने घर में, सुख से परिवार के साथ, भोज करेगा । तब वह भोजन ही सर्वदोष हरण करेगा । १२२

अमृतसिद्धि के योग से जैसे महारोग जाता है। उसी तरह से यज्ञशिष्ठामृत सेवन करने वाला, सर्व पापों से मुक्त होता है । १२३

तत्वनिष्ठ मनुष्य को जैसे भ्रान्ति नही होती । वैसे ही शिष्ठामृत सेवन करने वाले को दोष होते नहीं । १२४

इसीलिये स्वधर्माचरण में जो-जो मिलेगा वह स्वधर्म में ही विनियोग करो और फिर जो बचेगा, उसका आनंद से उपभोग लो । १२५

इसीलिये हे पार्थ, यह छोड़कर अन्य मार्गों पर मत जाओ । ऐसी यह मूल कथा श्री कृष्ण ने अर्जुन से कही । १२६

'यह देह ही मैं', ऐसा जो मानते हैं, और विषय, यही एक सेवनीय है, ऐसे जो कहते हैं, और दूसरा कोई विचार नहीं करते ; १२७

यह यज्ञकार्य, पूरा न समझने के कारण व्यर्थ मानते हैं, और केवल अहमबुद्धि के दिखावे में ही रहने की इच्छा करते हैं ; १२८

जो इन्द्रियों को ही अच्छा लगे, ऐसा रुचिकर भोजन बनवाते हैं, वे पापी लोग भोजन नहीं, पाप ही भक्षण करते हैं । १२९

जो-जो सम्पदा अपने पास है, वह सारी यज्ञ-सामग्री माननी चाहिये और स्वधर्मयज्ञ में वह परमेश्वर को अर्पण करनी चाहिये । १३०

यह छोड़कर, देखो. मूर्खलोग अनेक प्रकार का भोजन केवल अपने लिये तैयार करते हैं । १३१

अन्न से यज्ञ सिद्ध होता है और परमेश्वर संतुष्ट होता है । इसीलिये अन्न, यह सामान्य वस्तु नहीं । १३२

अन्न को सामान्य नही समझना चाहिये । अन्न ब्रह्मरूप है और इसीलिये ही इस विश्व का वह जीवन है । १३३

गीता १४

अन्न से समस्त जीव उत्पन्न होते हैं । पर्जन्य अन्न को सर्वत्र उत्पन्न करता है । १३४

पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है, और स्वकर्म से यज्ञ प्रगट होता है । और वेदस्वरूप आदिब्रह्म, यह कर्म का आधार है । १३५

गीता १५

फिर वेदान्त ने पर-आपर ऐसा अक्षरब्रह्म उत्पन्न किया, इसीलिये मूलतः यह सर्व चराचर ब्रह्मव्याप्त है । १३६

हे अर्जुन, कर्मस्वरूपयज्ञ मे वेदों का सदैव अधिष्ठान रहता है यह तू समझ ले । १३७

गीता १६

हे अर्जुन, ऐसी यह यज्ञ की आद्यपरम्परा तुझे संक्षिप्त में कही । इसीलिये, कि तेरा ज्ञान अधूरा न रहे । १३८

जो उन्मत्त पुरुष यह स्वधर्मरूपयज्ञ पूर्ण और उचित प्रकार से इस जग में आचरण नहीं करेगा, १३९

वह पातकों की राशि है। जिन्होंने बुरे कर्म से इन इन्द्रियों के लाड़ पूरे किये, वे इस भूमि पर भार हैं। १४०

ऐसे मनुष्यों के सब जन्म कर्म, हे अर्जुन, व्यर्थ हो जाते हैं। जैसे आकाल के बादल। १४१

या बकरे के गले का थन। देखो, जिनसे स्वधर्म का अनुष्ठान नहीं होता है, उनका जीवन ऐसा ही होता है। १४२

इसीलिये अर्जुन सुनो, यह स्वधर्म किसी को छोड़ना नहीं चाहिये, अपितु सब भावों से इसी एक का ही पूजन करना चाहिये। १४३

यह देखो, जब शरीर है तो कर्म तो आता ही है; फिर उचित कर्म क्यो छोड़े। १४४

हे अर्जुन सुनो, यह देह की मूर्ति मिलने के बाद जो स्वधर्म का उपहास करते हैं, वे अनाड़ी हैं। १४५

गीता १७

देहधारी होते हुए भी जो अपने में ही रममाण होता है, वह ही एक, कर्म से लिप्त नहीं होता। १४६

क्योंकि आत्मबोध से संतुष्ट होकर कर्म में भी यशस्वी होना है इसीलिये स्वभाविकत: कर्मसंघ से मुक्ति पाता है। १४७

गीता १८

जैसे, तृप्ति होने के बाद साधन अपने आप रहते नहीं। उसी तरह से आत्म संतोष से, कर्म रहता नहीं। १४८

अर्जुन, जब तक अन्त:करण में आत्म-ज्ञान नहीं होता, तब तक, इन साधनों को स्वीकार करना पड़ता है। १४९

गीता १९

इसीलिये, तुम नियमपूर्वक सर्व आसक्ति छोड़कर, उचित, ऐसा स्वकर्म करते रहो। १५०

जो निष्कामपन से सर्व कर्म करते हैं उनको, हे अर्जुन, तत्व से देखा जाए, तो मोक्ष इस जग में ही मिलता है। १५१

गीता २०

देखो, कर्मजात कदापि न छोड़ते हुए भी जनकादिकों को मोक्षसुख का लाभ हो गया। १५२

इसीलिये हे अर्जुन, कर्म में आस्था होनी चाहिये। यह और एक कारण से भी उपकारकारक हो जाएगी। १५३

हम अपने लिये कर्म का आचरण करते हुए, वह कर्म अन्य लोगों की दृष्टि में आएगा और सहज ही उन लोगों की हानि टल जाएगी। १५४

जिन्हें कर्मसिद्धि मिल गई, जो निष्काम हो गए हों, उनको भी और लोगों के लिये कर्म करना पड़ता है। १५५

अन्धों के साथ, आगे, जैसे देखने वाला चलता है। उसी तरह से स्वयं आचरण करके, अज्ञानी लोगों को धर्म-मार्ग दिखाना चाहिये। १५६

ऐसा नहीं किया जाए तब अज्ञानी लोगों को कैसे समझ में आएगा। उनको किस प्रकार से इस मार्ग का ज्ञान होगा। १५७

गीता २१

यहाँ बड़े लोग जैसा करते हैं, उसी को ही धर्म, ऐसा कहा जाता है। और सर्व सामान्य लोग उसी का ही अनुकरण करते हैं। १५८

यह ऐसा सहज हो जाता है । इसीलिये बड़े लोगों को कर्म न छोड़कर जानबूझकर ही, आचरण करना पड़ता है । १५९

गीता २२

अर्जुन, मैं दूसरों की गोष्ठी तुझे क्यो कहूँ । देखो, मैं स्वयं इस जग में कर्म करते हुए ही रहता हूँ । १६०

किसी इच्छा से धर्माचरण कर रहा हूँ, ऐसा जो तुम समझोगे ; तो बताओ, मुझे कुछ कमी है ? १६१

तुम जानते ही हो कि मुझमें ऐसा ऐश्वर्य है कि पूर्णता से मुझ जैसा इस जग में अन्य कोई नहीं । १६२

तुम यह मेरी कीर्ति जानते हो कि मृत गुरुपुत्र मैंने जीवित किया । ऐसा मैं चुपचाप कर्म करता रहता हूँ । १६३

गीता २३

मैं स्वकर्म में कैसा रहता हूँ, तो फल की आशा से कर्म करने वाला जैसा होता है, वैसा । किन्तु यह केवल एक ही उद्देश्य से । १६४

कि सर्व प्राणीमात्र केवल मेरे ही अधीन हैं इसीलिये उनका बुरा न हो । १६५

गीता २४

मैं पूर्णकाम होने के कारण जब आत्मानंद में ही रहूँ तब मेरी प्रजा का उद्धार कैसे होगा । १६६

प्रजा मेरी प्रतीक्षा करे और उसके बाद में क्या करना है यह मैं सोचूँ, ऐसी सामान्य अवस्था सर्वनाश का कारण होगी । १६७

इसीलिये सर्वज्ञता प्राप्त हुआ समर्थ पुरुष जो यहाँ होगा, उसको विशेषत: कर्म त्याग नही करना चाहिये । १६८

गीता २५

लोभी मनुष्य फल की आशा से जैसा डटकर कार्य करता रहता है, निरिच्छ मनुष्य को भी ऐसा ही डटकर कर्म करते रहना चाहिये । १६९

कारण, कि हे अर्जुन, यह पूरी विश्व संस्था सतत पूर्णपन मे रक्षण करनं चाहिये, इसीलिये । १७०

धर्म-मार्ग के आधार पर चलना चाहिये । सर्व विश्व को प्रगतिपथ पर ले जाना चाहिये । किन्तु स्वयं अलौकिक है, ऐसा लोगो को भास न हो । १७१

गीता २६

जो बच्चा बड़े कष्ट से माँ का दूध पीता है, वह पकवान कैसे खाएगा । इसीलिये हे अर्जुन, वह उसे नही देना चाहिये । १७२

इसी तरह से स्वकर्म ठीक तरह से करने की भी जिसकी योग्यता नही, उसको [illegible]र्म सहज खेल मे भी नही कहना चाहिये । १७३

उसके पीछे अच्छा कर्म लगाना चाहिये । उसी की सदैव प्रशसा करनी चाहिये । निष्काम कर्म करने वालो ने ऐसा आचरण कर, उसे दिखाना चाहिये । १७४

ऐसे लोक-संग्रह के लिये, कर्मसग स्वीकार किया जाए तो वह कर्म, बन्धन कारक होता नही । १७५

जैसे बहुरूपिये के स्वांग में जो राजा-रानी होता है, वह स्त्री-पुरुष भाव मन में नहीं रखता । किन्तु लोगों को वैसा भास हो, ऐसा करता है । १७६

गीता २७

अर्जुन देखो, दूसरे का बोझा जब कोई अपने सिर पर लेगा, तब बताओ वह थक नही जाएगा क्या ? १७७

जैसे शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति के गुणों के कारण होते रहते हैं किन्तु मूर्खलोग मतिभ्रष्ट होने के कारण कर्तापन अपनी ओर लेते हैं । १७८

ऐसा अहंकारी, हठी, अज्ञानी, जो कोई होगा उसको यह गूढ़ परमार्थ न कहो । १७९

अर्जुन, अब यह छोड़दो । मैं तुझे तेरे हित की बात कहता हूँ, वह ठीक ध्यान देकर सुनो । १८०

गीता २८

जो तत्वज्ञान जानते हैं, उनमें वह देहभाव नही होता जिसके कारण ही ये सब कर्म हो जाते हैं । १८१

वे देहाभिमान छोड़कर गुण के कारण होने वाले कर्म की ओर ध्यान न देते हुए, देह में ही केवल साक्षीभूत होकर रहते हैं । १८२

इसीलिये देहधारी होते हुए भी वे कर्मबंधन से मुक्त होते हैं । जैसे सृष्टि के सर्व व्यवहार सूर्य के कारण चलते रहते हैं फिर भी उनका बंधन सूर्य को नहीं होता । १८३

गीता २९

यहाँ कर्मबंधन उसी को ही जड़ता है जो गुण के संभ्रम से घिरा हुआ होता है और प्रकृति के हाथ का खिलौना होकर रहता है । १८४

गुणों के आधार से इन्द्रियाँ अपने-अपने व्यवहार करती रहती हैं । किन्तु दूसरा का कर्म, वह बिना कारण अपनी ओर लेता है । १८५

गीता ३०

तुम सर्व उचितकर्मों का आचरण करके, उन्हें मुझे अर्पण करो। किन्तु अन्तःकरण आत्मरूप में विलीन करके। १८६

'यह कर्म और मैं उसका कर्ता' या 'मैं कर्माचरण करूँगा' ऐसा अहंकार भाव, अर्जुन, कभी भी अन्तःकरण मे रखो नहीं। १८७

तुम शरीर के अधीन नहीं होना। सब वासनाओं का त्याग करो, और फिर सहज रीति से आए हुए भोग, भोगकर छोड़ो। १८८

अब धनुष बाण हाथ में लेकर रथारूढ़ हो जाओ, और आनंद से वीरवृत्ति को आलिगन दो। १८९

जग में अपनी कीर्ति संभालो। स्वधर्म का मान बढ़ाओ और पृथ्वी को भार से मुक्त करो। १९०

सर्व शंका छोड़कर अर्जुन, अब संग्राम की ओर ध्यान दो। अब यहाँ दूसरा कोई भी विचार न करो। १९१

गीता ३१

यह मेरा सच्चा-सच्चा मत है। इसको जो आदर से स्वीकार करते हैं और श्रद्धापूर्वक आचरण में लाते हैं, १९२

वे, हे अर्जुन, सर्व कर्म करते हुए भी, कर्ममुक्त हो जाते हैं। यह जानकर, कर्म निश्चितपन से करना चाहिये। १९३

गीता ३२

नहीं तो, प्रकृति के [illegible] होकर, इन्द्रियों के ला[illegible]रके यह मेरा मत जो अवहेल कर फेंक [illegible], १९४

जो उसको बिल्कुल सामान्य समझते हैं, तुच्छता मे देखते हैं और वाचालपन से उसको अर्थवाद कहते हैं, १९५

वे मोह-मदिरा के नशे से पछाड़े हुए, विषय-विष से भरे हुए और अज्ञान-कीचड़ में फँसे हुए होते हैं, ऐसा निश्चित समझ लो। १९६

देखो, प्रेत के हाथ में दिया हुआ रत्न जैसे बेकार होता है, या जन्मान्ध को सूर्योदय दिखाना, क्या उपयोगी होगा। १९७

या चन्द्र का उदय जैसा कौवे को उपयोगी नहीं। उसी तरह से मूर्खमनुष्य को यह उपदेश अच्छा नहीं। १९८

वैसे भी अर्जुन, जो इस परमार्थ मे दूर रहते हैं, उनके साथ बोलने की भी इच्छा नहीं होती। १९९

इसीलिये यह मत वे नहीं मानते। उल्टा इसकी निन्दा ही करने लगते हैं। बताओ, पतंगा कभी प्रकाश सहन करेगा क्या ! २००

अरे, पतंगों का दीप को आलिंगन, माने वहाँ ही उनका निश्चित मरण। वैसे, विषय-सेवन माने ही आत्म घात। २०१

गीता ३३

इसीलिये किसी सुजान मनुष्य को इन इन्द्रियों का कौतुक से भी लाड़ करना नहीं चाहिये। २०२

बताओ, सर्प के साथ खेल सकेंगे क्या ? बाघ के साथ मित्रता हो सकेगी ? या हलाहल सेवन करने के बाद पच जाएगा ? २०३

देखो, सहज खेल में आग लग गई तो वह न बुझाने से जैसी अधिक ही बढ़ जाती है। इसीलिये इन्द्रियों का लाड़ करना अच्छा नहीं। २०४

वैसे भी, हे अर्जुन, इस पराधीन शरीर के लिये अनेक प्रकार के भोग क्यों कमाएँ ? २०५

बताओ, बड़े कष्ट से कमाई हुई सब समृद्धि खर्च करके सुबह-शाम इस देह को ही सम्भालना चाहिये क्या ? २०६

यहाँ सर्व श्रम करके धन-सम्पत्ति प्राप्त करें, किन्तु उस सम्पत्ति से स्वधर्म छोड़ केवल देह का ही पोषण करें क्या ? २०७

पंचमहाभूतात्मक यह शरीर जब अन्त में पंचत्व में विलीन हो जाएगा, तब, किये हुए श्रम किसमें ढूँढे । २०८

केवल देह का पोषण, यह जीवन को नंगा करने जैसा है । इसीलिए तुम इस देह के लिये अपना अन्त:करण न दो । २०९

गीता ३४

वैसे तो इन्द्रियों को अच्छे लगने वाले विषयों का पोषण करते समय, चित्त में संतोष तो हो जाएगा ! २१०

किन्तु वह संतोष, सभ्द चोर की सगति है । जब तक नगर की सीमा पार नहीं की, तब तक की अल्प-काल शान्ति ! २११

अरे, विष की मिठास सम्भवत: अन्त:करण को अच्छी लगेगी किन्तु उसके परिणाम का विचार करें तो प्राण जाएँगे ही ! २१२

देखो इन्द्रियों में विषय की इच्छा हो, तब वह सुख को दूर करती है । जैसे मछली को काँटे में लगी अभिलाषा भुला देती है । २१३

किन्तु उस अभिलाषा के साथ एक काँटा है, वह प्राण लेकर जाएगा, यह छुपा हुआ होने के कारण उसको दीखता नहीं । २१४

इस अभिलाषा से ऐसी ही अवस्था हो जाएगी । विषयों को पकड़कर रखा. तो क्रोध की अग्नि में जाकर पडेगा । २१५

जैसे शिकारी अपना हेतु साध्य होने के लिये मृग को चारों ओर से घेरकर बाण के कक्ष में लाता है । २१६

यहाँ भी वही अवस्था है । इसीलिये तू विषयों का संग न कर । अर्जुन, काम और क्रोध दोनों ही बड़े घातक हैं । २१७

इसीलिये इनका आश्रय नहीं करना चाहिये । मन में भी उनका स्मरण न करो । केवल आत्मस्थिति का आनंद खोना नही । २१८

गीता ३५

ऐसा यह अपना स्वधर्म, कष्टमय भी लगे, फिर भी इसीका ही आचरण अधिक हितकारी । २१९

और दूसरों का आचार दिखने में सचमुच अच्छा भी हो, फिर भी जो अपना है उसी का ही आचरण करना चाहिये । २२०

बताओ. शूद्र के घर में सर्व प्रकार की अच्छी- अच्छी रसोई तैयार हो, फिर दुर्बल होते हुए भी. ब्राह्मण वह सेवन कैसे करे । २२१

यह अयोग्य आचरण कैसे करें । जो मिलनेवाला नहीं उसकी इच्छा क्यों रखें । या इच्छा किया हुआ मिल भी गया तब भी विचार करना चाहिये । २२२

औरों के सुन्दर उज्ज्वल मकान देखकर अपनी झोंपड़ी क्या तोड़ दें । २२३

यह छोड़दो । अपनी पत्नी कुरूप भी हो फिर भी अपने संसार की दृष्टि से वह ही जैसे अच्छी होती है । २२४

इसी तरह से आचरण करने में कितना भी कठिन या कष्टदायक हो, फिर भी अपना स्वधर्म ही परलोक मे श्रेष्ठ माना जाता है । २२५

यह देखो, दूध और शक्कर, यह मिश्रण सचमुच प्रसिद्ध है ही । परन्तु वह ही, पेट में कृमिदोश हो. तो हानिकारक हो जाता है । फिर वह सेवन कैसे करें । २२६

फिर भी वह सेवन किया. तो हठ ही होगा । क्योंकि हे अर्जुन, वह परिणाम में हितकर होगा नही । २२७

इसीलिये दूसरो का जो विहितकर्म होगा, वह अपने लिये जब अयोग्य हो, तब उसका आचरण अपने हित की दृष्टि से ठीक नही । २२८

स्वधर्म का आचरण करते हुए जब मरण आ जाए तब इस लोक और परलोक मे. दोनों जगह, वह अच्छा ही माना जाता है । •२२९

ऐसा सब देवों के प्रमुख श्री कृष्ण जब बोले, तब अर्जुन कहने लगा · भगवान, मेरी एक विनती है । २३०

भगवन्, आपने जो कुछ कहा वह सब सचमुच मैंने पूरा सुन लिया । किन्तु अब मुझे जो चाहिये वह मैं पूछना चाहता हूँ । २३१

गीता ३६

महाराज, यह ऐसा कैसे होता है कि ज्ञानी लोगों की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है और स्वधर्म छोडकर. वे अन्य मार्ग को जाने हुए दीखते हैं । २३२

जो सर्वज्ञ होते हैं. जिन्हे स्वधर्म के उपायो की जानकारी होती है । वे भी परधर्म में किस कारण फँस जाते है ? २३३

बीज और भूसा अन्धे को समझना कठिन है. किन्तु कभी-कभी दृष्टिवान भी वैसा क्यों करने लगता है ? २३४

होता हुआ संग छोड़ते हैं किन्तु दूसरा संग-दोष लेने पर भी उनको तृप्ति नहीं होती। वनवास में भी जन-सम्पर्क छोड़ते नहीं। २३५

स्वयं छुपकर रहते हैं, सर्व प्रकार का पाप टालते हैं, फिर भी उसी में ही फँस जाते हैं। २३६

जीव को जिनकी घृणा है, वे ही अन्तःकरण में आकर चिपक जाते हैं। और जो टलाने का प्रयास करे, तो वे उसी को घेरते हैं। २३७

ऐसा जो बलात्कार से होता है, वह किस शक्ति का परिणाम ? अर्जुन कहता है, भगवान, यह अब बताओ। २३८

गीता ३७

तव हृदय-कमल में आराम करने वाला; निष्काम योगी जिसकी इच्छा करते हैं; वे श्री कृष्ण कहने लगे: अर्जुन, तुझे कहता हूँ, सुनो। २३९

अरे, ये काम, ये क्रोध, ऐसे हैं कि जिनके पास कृपा का अंश भी नहीं। इनको कृतांत कहते हैं। २४०

ये ज्ञाननिधि के पास रहने वाले भुजग हैं। विषय-गुफा में के बाघ हैं। भक्तिमार्ग में घात करने वाले डाकू हैं। २४१

ये देह-किले के पत्थर हैं। इन्द्रिय-गाँव में खुले छोड़े हुए सांड हैं। इनका इस दुनिया में अज्ञान का बलवा चलता है। २४२

ये मन का रजोगुण हैं। आसुरी सम्पत्ति का उद्‌गम स्थान हैं। और इनका पालन-पोषण अज्ञान ने किया हुआ है। २४३

सच देखा जाए, तो ये रजोगुण के हैं, किन्तु तम को बड़े प्रिय हैं। उसने प्रमाद और मोह, ये अपने गुण, इन काम-क्रोध को दे दिये हैं। २४४

ये जीवन के बैरी हैं, इसलिये मृत्यु के नगर में बडे प्रतिष्ठित माने जाते हैं। २४५

जिनकी भूख के लिये यह सारा विश्व एक ग्रास जितना भी नही उनका सब कारोबार आशा चलाती है। २४६

सहज कौतुक से मुट्ठी दबा ली, तो चौदह भुवन भी जिसको कम लगते हैं; ऐसी भ्रांति, इनकी प्यारी छोटी बहन है। २४७

वह, त्रैलोक्यरूपी खेल-रसोई, खेल में ही खा लेनी है। तृष्णा उनके दासी पद के सम्मान से रहती है। २४८

यह छोड़ो। मोह उनको मानता है। अहंकार जो सर्व विश्व को अपने कंधों पर नचाता है, उसका इनके साथ लेन-देन चलता है। २४९

उस अहंकार ने सत्य को खोखला करके उसमें दुष्कृत्य का भूसा भर दिया और दम्भ तैयार कर दिया। वह दम्भ इन काम-क्रोधो ने इस जग में आगे बढ़ाया। २५०

इन्होंने शान्तिदेवी की लज्जा लूटी। अकुलीन माया को सजाया, और उससे साधुजनों को अपवित्र किया। २५१

इन्होंने विवेक को सताया। वैराग्य की चमड़ी उतारी, और निश्चय का गला घोट दिया। २५२

इन्होंने संतोषवन काट डाला। धैर्य के किले तोड़ दिये। और आनन्द का अंकुर उखाड़कर फेंक दिया। २५३

इन्होंने आत्मबोध के पौधे नष्ट किये। सुख की भाषा मिटा दी। और अन्तःकरण में त्रिविध ताप के अंगारे फैला दिये। २५४

जब शरीर बन गया तभी से ये बन गए, और जीव के साथ रहने लगे। किन्तु ब्रह्मादिकों को ढूढकर भी मिलते नहीं। २५५

ये चैतन्य के सःवासी; ज्ञान के साथ ही बैठे हुए होते हैं; इसीलिये महामारी में निकले हुए इन्हें संभालना कठिन। २५६

ये बिना पानी डुबाते हैं। अग्नि बिना जलाते हैं। और बिना चेतावनी प्राणीमात्र को घेर लेते हैं। २५७

ये शस्त्र बिना हमला करते हैं। डोरी बिना जकड़ते हैं। और ज्ञानी लोगों को शर्त लगाकर मारते है। २५८

ये कीचड़ के बिना फँसाते हैं। जाल के बिना अटकाते हैं। और ये अन्दर के होने के कारण किसी के हाथ नहीं आते। २५९

गीता ३८

जैसे चन्दन के तने में साँप घेरकर रहता है। या गर्भ को जैसे गंदगी की थैली लिपटी रहती है। २६०

या प्रकाश बिना सूर्य, धुएँ बिना अग्नि, व धूलि बिना दर्पण, कभी भी होते नहीं। २६१

इसी तरह से इनसे मुक्त अकेला ज्ञान, हमने तो कभी देखा नहीं। जैसे बीज, भूसे में अटका हुआ ही होता है। २६२

गीता ३९

वैसा, ज्ञान तो शुद्ध ही है। किन्तु इन्होंने उसको रोककर रखने के कारण, वह कठिन हो गया है। २६३

पहले इनको जीते, फिर वह ज्ञान मिल जाता है। किन्तु इन काम-क्रोधों की पराजय होती ही नहीं। २६४

इनको स्वाधीन करने में जो अंग में शक्ति लाए, वह अग्नि को ईन्धन। ऐसा ही होता है। २६५

गीता ४०

ऐसे जो उपाय करें वे उल्टे इन्हीं को उपयोगी होते हैं। इसीलिये हठयोगियों को भी इन्होंने इस जग में जीता है। २६६

इनको जीतना कठिन है ऐसा जो कहा, तो एक अच्छा उपाय है, जो तू कर सके तो देख। मैं तुझे कहता हूँ। २६७

गीता ४१

इनका पहला आश्रय इन्द्रियाँ होती हैं। और यहाँ से ही प्रवृत्ति कर्म को जन्म देती है; इसीलिये पहले इन इन्द्रियो को ही पूरा रोककर रखो। २६८

गीता ४२

इन्द्रियाँ दबाकर रखी तो मन की दौड़ रुक जाएगी, और बुद्धि का बन्दीवास समाप्त हो जाएगा। ऐसा हो गया तो इन पापी शक्तियों का आश्रय नष्ट हो जाएगा। २६९

गीता ४३

ये एक बार अन्त:करण से बाहर निकले, कि इनका नाश निश्चित है, ऐसा समझलो। जैसा सूर्य-किरण जाने के बाद मृगजल रहता ही नहीं। २७०

वैसे ये काम-क्रोध जब नष्ट हो जाएँगे तो फिर ईश्वर-प्राप्ति का स्वातंत्र्य हाथ में आएगा। फिर प्राणी अपने आप ही आनंद में रहेगा। २७१

गुरू-शिष्य का यह रहस्य माने जीव-शिव की भेंट ही समझलो। यहाँ तू स्थिर हो जा, और यहाँ से कभी उठो ना। २७२

ऐसा सकलसिद्धों का राजा, देवी लक्ष्मी का पति, देवों का देव, श्री कृष्ण बोला। राजा सुनो। २७३

अब फिर वह अनन्त और एक पौराणिक कथा कहेगा। उस पर अर्जुन फिर प्रश्न करेगा। २७४

उस श्री कृष्ण के बोल का महत्व क्या बताऊँ; वहाँ रसवृत्ति का कलश चढ़ेगा. और उससे श्रोताओं को श्रवण-सुख का स्वर्ग मिलेगा। २७५

श्रीनिवृत्तिनाथ का ज्ञानदेव कहता है, हे संतजन, आप ध्यान को पूरा ऊपर उठाकर श्रीहरि और अर्जुन के श्रेष्ठ संवाद का आनंद लूटो। २७६

इति-

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय ३

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुन बोला :

हे जनार्दन, जब कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ, ऐसा आप मानते हो । तो हे केशव, मुझे क्यों घोर कर्म में लगा रहे हो ।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

ऐसे मिश्रित विचारो से मेरी बुद्धि को मोह मे क्यों डालते हो । वह एक निश्चित विचार कहो कि जो मेरे लिए कल्याणकारी हो ।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान बोले

हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक मे दो प्रकार की निष्ठा मैंने पहले बताई हुई है । सांख्यों की ज्ञानयोग से, और योगियो की कर्मयोग से ।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

कर्मारम्भ न करने से, मनुष्य को निष्कर्मता प्राप्त नही होती । और केवल कर्म-संन्यास से सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते ।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोई भी, कभी भी, कर्म न करते, क्षण-भर भी रह नही सकता । क्योंकि सब प्रकृतिजन्य गुणों के कारण, परवश हुए कर्म करते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

कर्मेन्द्रियों का संयम करके, जो मन में विषय का स्मरण करता रहता है, उस मंदबुद्धि का वह आचार मिथ्या समझा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

मन से इन्द्रियों का नियमन करके, हे अर्जुन, जो अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आरम्भ करता है, उसका विशेष स्थान है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥

तुम नियत कर्म करते रहो। कर्म न करने से कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरी शरीरयात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार ॥९॥

यज्ञभाव छोड़कर, अन्य कर्म इस संसार में कर्मबंधन हो जाता है; हे कौन्तेय, उस अर्थ से, मुक्तसङ्ग होकर कर्म करो।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रथम, यज्ञ सहित प्रजा उत्पन्न करने के बाद, प्रजापति बोले कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग अपनी अभिवृद्धि कर लो। यह तुम्हारी इष्ट कामना पूरी करने वाला होगा।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इससे देवताओं को प्रसन्न करो, फिर वे देव आपको संतुष्ट करें। ऐसे परस्पर के समाधान से आप लोग परम कल्याण को प्राप्त कर लोगे।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा संतुष्ट हुए देव आपको कल्याणकारी भोग दे देंगे। उन भोग्य वस्तुओं को, देवताओं को अर्पण करे बिना जो उपभोग लेगा, उसे चोर मानते हैं।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

यज्ञ-शेष का सेवन करने वाले सज्जन पुरुष, सर्व दोष से मुक्त हो जाते हैं । जो लोग केवल अपने लिए पाकसिद्धि करते हैं, वे पापी लोग पाप ही भक्षण करते हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्न से भूतमात्र बनते हैं । पर्जन्य से अन्न उत्पन्न होता है । और यज्ञ से पर्जन्य होता है । और यज्ञ, कर्म से प्रगट होता है ।

कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगत ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

और कर्म, ब्रह्म से उत्पन्न होता है, ऐसा जान लो । और ब्रह्म का उगम, अक्षर से है । इसीलिए सर्वव्यापी ब्रह्म, यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है ।

एवं प्रवर्तितं चक्र नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

हे पार्थ, ऐसा यह चक्र चलता रहता है । इसका जो अनुसरण नहीं करता, और जो इन्द्रियों में ही रममाण रहता है, उस पापी का जीवन ही व्यर्थ है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

परन्तु, जो मनुष्य अपने मे ही रत रहता है ; जो अपने में ही तृप्त रहता है; और अपने में ही सतुष्ट रहता है, उसे कुछ कार्यबन्धन नहीं रहता ।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

इस लोक में उसे, किए हुए का भी कोई अर्थ नहीं, न ही न किए हुए का । वह सर्वभूतों में किसी कारण भी आश्रित नहीं ।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

इसीलिए अनासक्त होकर, सतत कर्म कार्य करते रहो । अनासक्तकर्माचरण करने वाला पुरुष परम प्राप्ति करता है ।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

क्योंकि ऐसे कर्म से ही जनकादिकों को परमसिद्धि प्राप्त हो गई। लोकसंग्रह में भी दृष्टि रखकर कर्म करना योग्य है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

जो-जो आचरण श्रेष्ठ पुरुष करता है, सामान्यजन भी वैसा ही करते हैं। वह जो प्रमाण करता है लोग भी उसी का ही अनुसरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे अर्जुन, इस त्रैलोक्य में मुझे कर्तव्य , ऐसा कुछ भी नहीं! मुझे कुछ प्राप्त करना, अथवा मुझे प्राप्त नहीं, ऐसा भी कुछ नहीं। फिर भी मैं कर्म करता रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

जब मैं कर्म करने में कभी अदक्षता से रहूँ , तो हे अर्जुन, लोग भी सर्व प्रकार से उसी मार्ग का अनुसरण करेंगे।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

मैं कर्म न करूँ तो ये सर्व लोक भ्रष्ट हो जाएंगे, और इस भ्रष्टता का व लोगों के विनाश का मैं करने वाला होऊँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

जैसे कर्म में अज्ञानी, सक्त होकर कर्म करता है। उसी तरह से अनासक्त हुआ ज्ञानी पुरुष, लोकसंग्रह-हेत, कर्म करे।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अज्ञानी कर्मसंगियों का बुद्धि भेद न करे। विद्वान लोग स्वयं सर्व कर्मों में युक्त आचरण करके उन्हें उत्साहित करें।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

सर्व कर्म प्रकृति के गुणों से होते रहते हैं। अहंकारी अज्ञानी मैं कर्ता ऐसा मानता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परन्तु हे महाबाहु , गुण व कर्म , इनका विभाग, तत्व से जानने वाला; गुण, गुणो में प्रवृत्त रहते हैं, ऐसा जानकर अलग रहता है।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

प्रकृतिजन्य गुणो के कारण भूले हुए लोग, गुणकर्मों में जुटे हुए रहते हैं। सर्वज्ञ पुरुष ने उन अजान मन्दबुद्धि पुरुषों को, विचलित नहीं करना चाहिए।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अध्यात्मिक अन्तः करण से सर्व कर्मों को मुझमें छोडकर निरिच्छ ममत्व-रहित और ताप-मुक्त होकर युद्ध करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो श्रद्धावान व निर्मल अन्तःकरण वाले मनुष्य यह मेरा मत नित्य अनुसरण करते हैं , वे भी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

किन्तु जो दूषित दृष्टि वाले लोग यह मेरा मत अनुसरण नहीं करते, ऐसे सर्वज्ञानों में मूर्ख लोगों को, सर्वनाश हुए, अचेत, ऐसा जान।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

ज्ञानी पुरुष भी अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करते रहते हैं। सर्व भूतमात्र प्रकृति अनुसार चलते रहते हैं । फिर वहाँ निग्रह क्यों करे।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इन्द्रिय व इन्द्रियों के विषयों में राग या द्वेष मूलतः ही स्थित हैं । इनके वश में न हो क्योंकि ये ही इस मार्ग में विघ्न डालने वाले हैं ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

प्रतिष्ठित, ऐसे परधर्म से , गुणहीन भी स्वधर्म श्रेयस्कर है । मरण तक स्वधर्माचरण करना, श्रेयकारी है । परधर्म भयकारक होता है ।

अर्जुन उवाच
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला :

हे वार्ष्णेय, फिर मनुष्य, इच्छा न होते हुए भी किस प्रेरणा से बलाधीन होकर पापाचरण करता है ?

श्रीभगवानुवाच
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान बोले :

रजोगुण से उत्पन्न हुए, यह काम, यह क्रोध ; इन महाभक्षी और महापापी को यहाँ बैरी समझो ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धुंए से, दर्पण मल से, या गर्भ जेर से आच्छादित होते हैं । इसी तरह से इन्होंने उसे घेर लिया है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कौन्तेय, ज्ञानियों के नित्य बैरी, इस कामरूप अतृप्य अग्नि ने ज्ञान आच्छादन किया हुआ है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, ये इसका आश्रयस्थान हैं , ऐसा कहते हैं । इन द्वारा ही ज्ञान आच्छादन करके, इसने मनुष्य को मोह में डाला हुआ है ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मान प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

इसीलिए हे अर्जुन तुम इन इन्द्रिय आदि को नियमन करके, ज्ञान - विज्ञान का नाश करने वाले इस पापी को निश्चयपूर्वक नष्ट करो ।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

इन्द्रियाँ तो श्रेष्ठ हैं ही । इन्द्रियों से मन श्रेष्ट है । मन से बुद्धि श्रेष्ठ है । बुद्धि से अतिश्रेष्ठ है, आत्मा ।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना :
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

हे महाबाहो, इसीतरह से बुद्धि से भी श्रेष्ठ जानकर अपनेको परमात्मशक्ति से बलवान करो, और इस कामरूप दुर्जय शत्रु का नाश करो ।

—इति—

अध्याय ६

आत्मसंयमयोग

फिर संजय ने राजा से कहा : श्री कृष्ण जो योग का रूप कहेंगे, उसके महत्व पर पूरा ध्यान दो । १

सहज ही श्री कृष्ण, अर्जुन को ब्रह्मरस का भोजन देने लगे है और वहाँ योग्य समय हम लोग अतिथि-जैसे पहुँचे हुए हैं । २

कैसी दैव की करनी है देखो कि प्यासा पानी पीने लगा, और सच देखा तो वह अमृत ही निकला । ३

ऐसी ही अवस्था आपकी और मेरी हो गई है । बिना कष्ट हमें यह तत्वज्ञान मिल रहा है । तब धृतराष्ट्र बोला: यह तुझसे किसने पूछा था ? ४

ये शब्द सुनकर संजय ने राजा का मन जान लिया, जो उसके पुत्र के प्रेम में अटका हुआ था । ५

यह जानकर वह मन मे हँसा और सोचने लगा कि यह बुड्ढा तो मोह-ग्रस्त है, नही तो इस समय संवाद कितना सुन्दर चल रहा है । ६

यह कैसे हो सकता है कि जो जन्मान्ध है उसको दिखने लगे । किन्तु वह क्रोध करेगा, इसलिये संजय के मन मे भय पैदा हो गया । ७

किन्तु संजय को अपने अतर में अत्यन्त सुख हो रहा था क्योंकि उसे कृष्णार्जुन संवाद सुनने को मिल रहा था । ८

उस आनंद के समाधान के कारण, अब वह जानते हुए अन्तःकरण से आदरपूर्वक बोल सकेगा । ९

यह गीता के छठवे अध्याय का बड़ा श्रेष्ठ प्रसंग है, जैसे कही क्षीरसागर में अमृत मिला हुआ हो । १०

इसमें गीता का पूरा अर्थ-सार आया हुआ है। यहाँ अमर्याद विवेक का सागर है। अनेक योगविद्या के वैभव का भंडार ही खुला हुआ है। ११

यह आदि-माया का विश्रांति स्थान है। यहाँ शब्दब्रह्म का बोलना बंद हो जाता है, और यहाँ से ही गीता की बेल में बहार आई हुई है। १२

यह छठा अध्याय साहित्य के सर्व गुणो के साथ कहा जाएगा इसलिये पूरा ध्यान देकर सुनो। १३

मेरे बोल मराठी हैं किन्तु उनके गुण क्या बताऊँ रसिकजन ! मैं ऐसे शब्दो में कहूँगा जो अमृत को ही होड़ मे जीतेंगे। १४

इन शब्दों की कोमलता के सामने, नाद के रंग फीके लगेंगे। और इनका आकर्षण ऐसा होगा कि सुगन्ध का महत्व रहेगा नहीं। १५

इन शब्दों की रसालता के लोभ से, कानो को जिव्हा आजाएगी। और इन शब्दों से इंद्रियों में आपस मे झगड़े होंगे। १६

सच देखा जाए तो शब्द तो कानों का विषय है। किन्तु जिव्हा कहेगी, नही यह मेरा रस है। नाक को इन शब्दों में सुगंध का अनुभव होगा। और वह वैसा होगा भी। १७

इन बोलों की रेखावली का आश्चर्य देखो, इनको देखते ही आँखें अपने आप को धन्य मानेगी। वे कहेगी, यह तो रूप की खान ही खुली हुई है। १८

यहाँ संपूर्ण ओवी तैयार होते ही मन आनंद से बाहर दौड़ने लगेगा और शब्द अपने बाहु फैलाकर उसको आलिगन देने के लिये दौड़ेंगे। १९

ऐसी ये सर्व इंद्रियाँ अपने-अपने भाव से इस ओवी के ऊपर टूट पड़ेंगी, और वे बोल सबको आनंदित करेंगे। जैसे एक ही सूर्य सब जग को चेतना देता है। २०

उन शब्दों की व्यापकता भी असामान्य होगी । विचारवन्त रसिकों को उनमें चिंतामणि के गुण दिखाई देंगे । २१

अस्तू ! मेरे मराठी बोलों की अच्छी-अच्छी थालियाँ; उनमें मोक्षरस के पकवान रखकर, मैं निष्कामलोगों के भोजन की व्यवस्था कर रहा हूँ । २२

अब नित्यनूतन, ऐसा जो आत्मतेज है; उसका दिया जलाकर, इंद्रियों से छुपाकर, यहाँ जो भोजन करेगा उसी को ही इन शब्दों का उपयोग होने वाला है । २३

यहाँ श्रोताओं को श्रवण का आधार छोड़ना पड़ेगा और मन के व्यक्तित्व से उसका उपभोग लेना पड़ेगा । २४

सहज, शब्दों का कवच फाड़ ले, तो अंदर जाकर परब्रह्म को ही मिलोगे, और फिर परमोच्च सुख में रममाण हो जाओगे । २५

ऐसी संवेदनशीलता हो, तभी ये उपयोगी होंगे । नही तो यह सब मूक-बहरों की कथा होगी । २६

यह छोड़ो । श्रोताओं को सब बातें विशेष कहनी चाहियें, ऐसा नहीं है । जो निष्काम अन्तःकरण के है, उनका तो सहज अधिकार ही है । २७

जिन्होंने आत्मबोध के प्रेम से स्वर्ग-संसार ही उतारकर फेंक दिया, उनके सिवाय और कोई भी इसकी मिठास जानेंगे नहीं । २८

जैसे कौआ चन्द्र को जानता नही, वैसे अरसिक को यह ग्रंथ समझ में आने वाला नहीं । उस चन्द्र का शीतलपन समझने के लिये चकोर ही चाहिये । २९

ज्ञानियों को यहाँ स्थान है । अज्ञानीजन को यह अनोखा है, इसलिये उनको कहने के लिये यहाँ विशेष कुछ नहीं । ३०

मैं प्रसंग से यह विवंचना कर रहा हूँ, सज्जन यह सहन करें । अब श्री कृष्ण ने जो कहा. वह मैं कहता हूँ । ३१

जो मेरी बुद्धि को समझनें में कठिन हैं इसलिये शब्द में पकड़े नहीं जाएंगे । किन्तु श्रीगुरु निवृत्तिनाथ के कृपादीप के प्रकाश में मैं देख पाउंगा । ३२

जब ज्ञान को अतींद्रिय की सहायता मिले, तब जो दृष्टि को नहीं दीखता वह बिना दृष्टि भी दिखने लगेगा । ३३

धातुशास्त्र को जो कभी भी संभव नही, वह लोहे मे सोना पाना. दैवयोग से पारस हाथ आ जाए, तो हो जाएगा । ३४

इसलिए, सत्गुरू की कृपा हो. तो क्या नहीं होगा । और ज्ञानदेव कहते हैं, मुझे तो वह कृपा अपार मिली हुई है । ३५

इसीलिये मैं बोलूंगा. और बोल से अरूप का रूप दिखाउंगा । और जो केवल अतींद्रिय को ही संभव है, उसका उपभोग इंद्रियो से भी करवालूंगा । ३६

अब सुनो । यश, श्री औदार्य, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यह छ गुण वर्य जहाँ वास करते है, ३७

वे भगवान श्री कृष्ण, जो नि· संग पुरुषों के परम मित्र हैं, उन्होंने कहा : अर्जुन, अब ध्यानदो । ३८

गीता १

अर्जुन सुनो, कर्मयोगी और संन्यासी, दोनों एक ही हैं । उनको अलग-अलग न मानो । तुम विचार करोगे तो तुमको, वे दोनों एक हैं यह समझ में आएगा । ३९

यह दो नाम का आभास छोड़ दिया जाए, तब योग वही संन्यास । परब्रह्म प्राप्ति में दोनों ही में अन्तर नहीं । ४०

जैसा एक ही पुरुष को दो नाम से पुकारे, या दो अलग-अलग मार्गों से एक ही जगह पहुँच जाए । ४१

या एक ही पानी अलग-अलग बर्तनों में भरे, इसी प्रकार का योग और संन्यास का भिन्नत्व समझलो । ४२

अर्जुन, सब मत में इस जग में वही योगी है जो कर्म करके फल पर आसक्ति नहीं रखता । ४३

जैसे यह धरती अहम् भाव छोड़कर, वृक्ष सहज उगाती है, और वहाँ के फलों की इच्छा नहीं करती । ४४

उसी तरह वर्णाश्रम के आधार से अपनी अवस्था के अनुकूल ऐसे जो सहज करना पड़ता है, ४५

वह जो योग्य रीति से करता है, किन्तु अपने सिर पर उसका भार नहीं लेता, और उसकी बुद्धि भी फल तक नहीं पहुँचती । ४६

ऐसा जो होता है, वह ही संन्यासी । और अर्जुन, सुन लो, उसी को निश्चित रूप से योगी समझो । ४७

प्रसंगों से प्राप्त उचित कर्म को छोड़कर जो, कर्म बंधन छूट गया, ऐसा कहेगा, और तुरंत कोई अन्य कर्म करने लगेगा । ४८

जैसे एक चित्र धोकर उसी के ऊपर दूसरा चित्र बनाया जाए; ऐसे व्यवहार का जो दास होता है, उसका आदर्श ठीक नहीं । ४९

[illegible] ही सहज गृहस्थ आश्रम का बोझा सिर पर है ही । वही, संन्यास के [illegible] धारण करना है क्या ? ५०

इसलिये, अग्निसेवा न छोड़ते हुए, कर्म की मर्यादा न उल्लंघन करते हुए, सहज योगसुख अपने पास आ सकता है। ५१

गीता २

सुन लो, जो संन्यासी वही योगी। ऐसा अनेक शास्त्रों ने एक वाक्यता का ध्वज उभारा है। ५२

जहाँ संन्यास इतना भी संकल्प न हो, वहाँ ही योग का अर्थ स्पष्ट होगा। यह अनुभव से जिसको सत्य हुआ। ५३

गीता ३

इसीलिये हे अर्जुन, योग-पर्वत के शिखर तक जब पहुँचना हो, तब इस कर्म-मार्ग की सीढ़ी तू छोड़ना नहीं। ५४

उसी सीढ़ी से यम-नियमों के तल से निकलकर, आसनों की पैड़ी से प्राणायाम की अड़चन से ऊपर आना आरम्भ करो। ५५

फिरआगे का मार्ग प्रत्याहार का होता है, जिसपर बुद्धि के भी पाँव फिसलते हैं और हठयोगियों का भी निश्चय समाप्त होने लगता है। ५६

फिर भी अभ्यास की शक्ति से प्रत्याहारी की अवस्था अलग हो जाएगी। वैराग्य की पकड़ उसको मिलेगी और, ५७

फिर प्राणायाम के पठार पर वह पहुँचेगा। और धारणा के प्रसार से ध्यान का शिखर पीछे छूटते तक वह चलता ही रहेगा। ५८

इस मार्ग-आक्रमण में. प्रवृत्ति की हवस समाप्त हो जाएगी और साध्य व साधन, इनकी एकरूपता हो जाएगी। ५९

उस समय आगे की दौड़ और पीछे का स्मरण समाप्त हो जाएगा, और ऐसी साम्य अवस्था में समाधि अवस्था आ जाएगी। ६०

ऐसे उपायों से जो योग पर आरूढ़ हुआ सतत् यत्न करने से प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त होता है, उसके लक्षण का स्वरूप मैं तुझे बताता हूँ। ६१

गीता ४

जिसको इंद्रियों के घर में विषयों का बार-बार आना-जाना नहीं होता, और जो आत्मज्ञान की कोठरी में आराम करता रहता है। ६२

सुख और दुःख, अंग पर लिपट जाने पर भी, जिसका मन प्रभावित नहीं होता; और विषय भी पास में आकर बैठें, तो 'यह कौन है' ऐसी उत्सुकता जो नहीं दिखाता। ६३

इंद्रियाँ कर्म करते हुए ही जियेंगी, किन्तु अन्तःकरण में फल की इच्छा उत्पन्न नहीं होगी। ६४

ऐसा जो, देह मे रहते हुए, जागृत होते हुए भी, सोया हुआ मालूम होगा, वह ठीक तरह से योगारूढ़ है ऐसा समझ लो। ६५

तब अर्जुन ने कहा. हे अनंत, यह सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। ऐसी योग्यता उसको कौन देता है ? ६६

गीता ५

तब श्री कृष्ण हँसकर बोले: तेरा प्रश्न भी एक आश्चर्य ही नहीं क्या। इस अद्वैत अवस्था में कौन किसको क्या देता है। ६७

व्यामोह के बिछौने पर अविद्या के बल से जब मनुष्य निद्रित हो जाता है, उस समय वह जन्म मृत्यु का दुःखद स्वप्न देखता रहता है। ६८

बाद में प्रसंग से, जागने पर वह सब झूठ हो जाता है । ऐसा जो दृढ़ सद्भाव आता है वह भी उसी को ही होता है । ६९

इसीलिये अर्जुन झूठे देहाभिमान पर ध्यान देकर हम अपना ही घात करते रहते हैं । ७०

गीता ६

विचारपूर्वक अहंकार छोड़ो, तो मूलत: जो हम हैं, वह परब्रह्म ही हम हो जाएगें । इसमें अपना कल्याण स्वयं ही किया, ऐसा हो जाएगा । ७१

नहीं तो, रेशम के कीड़े समान, स्वयं ही अपने बैरी हो जाते हैं जब शरीर को उत्तम समझकर हम वहाँ ही आत्म बुद्धि रखें । ७२

दैवहीन पुरुष को प्राप्ति के समय कैसा अंधापन आ जाता है देखो, कि वह अपनी आँखें स्वयं ही बन्द कर लेता है । ७३

या जैसे कोई एकाध भ्रमिष्ट होने से, 'मैं चोर नही हूँ' ऐसा कहता है । उसी प्रकार जो वास्तविक नहीं. ऐसा छन्द वह अन्त:करण में लेकर बैठ जाता है । ७४

वैसे तो वह जैसा है वैसा ही होता है, किन्तु क्या करे उसको वैसी बुद्धि नहीं । देखो, स्वप्न में जो घाव लगता है, उससे कोई मरता है क्या ? ७५

जैसे तोते के अंग-भार से नलिका उलटगई, तो उसे छोड़कर, उसे उड़ना चाहिये । किन्तु क्या करें मन की शंका नही जाती । ७६

व्यर्थ ही गर्दन मोड़ता रहता है । डर के मारे नली के ऊपर अपने पंजे अधिक जकड़ लेता है । ७७

जैसे कोई किसी ने बांध लिया. ऐसी भावना की बेड़ी उसके पॉव में पड़ती है । और अपने. खुले हुए पॉवों के पंजे और अधिक जकड़ता है । ७८

ऐसा व्यर्थ ही वह कष्टी हो जाता है । अब बताओ, उसको किसी दूसरे ने बांधा है क्या ? वह आधा टूटे, तो भी नलकी नहीं छोड़ेगा । ७९

इसीलिये जिसने, गह देह संकल्प बढ़ा लिया होता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु बन ज़ाता है । जो आत्म-बुद्धि के होते हैं, वे, जो नहीं है वह अपने सिर पर लेते नहीं । ८०

गीता ६

गीता ७

जिन्होंने अपनी सर्व अन्तःकरण प्रवृत्तियाँ जीत ली हों, और जिनकी सर्व कामना शान्त हो गई हों, उनको परमात्मा उनसे बाहर कहीं दूर नहीं है । ८१

जैसे अशुद्धता निकलते ही सोना तो सोना ही है । इसी प्रकार से कामना जाने के बाद जीव तो ब्रह्म है ही । ८२

धट का आकार नष्ट होते ही अवकाश को आकाश में मिलने के लिये कोई अन्य जगह जाना नहीं होता । ८३

ऐसा यह मिथ्या देह-अहंकार जिसका सम्पूर्ण नष्ट हुआ हो, उसी में परमात्मा पहले ही समाया हुआ है । ८४

फिर शीत ऊष्ण यह भावना, सुख दुःख का ताप, या मान-अपमान की चुभन इत्यादि का उसमें समावेश नहीं रहता । ८५

जैसे जिस मार्ग से सूर्य जाता है वहाँ विश्व तेजोमय हो जाता है । उसी तरह उसके सामने जो-जो आता है, वह सर्व वह स्वयं ही तो होता है । ८६

देखो, बादलों से निकली हुई धारायें, जैसे समुद्र को चुभती नहीं । वैसे, शुभ-अशुभ कर्म उस योगेश्वर से अलग नहीं । ८७

गीता ८

यह जो विज्ञानात्मक भाव है, वह उसमे नही-सा हो गया होता है। फिर वह देखता है, तो वह स्वयं ही ज्ञान होता है। ८८

फिर व्यापक या एकदेशी, ये जो विवाद हैं, वे अपने आप मिट जाते हैं; क्योंकि उसका द्वैतभाव नष्ट हुआ होता है। ८९

जिसने अपनी इंद्रियो पर विजय पायी हो, वह देहधारी होते हुए भी परब्रह्म जैसा ही होता है। ९०

ऐसा जो जितेन्द्रिय होता है उसी को ही योगयुक्त कहते है। उसके जैसा श्रेष्ठ और कही दीखता नही। ९१

शुद्ध सोने का मेरु पर्वत या मिट्टी का ढेला, दोनों को वह समान मानता है। ९२

वह ऐसा निरिच्छ होता है, कि पृथ्वी का मोल भी थोड़ा लगे, ऐसे निर्मल अनमोल रत्न, उसे पत्थर-समान दीखते हैं। ९३

गीता ९

शत्रु या मित्र, उदासीन या सहाय करने वाला, वहाँ ऐसे विचित्र भेदभाव की कल्पना भी कैसे करें। ९४

"मैं स्वयं विश्व हूँ" ऐसा जिसको ज्ञान हो, उसको बन्धु कौन और बन्धन किसका, और द्वेष भी किसका। ९५

फिर उसकी दृष्टि में अधम, उत्तम, ऐसा कैसे होगा। पारस से तैयार किये हुए स्वर्ण का, कोई और प्रमाण करना पड़ता है क्या। ९६

वह जैसे उत्तम वर्ण का ही स्वर्ण करता है, इसी तरह से उसकी बुद्धि को सर्व चराचर में सदैव साम्यता का प्रकाश ही होता है। ९७

ये विश्व के जीव, समझो अलंकार के नमूने हैं। अनेक आकार के होते हुए भी वे, परब्रह्म. इस एक ही स्वर्ण के बने होते हैं। ९८

ऐसा श्रेष्ठ ज्ञान उसको पूर्णत्व से प्राप्त हुआ होता है। इसलिये वह इन आकार चित्रों में व्यर्थ फँस नहीं जाता। ९९

वह वस्त्र में देखे, तो चारों ओर तन्तों की ही सृष्टि दीखती है। उसके लिए इस सब में एकभाव सिवाय दूसरा भाव नहीं होता। १००

अनुभव से ही यह जानना होता है, ऐसा जिसका अनुभव है, वह ही समबुद्धि। ऐसा कहना गलत नहीं। १०१

उसका नाम तीर्थ-श्रेष्ठ है। उसके दर्शन से समाधान प्राप्त होता है। उसकी संगति में भ्रांत को भी ब्रह्मभाव आ जाता है। १०२

उसके बोलने से धर्म चलता है। उसके दर्शन से महासिद्धि उत्पन्न होती है। देखो, स्वर्गसुख आदि गोष्ठी, वे तो उसका खेल हैं। १०३

उसका सहज जो स्मरण करे, उसे भी वह अपनी योग्यता का करता है। इतना ही नहीं उसकी प्रशंसा करने वालों को भी लाभ होता है। १०४

गीता १०

आगे, कभी भी अस्त न होने वाला अद्वैत-दिन उसमें उदय हो जाता है। फिर वह अखण्ड आत्मस्वरूप में ही होता है। १०५

अर्जुन, ऐसी जिसकी विवेकदृष्टि होती है, वह तीनों लोक में एक ही एक होने की वजह से अपने आप ही अपरिग्रही हो जाता है। १०६

ऐसे प्राप्तपुरुष के श्रेष्ठ लक्षण, अपने श्रेष्ठत्व से श्री कृष्ण ने कहे। १०७

वह ज्ञानियों का ज्ञानी है, देखने वालों की दृष्टि का दीप है, और उस श्रेष्ठ पुरुष के संकल्प से ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है। १०८

ओंकार के बाजार में शब्दब्रह्म का महत्व बहुत फैल गया, किन्तु उस श्रेष्ठ पुरुष के यश के सामने वह अधूरा पड़ा, उसे व्याप्त कर नही पाया। १०९

जिसके आत्मतेज से चन्द्र-सूर्य के व्यापार में तेजी आई, इसलिये इस जग में उसको कोई सीमा नही। ११०

अरे, जिस भगवान के एक नाम की ओर देखो, तो गगन भी कुछ नही। उसके एक-एक गुण तुम क्या जानोगे। १११

इसलिये यह स्तुति अब मै बन्द करता हूँ। न जाने किस बहाने से मैं किसके लक्षण कहने के लिये बोलने लगा। ११२

द्वैत का नामोनिशान नष्ट हो जाए, ऐसी ब्रह्मविद्या [illegible] मे इसे कही जाए तो, अर्जुन लाडला है, यह अपना आनद नही-सा [illegible]। ११३

इसीलिये श्री कृष्ण ने वह अपना बोलना, परदे के पीछे [illegible] लिया, और उस आनंद को भोगने के लिये अपना मन अलग [illegible]। ११४

उन्हें विचार आया कि, जो मोक्षसुख के लिये दीन-सा हो गया, और जो सोहम् भाव की मर्यादा मे है, उसकी मेरे प्रेम को नजर लग जाएगी। ११५

अगर उसका अहम् भाव चला गया और वह [illegible] य, तो फिर मै अकेला क्या करूँ। ११६

जिसके देखते [illegible] दृष्टि [illegible] जाए, जिसके साथ मुँह खोलकर बोले या [illegible] आलिगन दे, ऐसा [illegible] कौन है। ११७

यदि उसका और मेरा ऐक्य हो जाएं, तो मेरे मन में न समाती हुई अच्छी गोष्ठी मैं किसके साथ बोलूँ। ११८

इसी करुणा से श्री कृष्ण ने अन्योक्ति का प्रयोग कर, अपने मन से उसको आलिंगन दे दिया। ११९

यह सुनने में थोड़ा-सा विचित्र तो है किन्तु ध्यान रखो, अर्जुन तो केवल श्री कृष्ण के सुख का मूर्तिमन्त रूप है। १२०

यह रहने दो, योग्य आयु के अन्तिम चरण में बांझ को कोई बच्चा हो जाए, फिर वह जैसे बहुत मोह से नाचने लगती है। १२१

ऐसा श्री कृष्ण को हो गया। मैं उनका उतावलापन न देखता, तो ऐसा कहता नही। १२२

श्री कृष्ण की इच्छा का कौतुक देखो : युद्ध क्या, और यह उपदेश क्या ! किन्तु श्री कृष्ण के सामने उनके प्रियतम का प्रेम नाचता था। १२३

चाहत तीव्र हो और लज्जा रहे। व्यसन हो और थकावट आ जाए। पागलपन हो और भुलाता नहीं। यह कैसे हो सकता है। १२४

संक्षिप्त में, अर्जुन, श्री कृष्ण की मैत्री का आश्रय स्थान था; या उनके सुख से सजे हुए मन का दर्पण था। १२५

ऐसा अर्जुन, महान, पुण्य-पवित्र, भक्तिबीज के लिये योग्यक्षेत्र था; इसीलिये श्री कष्ण की कृपा का पात्र हो गया। १२६

'आत्म निवेदन'. इस भक्ति की पूर्वावस्था, जो 'सख्य भक्ति'। अर्जुन इस अवस्था का अधिष्ठात्री देवता था। १२७

सामने स्वामी है फिर भी उसका गुणगान नहीं करता; दास की भूमिका लेता है। ऐसा करने वाला अर्जुन ही है, इसीलिये तो श्री कृष्ण को सहज ही प्रिय था। १२८

जो अत्यंत प्रेम से पतिभक्ति करती है, और जिसको पति भी मान देता है, ऐसी पतिव्रता का वर्णन पति से भी अधिक नहीं करना चाहिये क्या। १२९

इसीलिए अर्जुन की ही स्तुति करें, यह मेरे अन्तःकरण को अच्छा लगता है; क्योंकि त्रिभुवन का दैव उस अकेले को मिला हुआ है। १३०

जिसके प्रेम के कारण, अमूर्त ही मूर्त होकर आया, और उस पूर्ण को भी जिसका आकर्षण हो गया। १३१

उस समय श्रोता कहने लगे, क्या हमें भाग्य प्राप्त हुआ, देखो•। क्या यह बोलने की शैली है, कि जिसकी मधुरता नादब्रह्म को भी पराजित करके आई है। १३२

देखो, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। मराठी बोली ही ऐसी है कि उसके साहित्य रंग के अलंकार आकाश में प्रकट होने लगे हैं। १३३

ज्ञान-चांदनी में कैसी ताजगी है। भावार्थ कैसे शीतल हैं। और इसीलिये श्लोक-अर्थ का कमल कैसा प्रफुल्लित हो रहा है। १३४

मनोरथ को ऐसा श्रेष्ठत्व प्राप्त हो जाएगा, कि यह मराठीबोल सुनने की इच्छा निरिच्छपुरुष को भी हो जाएगी। यह बोल सुनकर श्रोतागण घायल हो गए और डोलने लगे। १३५

यह अवस्था निवृत्तिदास ने जानली और कहने लगे: अब ध्यानदो, पाण्डव-कुल में श्रीकृष्णदिवस उदय हुआ है। १३६

देवकी ने उदर में संभाला, यशोदा ने बड़े कष्ट से जिसे पाला, वह कृष्ण अंत में पाण्डव को उपयोगी हुआ। १३७

इसीलिये, कुछ दिन ठहर जाएँ और उचित समय देखकर उनकी प्रार्थना की जाए, ऐसा प्रश्न भी उस दैवी अर्जुन के मन मे आया नही। १३८

श्रोता कहने लगे, यह छोड़दो और शीघ्र कथा कहना आरम्भ करो। फिर अर्जुन मैत्रभाव से कहने लगा: भगवन्, यह संत-लक्षण मेरे अन्तःकरण में सचमुच स्थिर नहीं हो पा रहे हैं। १३९

वैसे इन लक्षणों का बीजात्मक सार जानने में मैं सचमुच अधूरा हूँ, किन्तु ध्यान रखना कि आपके कहने पर ही मैं पूरा हो जाऊंगा। १४०

भगवान आप मेरी ओर देखोगे तो मैं ब्रह्म हो जाऊँगा। आप जैसा कहेंगे, ऐसा अभ्यास करने में मुझे क्या अड़चन ! १४१

हॉ भगवान, आप किसके बारे में कह रहे थे, वह मुझे नहीं समझ आया। किन्तु अन्तःकरण में इच्छामात्र बढ़ रही है; ऐसा सर्वसिद्ध श्रेष्ठत्व किसे मिला होगा। १४२

यह मैं स्वयं हो सकता हूँ क्या, या आप स्वामी हैं आप मुझे वैसा करेंगे क्या ? तो श्री कृष्ण हँसपड़े और कहा: हाँ करूँगा। १४३

देखो, जब तक अन्तःकरण में संतोष उत्पन्न नहीं होता, तब तक ही सुख में बहुत अड़चन आती हैं। फिर संतोष उत्पन्न हो जाए तो सुख की क्या कमी होगी। १४४

जब परमेश्वर ही उस अर्जुन का साथी है, फिर तो सहज ही वह ब्रह्म हो जाएगा। उसके दैव की शक्ति से उसको अन्तर का समाधान कैसा मिल गया देखो। १४५

सहस्त्र जन्मों के पश्चात् भी जिसकी भेंट इंद्रादिकों को भी कठिन होती है, वह, अर्जुन को कितना अंकित है देखो, कि वह अर्जुन के पूछने की भी प्रतीक्षा करता नही । १४६

फिर सुनो ! मैं ब्रह्म हो जाऊँ, ऐसा अर्जुन ने कहा । वह सब कृष्ण जी ने ध्यान से सुना । १४७

उनके मन में ऐसा विचार आया, कि जब अर्जुन को ब्रह्म होने के दोहद तो लगे हुए हैं तो उसे बुद्धि के पेट में वैराग्य अवश्य होगा । १४८

परन्तु अभी दिन पूरे नही हुए । किन्तु वैराग्य-बसंत बहार में आने के कारण, सोहम् भाव के अंकुरों से वह सचमुच भरा हुआ है । १४९

इसलिये उसको प्राप्ति का फल मिलने में अब देर नही लगेगी । यह विरक्त हो जाएगा, ऐसा श्री कृष्ण जी को विश्वास हो गया । १५०

वे मन में सोचने लगे, जो-जो कुछ यह हाथ में लेगा वह इसको प्रारम्भ में ही प्राप्त हो जाएगा । इसलिये अभी इसको अभ्यास करने के लिये कहा तो यह छोड़ेगा नही । १५१

ऐसा विचार करके श्री कृष्ण उस समय बोले: अर्जुन, यह पंथराज अब ठीक तरह से समझलो । १५२

इस मार्ग में प्रवृत्ति-वृक्ष के तल में बैठे, तो अनेक निवृत्ति-फल दीखने लगते हैं । अभी भी इस मार्ग पर चलने वाले श्री शङ्कर हैं । १५३

किन्तु आरम्भ में जो योगी लोग अकेले उस आकाश के आढ़मार्ग से चल पड़े, और जहाँ अनुभव की पगडंडी बन गई; १५४

वे अज्ञान के सर्व मार्ग छोड़कर, आत्मबोध के उज्ज्वल मार्ग की ओर एकदम दौड़े । १५५

बाद में उस मार्ग से महाऋषि भी आ गए। साधक जो थे, वे सिद्ध हो गए। आत्मज्ञानी उसी मार्ग के कारण श्रेष्ठ हो गए। १५६

इस मार्ग का जब दर्शन हो जाता है, तब भूख. प्यास, मनुष्य भूल जाता है। और रात व दिन का भी विचार नही रहता। १५७

चलते-चलते, कदम-कदम पर मोक्ष की खान दिखने लगती है। और गलती से थोडा आढ़े मार्ग पर भी चला जाए, तो भी स्वर्ग-सुख तो मिलेगा ही। .१५८

अर्जुन, इस मार्ग पर निश्चय से चलते रहना चाहिये। फिर पूरब की ओर जाओगे तब भी पश्चिम के घर पहुँच जाओगे। १५९

इस मार्ग मे हम जिम गॉव को जाते हैं वह गाँव हम स्वयं ही बन जाते हैं। यह तुझसे कहने की आवश्यकता नही, तू जानता ही है। १६०

अर्जुन कहता है: भगवान. यह कब होगा यह तो बता दो। मैं उस इच्छा के समुद्र में डूब रहा हूँ। तुम मुझे नहीं बचाओगे क्या? १६१

उस पर श्री कृष्ण बोले: अरे! यह ऐसे अमर्याद बोलना क्यों? मैं स्वयं ही यही तो तुझे कह रहा हूँ, फिर भी तू पूछता तो है ही। १६२

गीता ११

अर्जुन, इसमें जो एक महत्व है. वह मैं तुम्हें अभी समझाता हूँ; किन्तु अनुभव के बाद ही उसका उपयोग होगा। इसीलिये, एक अच्छा स्थान देखना पड़ेगा। १६३

जहाँ ऐसा समाधान हो जाए कि वहाँ से उठने की इच्छा ही न हो, और जिसका दर्शन होते ही. वैराग्य बढ़ जाएगा। १६४

जहाँ संतमंडली रहती हो; समाधान को अवसर मिले; और मन में धैर्य का उत्साह बढ़े। १६५

जहाँ अभ्यास अपने आप होता रहेगा । जहाँ अन्तःकरण में अनुभव जागृत होने लगेगा। ऐसी रमणीयता जहाँ हो। १६६

अर्जुन, उस स्थान की दिशा की ओर जाते ही मनोरथ की तपस्या फलने लगेगी। और नास्तिक को भी उसमें आदर बढ़ेगा। १६७

जाते-जाते ही इस स्थान का दर्शन हो जाए, तो कामनावन्त भी वापस जाना भूल जाएगा। १६८

इसी तरह से, रहने के लिये जो न गया हो, उसे भी रहने की इच्छा हो जाएगी। और जो भ्रमणवान हो, वह भी वहाँ स्थिर हो जाएगा, और विरक्ति जागृत होगी। १६९

कोई श्रृंगारी राजा भी हो, तो वह स्थान देखते ही राज्य छोड़कर, वहीं शान्तता में रहने की इच्छा करेगा। १७०

ऐसा वह स्थल उत्तम और बहुत निर्मल हो कि 'अनुष्ठान के लिए बैठने की यही जगह' ऐसा अनुभव हो। १७१

और एक बात देखनी चाहिए कि वहाँ साधक रहते हों. पर वैसे ही आने-जाने वालों के पाँव से मलिन न होता हो। १७२

वहाँ अमृत-जैसे कंद-मूल भी हों, और सदा फलने वाले वृक्ष बहुत हों। १७३

जहाँ जगह-जगह ऐसे जलाशय हों जो वर्षा के दिनों में भी स्वच्छ रहें और स्वच्छ पानी के झरे निकट ही हों। १७४

जहाँ धूप भी ऐसी सौम्य हो, कि ठंड-सी मालूम पड़े। और वायु अति निश्चल हो। फिर भी मंद झोंके मान लेंगे। १७५

सामान्यतः वह शान्त हो और वन्य प्राणियों की भीड़ न हो। तोता व भृंग न हों तो अच्छा। १७६

पानी में तैरते हंस, दो-चार सारस पक्षी, और कभी-कभी आने वाली कोकिला हो, तो चल जाएगी। १७७

सदैव के लिये नहीं, किन्तु कभी-कभी आने वाले मोर हों, तो 'ना' नहीं। १७८

अर्जुन, ऐसा स्थान देखना चाहिये कि जहाँ कोई मठ या शिवालय हो। १७९

इसमें से जो पसन्द आए और जो अन्तःकरण को अच्छा लगे, ऐसा वह स्थल होना चाहिये। ऐसे स्थान पर एकांत में बैठना चाहिये। १८०

इसीलिये जहाँ बैठेंगे वह स्थान ऐसा है ना, और वहाँ मन स्थिर होगा ना, यह देखे। और हो, तो फिर ऐसे स्थान पर दृढ़ आसन रखे। १८१

आसन ऐसा हो, कि नीचे साबुत व सीधे दर्भांकुर, बीच में स्वच्छ धुली हुई कपड़े की घड़ी, और ऊपर उत्तम मृगासन हो। १८२

जो दर्भ हों, वे एक आकार के हों, और अपने-आप ठीक बैठ जाएँ ऐसे लगा लेने चाहियें। १८३

वह आसन अधिक ऊँचा न हो कि जिससे अंग हिलने का डर हो, और न बहुत नीचा हो कि जिसमें भूमिदोष लगे। १८४

इसलिये ऐसा न करे। वह मध्यम स्थिति का हो। अधिक मैं क्या बोलूँ, आसन ऐसा होना चाहिये। १८५

गीता १२

इसके बाद वहाँ एकाग्र अन्तःकरण से सद्गुरु का स्मरण करके अनुभव करना आरंभ करे । १८६

उस आदरयुक्त स्मरण से, अन्तर बाहर सात्विक भाव बढ़ना आरम्भ हो जाएगा । और, अहम् भाव की कठिनता कम होने लगेगी । १८७

विषयों को भूल जाएगा, इंद्रियों की हलचल बन्द हो जाएगी और अन्तःकरण में मन स्थिर होने लगेगा । १८८

ऐसा ऐक्यभाव सहजरूप से जबतक रहेगा, तबतक ही वहाँ रुकना चाहिये, और उसी अवस्था में आसन पर दृढ़ होजाना चाहिये । १८९

इसके पश्चात्, अपना शरीर ही शरीर को संभालने लगेगा । वायु को वायु ही शान्त करेगी । ऐसा अनुभव होने लगेगा । १९०

ऐसा सतत करने से प्रवृत्ति पीछे हटेगी, समाधि की पूर्वावस्था प्राप्त हो जाएगी और अभ्यास के श्रम समाप्त होने लगेंगे । १९१

गीता १३

अब मुद्रा का महत्व कहता हूँ, सुनो ! शरीर का भाग पिडली से चिपकाकर बैठा ले । १९२

दोनों पाँवों की एड़ियाँ आधारचक्र के नीचे दबाकर बैठा ले । १९३

दाहिने पाँव की एड़ी नीचे हो, और उसी से जोड़ की जगह दबाव दे । और बाद में बायीं एड़ी सहज ऊपर रख ले । १९४

अण्ड और मेण्ड के बीच जो चार उंगली जगह बचेगी, वहाँ एड़ी के ऊपरी भाग से शरीर को आधारित करके, जोर से दबा दे । १९६

शरीर का पृष्ठ भाग ऐसा उठाना चाहिये कि जो मालूम न पड़े । टखने भी ऐसे ही उठाकर रखने चाहियें । १९७

फिर अर्जुन, शरीर के माथे तक के सब भाग, स्वयं, सिद्ध अवस्था में होंने लगेंगे । १९८

अर्जुन, यह मूलबंध का लक्षण है, ऐसा समझो । इसी को ही 'वज्रासन' ऐसा भी एक सामान्य नाम है । १९९

ऐसी आधारमुद्रा संपन्न होने के बाद, नीचे का मार्ग बन्द हो जाएगा, और नीचे जाने वाली वायु अन्दर की ओर बहने लगेगी । २००

इसी अवस्था में दोनों हाथ आसानी से बाएँ पाँव के ऊपर बैठ जाएंगे, और कंधे थोड़े ऊँचे उठेंगे । २०१

ऊपरी भुजा उठने से, मस्तक का भाग नीचे बैठा-सा मालूम पड़ेगा, और आँखों की पलकें बन्द होने लगेंगी । २०२

ऊपर वाली पलक नीचे ढलेगी, और तल की तल में ही फूलने लगेगी । ऐसी अवस्था मे आँखें आधी खुली होंगी । २०३

अन्दर दबी हुई दृष्टि बाहर आने के प्रयत्न में, नासिका-अग्र पर टिक जाएगी । २०४

ऐसी वह अन्दर ही रह जाती है, और बाद में बाहर नहीं पड़ती । नासिका-अग्र पर ही स्थिर हो जाती है । २०५

उस अवस्था में चारों ओर देखे या रूप के पीछे लगे, ऐसी सब इच्छा स्वयं ही समाप्त हो जाती हैं । २०६

उसके बाद गले का भाग सिकुड़ जाएगा । ठोड़ी, हँसली के ऊपर दबकर बढ़ेगी, और फिर छाती पर बैठेगी । २०७

हँसली छुप जाएगी, और इसी तरह से जो ऊपर की ओर दबाव-सा पड़ेगा, उसको 'जालन्धरबंध' कहते हैं। २०८

नाभि फूलकर उभरती है, पेट अंदरकी ओर जाने लगता है, और हृदयकोश अंदर ही अंदर फूलने लगता है। २०९

यहाँ शिश्न के ऊपर और नाभि के नीचे, खिंचाव-सा हो जाएगा। अर्जुन, इसको 'वोढियाणाबंध' कहते हैं। २१०

गीता १४

इसी तरह से शरीर के बाहर अभ्यास की प्रखरता प्रगट होने लगेगी और अन्दर से मनोधर्म की हलचल बन्द हो जाएगी। २११

कल्पना शान्त होगी, प्रवृत्ति उठनी बन्द हो जाएगी, और शरीर व मन अपने आप विश्राम करेगा। २१२

भूख कहाँ गई, निद्रा का क्या हो गया, यह स्मरण भी नही रहेगा। और उनकी प्रबलता भी कम हो जाएगी। २१३

मूलबंध में दबी हुई अपानवायू वापस आएगी, और सकुंचित होने के कारण फूलने लगेगी। २१४

ऐसी प्रक्षुब्ध अवस्था में वह अनियंत्रणीय होकर जहाँ अटक गई हो वहाँ गुड़गुड़ाने लगेगी और मणिपुरचक्र के साथ बार-बार झगड़ने लगेगी। २१५

बाद में जब उस वायु की आंधी बंद हो जाएगी, तब उसकी शक्ति से सब भाग उछलकर, बचपन से रुकी हुई गन्दगी बाहर निकलेगी। २१६

अन्दर न मुड़ने के कारण, वह वायु, पेट में ही संचार करेगी, और कफ-पित्त का ठिकाना नष्ट करेगी। २१७

धातु के समुद्र को पार कर, मांस के पर्वत फोड़ेगी और शरीर के अंदर हड्डी के ऊपर की सब पेशी उखाड़ने लगेगी। २१८

नाड़ियाँ बन्द हो जाएंगी, अवयव ढीले हो जाएंगे, और साधक को घबराएगी। किन्तु घबराना नहीं चाहिये। २१९

पीड़ा पैदा करेगी और फिर स्वय ही शान्त करेगी, और शरीर के पानी व जड़पदार्थ का इकट्ठा मिश्रण करेगी। २२०

अर्जुन, दूसरी ओर आसन के ताप से कुंडलिनी शक्ति जागृत हो जाएगी। २२१

नाग का बच्चा कुम-कुम में नहाया हुआ, मोड़ लेकर सोया हुआ, जैसा हो। ऐसी ही वह होती है। २२२

वैसी वह कुंडलिनी, साढ़े तीन मोड़ लिये हुए, नीचे मुख करके सांप-जैसी सोई हुई होती है। २२३

बिजली की गुथी हुई। तह की हुई अग्निज्वाला। शुद्ध सोने की. २२४

जैसे ठोस ढली हुई हो, ऐसी वज्रासन से दबी हुई वह छोटली, जागृत हो जाती है। २२५

उस समय कोई नक्षत्र उलट जाए या सूर्य का आसन टूटे, या स्वयं तेज को ही अंकुर आया हो, २२६

ऐसी अपार तेजस्वी, वह अपने मोड़ छोड़कर कौतुक से अंगड़ाई लेने लगती है, और नाभिकन्द के ऊपर उठी हुई-सी दीखती है। २२७

एक तो बहुत दिन की भूखी, ऊपर से छेड़ने का निमित्त; फिर क्या! वह ऊपर दखकर बड़े आवेश से अपना मुँह खोलने लगती है। २२८

अर्जुन, फिर वह हृदयकोश के तले में जो वायु भरी रहती है, वह पूरी की पूरी अपने मुँह में डाल लेती है । २२९

अपने मुख से निकली ज्वाला, नीचे-ऊपर हिलाकर, मांस के टुकडे खाना आरम्भ करती है । २३०

जिस-जिस स्थान मांस रहा हो, वह भी खाने की लालसा रखती है । बाद में एक-दो ग्रास हृदय के भी खा लेती है । २३१

तलवे, हथेली, साफ करती है । और उसके ऊपर वाले भाग को छेदती है । और शरीर के प्रत्येक भाग के संधी कोने, पूरे झाड़कर साफ कर देती है । २३२

अपना आधार न छोडते हुए, नखों का भी सत्व निकाल लेती है । और चमडी, शरीर के पिजरे को लपेट जाती है । २३३

हड्डी की नलिका साफाचट्ट करती है । नाड़ियां भी चूस लेती है । उसी समय शरीर के ऊपर के रोम-रोमांच सूखे पड़ते हैं । २३४

शरीर के सप्तधातु का सागर पीकर, पूरे शरीर को सूखा बना देती है । २३५

नासिका से जो बारह उंगली हवा बाहर निकलती है, वह जकड़कर अन्दर करलेती है । २३६

उस समय नीचे वाली अपानवायु ऊपर दब जाती है, और ऊपर वाली प्राणवायु नीचे खिसकती है । उन दोनों के मिलन में, अष्टचक्र के केवल पल्ले ही रह जाते हैं । २३७

वैसे वह दोनों वायु उसी समय एकरूप हो जाती, किन्तु उनको देखकर कुंडलिनी बेचैन हो जाती है और कहती है, तुम यहाँ क्यों आए ? वापस जाओ । २३८

सुनो, शरीर में से सब पार्थिव धातु खाकर, समाप्त करती है । और जितने रस होते हैं, वे सब पीकर साफ करती है । २३९

ऐसे जब दोनों महाभूत खाती है, तब उसका सम्पूर्ण समाधान हो जाता है, और शान्त होकर सुषुम्ना नाड़ी के पास विश्राम करती है । २४०

वहाँ उस तृप्ति के आनंद में उसके मुँह से जो रस बाहर निकलता है, उसमें जो अमृत होता है, उस अमृत के आधार से प्राण जीवित रहता है । २४१

वह प्राण, आग से निकलकर अन्तर बाहर ठंडा होने लगता है । उस समय शरीर की गई हुई शक्ति, शरीर फिर धारण करने लगता है । २४२

नाड़ी का मार्ग बन्द हो जाता है, शरीर के धातु की ताजगी जाने के कारण शरीर के धर्म प्रकट नहीं होते हैं । २४३

इडा पींगला नाड़ियाँ इकट्ठी हो जाती हैं, और तीनों नाड़ियों की गाँठ खुल जाती है, और चक्रों के छः पल्ले खुले हो जाते हैं । २४४

फिर शशी और भानु ऐसा जिसको कहते हैं, वह वायु, सूत पकड़कर देखने के प्रयत्न से भी नहीं प्रगट होती । २४५

बुद्धि का स्वरूप नष्ट हो जाता है, और जो परिमल नाक में रहा हो, वह ही कुंडलिनी के साथ मध्यंमा में प्रवेश करता है । २४६

उस समय ऊपर वाला चन्द्रामृत का तालाब ढलाने से तिरछा होकर, कुंडलिनी के मुँह में प्रवाहित हो जाता है । २४७

वह रस उसके कंठ में न समाते हुए, बहने लगता है, और पूरे सर्वांग में प्रवेश करता है, और प्राणवायु जहाँ है वहाँ ही घुलजाती है । २४८

जिस तरह तपे हुए साँचे में मोम भरकर बहने लगता है, उसी तरह उस चन्द्रामृत-रस से वह भरी रहती है । २४९

शरीर के आकार में, त्वचा की ओढ़नी ओढ़े हुए, जैसे कोई प्रत्यक्ष तेज ही अवतरित हुआ हो। ऐसा लगता है। २५०

मेघ की ओढ़नी में जब सूर्य हो, तो वह ओढ़नी उतारने के बाद जैसा प्रकाश अनावर हो जाता है। २५१

वैसा, सूखा दिखने वाला त्वचा का भूसा, जब झड जाता है, २५२

तब उसकी अवयव-कान्ति की झलक, ऐसी दिखने लगती है कि जैसे केवल स्फटिक; या रत्नबीज को ही अंकुर फूटा हो। २५३

या तो संध्या-रग लेकर, उसका शरीर बना हो; या अंतर-ज्योति का लिग चमकने लगा हो: ऐसा प्रतीत होता है। २५४

कुम-कुम से भरा हुआ, सिद्धरस से ढला हुआ, ऐसा वह शरीर मुझे प्रत्यक्ष उवयव सहित शान्तिदेवी ही लगती है। २५५

या जैसे कोई प्रत्यक्ष आनन्द का रगीन चित्र या परमसुख की प्रतिमा, या समाधान-वृक्ष का पौधा उगा हो, २५६

या जैसे कोई स्वर्ण-चम्पा की कली, या अमृत का पुतला, या कोमलता का उद्यान जैसा बहार में आया हो। २५७

या शरदऋतु की नमी से भरा हुआ पूर्णचन्द्र बिम्ब, या मूर्तिमंत तेज ही आसन पर बैठा हुआ हो। २५८

जब कुंडलिनी चन्द्रामृत पान करती है, उस समय शरीर ऐसा हो जाता है। वह देहाकृति देखकर कृतान्त भी डरने लग जाए। २५९

वृद्ध अवस्था तो जाती ही है, किन्तु तारुण्य से भी भेंट नहीं होती। एकदम बाल-दशा ही प्रगट होती है। २६०

देखने में आयु तो छोटी, किन्तु शक्ति सामर्थ्य पूर्णरूप से प्रकट होता है। और धैर्य का महात्म्य तो अतुलनीय होता है। २६१

स्वर्णवृक्ष के पत्तों में सदा नई-नई रत्न कलियाँ हों, ऐसे सुन्दर नए नख आने लगते हैं। २६२

दाँत भी नए आते हैं, और वे छोटे-छोटे होते हैं। जैसे दोनों ओर कोई रत्नों की पंगत बैठी हो। २६३

शरीर के ऊपर रोमांच की नोकें ऐसी दीखती हैं कि जैसे माणिक के छोटे-छोटे कण हों। २६४

हथेली और तलवे, जैसे कोई रक्त-कमल। और आँखों के तेज का तो क्या बोलूँ। २६५

अड़चन में फँसा हुआ मोती, सीप में न समाने के कारण, सीप का जोड़ जैसे खोलने लगता है। २६६

वैसे ही आँखो की पलकों में दृष्टि न समाते हुए, बाहर झाँकने लगती है। और आधी खुली होने पर भी, पूरा आकाश घेर लेती है। २६७

देखो, देह तो स्वर्ण-जैसा दीखता है, किन्तु हल्कापन वायु-समान होता है। और आप व पृथ्वी का अंश भी नहीं। २६८

समुद्र-पार का दर्शन होता है, स्वर्ग की ध्वनि सुनने में आती है और चींटी का मनोरथ ज्ञात होता है। २६९

वायु के घोड़े पर बैठ घूमता है। पानी के ऊपर चलता है, फिर भी पानी को पाँव स्पर्श नहीं होता। ऐसी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ, उस योगी को प्राप्त होती हैं! २७०

अब कुंडलिनी की अवस्था सुनो। वह प्राण का हाथ पकड़कर, गगन की पैड़ी बनाकर, मध्यमा की सीढ़ी से हृदयाकाश में प्रवेश करती है।२७१

वह कुंडलिनी, जगदम्बा। चैतन्य चक्रवर्ती का सौन्दर्य। जिन्होंने विश्व-बीज के अंकुर पर छाँव की थी। २७२

जो शून्यलिग की पिन्डी। परमात्मस्वरूप शिव का करण्डक। और जो निःसंदेह प्राण की जन्मभूमि ही है। २७३

वह कुंडलिनी हृदय-आकाश में आने के बाद, अनाहत नाद से चल-विचल होने लगती है। २७४

उसके अंगस्पर्श से बुद्धि को चैतन्य प्राप्त हुआ था, इसी कारण वह नाद अस्पष्ट सुनने में आता है। २७५

जयघोष की फलक पर, ओंकार की लिपि मे, जिसके नादचित्र चित्रित हैं। २७६

ऐसी कल्पना से, उस नाद का स्वरूप समझ मे आ सकता है। किन्तु यह कल्पना करें कैसे। वह गर्जना किसकी है। पता नहीं लगता। २७७

अर्जुन, तुझे कहना भूल गया। जब तक वायु होती है, तब तक गगन मे शब्द उमड़ते हैं। इसलिये वह अनाहत नाद गूंजता है। २७८

उस अनाहत नाद की मेघगर्जना से आकाश दुम-दुमने लगता है। तब उस समय ब्रह्मस्थान का रहस्य सहज ही खुल जाता है। २७९

अर्जुन सुनो, कमलगर्भ के आकार का एक दूसरा महदाकाश है। जहाँ प्राण अध्यान्तर अवस्था में रहता है। २८०

उसको वह परमेश्वरी कुडलिनी हृदय-आकाश के परिसर में तेज का भोजन खिलाती है। २८१

बुद्धि की सब्जी हाथ से खिलाकर, उसे द्वैत न रह जाए, ऐसा करती है । २८२

इसी तरह से वह कुंडलिनी अपनी निज कान्ति देकर, केवल प्राण ही हो जाती है । उस समय वह कैसी लगी, कैसे कहूँ । २८३

तो, केवल पवन की पुतली जो सुनहरी चादर ओढ़ी हुई थी, चादर उतार कर, जैसी दिखे । २८४

या दीप की दृष्टि वायु से झगड़ने के कारण, जैसे चमककर नष्ट होती है । या बिजली कौंधकर, आसमान में लुप्त हो जाती है । २८५

हृदयकमल के ऊपर वह कुंडलिनी, जैसे कोई सोने की सरिता या प्रकाश-जल का स्त्रोत बहकर आया, ऐसी दीखती थी । २८६

और हृदयभूमि के पोलेपन में वह झरा एकदम लुप्त हो जाता है और इसी तरह उस शक्ति का रूप शक्ति में ही विलीन हो जाता है । २८७

उस समय भी उसको शक्ति कहते हैं, नहीं तो केवल वायु होता है । और उस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति, ऐसा रहता ही नहीं । २८८

मन का निग्रह करना, प्राणवायु पकड़कर रखना या ध्यानधारणा करना. इनकी आवश्यकता रहती नहीं । २८९

कल्पना करनी न करनी, ये अवस्था रहती नहीं । माने पंचमहाभूतों का सम्पूर्ण लोप होता है । २९०

इसी को ही नाथ संप्रदाय में पिंड से ही पिंड का ग्रास होना, ऐसा कहते हैं । ऐसा सहज ही श्री कृष्ण बोल गए । २९१

और मैंने भी, श्रोतागण अच्छे ग्राहक हैं, ऐसा देख. इस संकेत की गठड़ी खोल दी और यथार्थ की घड़ी झाड़कर दिखाई । २९२

गीता १५

सुनो, जहाँ शक्ति का तेज नष्ट हुआ, उसी समय उस योगी के देह का स्वरूप भी लुप्त हो जाता है । फिर वह जग की आँखों को दिखता नही । २९३

वैसे तो वह पहले जैसा ही सावयव होता है, किन्तु जैसा वायु का गढ़ा हुआ हो, ऐसा उसका देह हो जाता है । २९४

या करदली का पारदर्शी गाभा आधार छोड़कर जैसे खड़ा हो जाए, या आकाश को ही अवयव पैदा हो जाएँ, ऐसा वह लगता है । २९५

ऐसा शरीर जब हो जाता है उस समय उसको 'खेचर' कहते है । ऐसे रूप को सामान्यजन चमत्कार मानते हैं । २९६

देखो, साधक निकल जाता है; और पीछे पाँव के चिन्ह रहते हैं । वहाँ जगह-जगह अणिमादिक सिद्धियाँ प्रगट होती हैं । २९७

किन्तु अर्जुन, इससे अपने को क्या काम । इसी प्रकार से देह में ही भूतत्रय का लोप हो जाता है । २९८

जल, पृथ्वी को घोलता है । जल को तेज नष्ट करता है । और तेज को पवन, हृदय में विलीन करता है । २९९

और फिर योगी अकेला रह जाता है, और वह भी शरीर के आधार से । अन्त में, वह भी गगन में विलीन हो जाता है । ३००

इस समय 'कुंडलिनी' यह भाषा भी समाप्त हो जाती है और 'मारुत' नाम हो जाता है । फिर भी जब तक शिव में मिलन नहीं हो जाता, तब तक उसे शक्ति ही कहते है । ३०१

बाद में वह जालंधरबंध तोड़कर तालुस्थान को भेदकर, मूर्धनी आकाश के पहाड़ पर जाकर रहती है । ३०२

वहाँ से ओंकार की पीठ पर पाँव रखकर उठती है. और पश्यंती वाणी की पैड़ी को भी पीछे छोड़ देती है । ३०३

आगे, ओंकार को रही हुई अर्ध मात्रा भी मूर्धनी आकाश में समाविष्ट हो जाती है । जैसे सागर में सरिता । ३०४

बाद में ब्रह्मरंध्र के स्थान पर विश्राम कर, कुंडलिनी सोहम् भाव की बाहें फैलाकर, परमात्मलिंग को दौड़कर आलिंगन देती है । ३०५

उस समय पंचमहाभूतों का परदा हट जाता है और शक्ति और परमात्मा, इनकी एकरूपता हो जाती है । उसी मिलन में गगन के साथ सब का लोप हो जाता है । ३०६

जैसे समुद्र अपने मेघमुख से प्रवाहित हो जाता है और प्रवाहरूप से फिर अपने को ही आकर मिल जाता है । ३०७

इसी तरह से अर्जुन, देह के कारण जीव व शिव, इनका मिलन हो जाता है । वह मिलन सागर और सरिता जैसा रहता है । ३०८

अब सचमुच कुछ द्वैत रहा क्या । अथवा प्रथम से एक ही है । ऐसा विचार करने योग्य भी कुछ नहीं रहता । ३०९

गगन में गगन का ही लय, ऐसी जो अवस्था है, वह अनुभव से जिसकी हो जाती है, वह फिर वह अवस्था ही होकर रहता है । ३१०

इसीलिए उस अवस्था का जो महत्व है, वह वाचा की पकड़ में भी आता नहीं, तो संवाद के गाँव में कैसे आएगा । ३११

अर्जुन, जो वाणी वह महत्व कहने का गर्व करेगी, वह वाणी उस अवस्था से बहुत दूर है ऐसा जानो । ३१२

भृकुटी के पीछे, मकार को भी जहाँ अवसर नही, वहाँ अकेले प्राण को मूर्धनी आकाश मे आना कठिन था। ३१३

बाद में वह जब वही मिल गया, तब शब्ददीप बुझ गया, और आकाश का भी लय हो गया। ३१४

अब महाशून्य के डोह में जहाँ गगन को भी स्थान नही वहाँ इन बोलो को भी कुछ आधार मिलेगा क्या। ३१५

इसीलिए, शब्द से कह सकेगे या सुनकर समझ आए, ऐसी वह अवस्था नही। यह त्रिवार सत्य है। ३१६

जो कभी दैवयोग से इसका अनुभव ले सके, वह स्वय ही यह अवस्था हो जाता है। ३१७

आगे जानना तो रहता ही नही। इसलिये अर्जुन, यह अनावश्यक भाषण कहाँ तक बोलता रहूँ। ३१८

ऐसा शब्दजात पीछे हट जाता है। सकल्प समाप्त हो जाता है। विचार की वायु भी जहाँ प्रवेश नही करती। ३१९

वह अवस्था एक मन-रहित अवस्था का सौन्दर्य है। या, तूर्या अवस्था का तेज है। वह अनादि अगम्य है। वह ही परब्रह्म है। ३२०

जहाँ आकार का प्रात मोक्ष का एकान और आदि व अन्त, सब नष्ट हुए होते हैं। ३२१

जो विश्व का मूल, योगवृक्ष का फल, केवल आनन्दमय और चैतन्य है। ३२२

जो पचमहाभूत का बीज है, महातेज का तेज है, या अर्जुन, वह मेरा निज स्वरूप है। ३२३

नास्तिकों ने मेरे भक्तजनों को छला। यह देखकर जो कीर्ति सगुण रूप हो गई, वही यह मेरी चतुर्भुज मूर्ति। ३२४

ऐसे महासुख प्राप्ति के लिये जिन के सर्व यत्न होते हैं, वे महापुरुष स्वयं ही अनिर्वाच्य महासुख हो जाते हैं। ३२५

जो मैंने यह साधन कहा, वह जिनका देह-धर्म हो गया; वे मेरे जैसे ही पूर्णत्व को प्राप्त होते हैं। ३२६

परब्रह्म के रस से देहाकृति के आकार में ढले हुए हों, ऐसा उनका शरीर दीखता है। ३२७

ऐसी प्रतीति जब अन्तःकरण में उत्पन्न हो जाएगी तब यह सम्पूर्ण विश्व समाप्त-सा हो जाएगा। यह सुनकर अर्जुन कहता है कि सचमुच यह ऐसा ही है। ३२८

देव! यह जो उपाय आपने मुझे कहा वह प्राप्ति का स्थान है, इसीलिये किया जाता है। ३२९

इस अभ्यास में जो निश्चयी होते हैं वे निश्चित ही ब्रह्मपद को प्राप्त करते है। यह आपने कहा तो मुझे मालूम पड़ा। ३३०

भगवान, यह गोष्ठी सुनते ही अन्तःकरण में ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर प्रत्यक्ष अनुभव के बाद तद्रूपता क्यों नहीं आएगी। ३३१

निश्चित ही यहाँ कुछ अन्यथा नहीं। किन्तु क्षणभर मैं जो बोल रहा हूँ, उस पर आप ध्यान दें। ३३२

हे श्री कृष्ण, जो आपने अभी मुझे योग कहा, वह मन को तो बहुत अच्छा लगा। किन्तु जो योग्यता में पंगु हो, तो वह कर नहीं पाएगा। ३३३

किन्तु सच ही, जितनी योग्यता हो उसी प्रमाण में भी सिद्धि प्राप्त हो जाए, तो वही सुखदायी है, इसीलिये मैं अभ्यास करूंगा। ३३४

या जैसा भगवान ने कहा, वैसा हमें साध्य न हुआ, तो योग्यता न होते हुए भी कैसे साध्य हो जाए, बताइये। ३३५

मेरे अन्तःकरण में यह भाव प्रगट हुआ, इसलिये मैं पूछ रहा हूँ। कृपया आप ध्यान दें। ३३६

हाँ भगवन्, यह मेरी समझ में आ गया कि आपने जो यह साधन मुझे बताया वह जिसको अच्छा लगे, उसी को ही अभ्यास से साध्य होगा। ३३७

या योग्यता के सिवाय नही बनता, ऐसा कुछ सचमुच है क्या ? श्री कृष्ण बोले : हे धनुर्धर, नही तो क्या। ३३८

मोक्ष प्राप्ति के बारे में यह ऐसा है मैं मानता हूँ, किन्तु और दूसरे सामान्य कार्य भी अधिकार के बिना क्या सिद्ध होते हैं ? ३३९

और जिसको योग्यता कहते है वह तो प्राप्ति के हाथ मे ही है, ऐसा जानो। क्योंकि जो योग्यता से किया जाए, वह आरम्भ से ही फलरूप होता है। ३४०

किन्तु इसमें कोई ऐसा निश्चित भाव नही। और देखो, जिनको योग्यता हो, ऐसे योगियों की कोई खान होती है क्या ? ३४१

देहधर्मी भी, समझो विरक्त हो गया, उसने मन का नियमन कर लिया, तो वह अधिकार के लिए योग्य नही क्या ? ३४२

अरे, तुझमें इतनी योग्यता, ऐसा करोगे तभी आ जाएगी। यह कहकर श्री कृष्ण ने अर्जुन की उस समय की अडचन दूर कर दी। ३४३

बाद में श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं: जो अनियमित होता है उसमें योग्यता कभी भी नहीं आ सकती, ऐसा नियम है। ३४४

गीता १६

जो जिव्हा के अंकित होता है, जो नींद में ही सुख मानने वाला होता है, वह इस कार्य का अधिकारी नहीं, ऐसा कहते हैं। ३४५

या जो दुराग्रह का दास होकर, भूख प्यास रोककर रखता है, भूख से आहार को तोड़ देता है। ३४६

नींद के रास्ते पर भी नहीं जाता, ऐसा हठ पैदा होकर नाचता रहता है। जब उसका शरीर ही रहेगा नहीं, तब वह योग क्या करेगा। ३४७

इसलिये अधिक विषय सेवन, ऐसा हठ भी नहीं होना चाहिये। या सर्व प्रकार का निरोध, ये भी न हो। ३४८

गीता १७

आहार सेवन करना चाहिये किन्तु वह योग्यता के माप से मापना चाहिये। या कोई क्रिया करनी हो तो वह भी उसी तरह से योग्य हो। ३४९

तोलकर, मापकर, शब्द बोलने चाहियें। हलचल भी योग्य प्रमाण में होनी चाहिये। योग्य समय पर नींद को भी मान देना चाहिये। ३५०

जागरण करना हो, तो वह भी प्रमाण में होना चाहिये। ऐसा करने से शरीर में धातु का साम्य होकर, वह योगी सुख पाता है। ३५१

ऐसी युक्ति के हाथ से जब-जब इंद्रियाँ मुझे अर्पण की जाती हैं, उस समय मन ही समाधान को बढ़ाता है। ३५२

गीता १८

जब ऐसे युक्तजीवन की छाप बाहर दिखने लगेगी, तब अन्तर मे सुख बढ़ने लगेगा। उस समय अभ्यास न करते हुए भी, योग सुलभ हो जाएगा। ३५३

भाग्य का उदय हो तो उद्योग के निमित्त से जैसे सर्व समृद्धि घर में आ जाती है। ३५४

वैसे ही. युक्तिमत सहज ही अभ्यास करे तो आत्मसिद्धि की बहार अनुभव करने लगेगा। ३५५

इसलिये अर्जुन, जिस भाग्यवान को यह युक्तता साध्य हो, वह मोक्ष का सिहासन अलकृत करेगा। ३५६

गीता १९

ऐसा युक्तपन और योग, इनका अच्छा मिलन हो जाए, और जिसका मन भटकना छोडकर स्थिर हो जाए। ३५७

उसको तुम योगयुक्त. ऐसा कहो। वह अवस्था माने पवनमुक्त स्थान मे दीप का रहना। अर्थात् वहाँ स्थिरता है, ऐसा तू समझ। ३५८

अब तुम्हारा मनोगत जानकर, मै जो कहने वाला हूँ वह ठीक ध्यान देकर सुनो। ३५९

तू यश की इच्छा करे किन्तु तेरा अभ्यास मे ध्यान न लगता हो, ऐसे समय तू योग की कठिनता से डर जाता है क्या ! ३६०

तो अर्जुन, इसका कठिन प्रण तू मन में व्यर्थ न समा। अरे, यह दुर्जन इंद्रियाँ बिना कारण ही योग से घबराती है। ३६१

देखो, जिससे आयु बढ़ जाती है, जिससे मरण टल जाता है, ऐसी औषधि को क्या जिव्हा बुरा नही मानती ? ३६२

ऐसे जो-जो हितकारी होता है, वह सदैव ही इन्द्रियों को बुरा लगता है। नही तो इस योग जैसा अत्यन्त सुलभ, अन्य क्या है। ३६३

गीता २०

गीता २१

दृढ़ासन से, श्रेष्ठ अभ्यास तक, जो मैंने कहा, उसी से ही इन इन्द्रियों का निरोध हो सकेगा। ३६४

इस योग के कारण जब इन्द्रियो को खेंच लगेगी उस समय अपना अन्तःकरण आत्मरूप से मिलने के लिये योग्य हो जाएगा। ३६५

वह फिर कभी पीछे भी आ जाए, तो भी अपने मे ही अपने को देखने लगेगा, और देखते ही, जो तत्व है वह स्वयं ही हूँ, ऐसी अनुभूति उसको हो जाएगी। ३६६

यह अनुभव आते ही, वह सुख-साम्राज्य मे राज करेगा और अन्तःकरण समरस में विलीन हो जाएगा। ३६७

जिसको अपने सिवाय और कोई निष्ठा नही, जो इन्द्रियों को भूल जाता है, वह अपने में ही अपने को समाता है। ३६८

गीता २२

मेरु पर्वत से भी बड़ा दुःख का पहाड़ उस पर पड़े, तब भी उसके भार से अन्तःकरण दबता नही। ३६९

या शस्त्र का प्रहार हो, देह अग्नि में गिर जाए, फिर भी आत्मानंद में रम हुआ उसका अन्तःकरण विचलित नहीं होता। ३७०

ऐसा अपने में ही रममाण होने के बाद देह के ऊपर अधिक ध्यान नही रहता। सुख बढ़ता रहता है और देह को भूल जाता है। ३७१

गीता २३

जो मन संसार के मुख में फँसा हुआ था, वह इस सुख की मिठास के कारण इच्छा का सम्बन्ध ही छोड़ता है। ३७२

क्योंकि वह इस योग का महत्व, उससे मिलने वाले संतोष की महानता, और ज्ञान का महात्म्य समझता है। ३७३

उसको अभ्यास से वह सुख सामने मूर्तिमान दिखने लगता है, और देखते ही तद्रूप हो जाता है। ३७४

गीता २४

यह योग एक प्रकार से बहुत ही सुलभ हो जाएगा, जब संकल्प को उसके पुत्र काम का नाश दिखाया जाए। ३७५

यह संकल्प, विषयों का नाश हो जाए तभी चुप बैठता है। जब वह इन्द्रियों को नियम निर्धारित देखता है, तब डरकर स्वयं अपना अन्त कर लेता है। ३७६

वैराग्य से जो ऐसा हो जाए कि संकल्प का आना-जाना ही बन्द हो जाए, तो बुद्धि, धृति के महल में सुख से रहेगी। ३७७

गीता २५

गीता २६

मन में बुद्धि और धैर्य का वास हो जाए तब उस मन को अनुभव का मार्ग धीरे-धीरे आनन्द-भवन में जाकर छोड़ेगा। ३७८

एक तरह से विचार करें, तो यह भी एक प्राप्ति ही है। किन्तु यह नहीं, तो और सरल उपाय भी सुनो। ३७९

जो कृतनिश्चय के बोल के बाहर जाए नहीं, ऐसा नियम अन्तःकरण में स्वीकार करे । ३८०

इसी से जो अन्तःकरण स्थिर हो जाए, तो सहज ही कार्य हो जाएगा । किन्तु वह स्थिर न हो तो उसे खुला छोड़दो ! ३८१

फिर वह मुक्त-अवस्था में जहाँ-जहाँ भटकेगा, वहाँ से नियम ही उसको खींचकर वापस लाएगा और स्थिरता प्राप्त हो जाएगी । ३८२

गीता २७

बाद में इस स्थिरता के कारण किसी समय वह सहज आत्मस्वरूप के निकट आ जाएगा । ३८३

जब वह आत्मस्वरूप को देख आलिंगन देगा, उस समय द्वैत, अद्वैत में ही लुप्त हो जाएगा और उस त्रैलोक्य में ऐक्यतेज का प्रकाश फैल जाएगा । ३८४

अलग दिखने वाले मेघ जब आकाश में विलीन हो जाते हैं, तब केवल आकाश ही रह जाता है । ३८५

चित्त का लय हो जाए तो उसको सर्वत्र केवल चैतन्य ही रहेगा । ऐसी प्राप्ति इस सुख से उसको होने वाली है । ३८६

गीता २८

यह सुलभ योगस्थिति अनेकों को अनुभव में आगई जब उन्होंने संकल्प-धन की ओर अपनी पीठ की । ३८७

इस सुख की संगति में उन्होंने परब्रह्म में प्रवेश किया और लवण जैसे पानी में एकरूप होता है, ऐसा वे हो गए । ३८८

ऐसा जब होता है, उस समय समरसता के गाँव में सर्वत्र महासुख की दीवाली उसको दिखती है। ३८९

ऐसा यह अपने ही पाँव से अपनी पीठ पर चलने जैसा है। हे अर्जुन, यह गोष्ठी तुझे समझ में नहीं आई, तो और दूसरी सुनो। ३९०

गीता २९

गीता ३०

मैं तो सर्व देह में हूँ ही। इसका अधिक विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। और इसी तरह सर्व विश्व भी मेरे में ही है। ३९१

यह ऐसा ही सब आपस में मिलकर रहा हुआ है। इसमें से जितना अपनी बुद्धि ले सके, इतना ही ले। ३९२

नहीं तो अर्जुन, जिनकी भावना एकरूप हो गई है, वे, मैं सब भूतों से अलग न होते हुए भी, मेरी भक्ति करते हैं कि नही। ३९३

प्राणीमात्र अनेक होंगे फिर भी उसके अन्तःकरण में अनेकत्व नही है। वह सर्वत्र मेरा एकत्व ही जानता है। ३९४

फिर वह एक, और मैं दूसरा, ऐसी भाषा व्यर्थ हो जाती है। अर्जुन, न बोलने पर भी वह मैं ही हूँ। ३९५

दीप (ज्योति) और प्रकाश, इनका संबंध जैसे एकत्व का होता है, वैसा वह मेरे में, और मैं उसमें होता हूँ। ३९६

जैसा पानी के रूप में रस होता है, या आकाश के रूप में जैसा अवकाश होता है, वैसा मेरे रूप मे ही वह पुरुष होता है। ३९७

गीता ३१

अर्जुन, उसने ऐक्य की दृष्टि से सर्वत्र मुझे ही देखा, जैसे वस्त्रों में एक तन्तु ही सर्वत्र होता है । ३९८

या जेवर अनेक प्रकार के होते हैं किन्तु वह अनेकत्व स्वर्ण में नहीं होता । ऐसी यह अचल ऐक्यस्थिति उसकी हो गई । ३९९

या वृक्ष पर जितने पर्ण हों, उसे उतने ही पौधे नहीं कहते । ऐसा अद्वैतप्रकाश जिस रात्रि ने देखा हो । ४००

अनुभव के कारण उसकी तुलना मेरे से ही होती है । वह पंचमहाभूतात्मक होने पर भी, अर्जुन बताओ, देह-भाव में कैसे अटक जाएगा । ४०१

ऐसा मेरा व्यापकपन उसके अनुभव में आने के कारण, वह न कहते हुए भी व्यापक होता है । ४०२

अब शरीर में होते हुए भी, वह शरीर में नहीं होता । यह अवस्था शब्दों से कहने लगें तो क्या संभव हो जाएगी ? ४०३

गीता ३२

सर्व चराचर वह सदैव अपने जैसा ही देखता है, इसका विशेष वर्णन अब बस । ४०४

सुख दुःख आदि भाव, या शुभ अशुभ ऐसे कर्म; ऐसे द्विधा मनोधर्म को वह नहीं जानता । ४०५

ऐसे सम विषम भाव या अन्य ऐसी सर्व विचित्र भावनाएं, यह सब अपने अवयव ही हैं, ऐसा वह मानता है । ४०६

ऐसे एक-एक क्या बताऊँ, जो सर्व त्रैलोक्य स्वयं ही है ऐसा अपने आप समझने लगता है । ४०७

उसको भी देह तो वास्तविक होती ही है समाज उसको सुखी-दुःखी स्वरूप में मानता ही है, किन्तु मेरे विचार मे तो, वह परब्रह्म ही है। ४०८

इसलिये अर्जुन अपने में ही विश्व देखो, और स्वय भी विश्व हो जाओ। ऐसी साम्यदृष्टि की ही तुम उपासना करो। ४०९

ऐसा मैंने तुझे बहुत बार कहा हुआ है। वह इसलिये कि साम्य अवस्था के सिवाय इस जगत में अन्य प्राप्ति नही। ४१०

गीता ३३

गीता ३४

अर्जुन ने कहा: भगवन्, मेरी करुणा से ही आप ऐसा कहते है यह सच है। किन्तु इस मन के स्वभाव के सामने वह पूरा नही होता। ४११

यह मन कैसा है, कितना बड़ा है, इसका विचार करे तो कुछ समझ में नही आता। किन्तु इसको भटकने के लिए त्रैलोक्य भी कम होता है। ४१२

इसलिये यह कैसे हो सकेगा कि बन्दर समाधि ले। या 'रुको' कहते ही महावात रुक जाए। ४१३

यह मन, बुद्धि को छलता है; निश्चय को टालता है; और धैर्य के हाथ पर हाथ मारकर भाग जाता है। ४१४

यह मन, विवेक को भुलाता है। संतोष को आशा में डालता है। हम स्वस्थ बैठे हुए हों तब भी दसों दिशाओं भगाता है। ४१५

इसका विरोध करने का प्रयत्न करें, तो यह अधिक ही उभर आता है। संयम भी इसीके काम में आता है। ऐसा यह मन अपना स्वभाव कैसे छोड़ेगा। ४१६

इसलिये, मन निश्चल हो जाएगा, और फिर हमें साम्य अवस्था मिलेगी, ऐसा इस मन से कभी होना ही नहीं है । ४१७

गीता ३५

यह सुनकर श्री कृष्ण कहते हैं: अर्जुन, तू सच ही कहता है । मन ऐसा ही है । इस मन का स्वभाव सचमुच चञ्चल है । ४१८

किन्तु वैराग्य के आधार से उसको अभ्यास की ओर लगाया जाए तो कभी न कभी तो वह स्थिर हो ही जाएगा । ४१९

क्योंकि इस मन की एक बात बहुत अच्छी है कि जहाँ इसको अच्छा लगता है, वहाँ आशा से चिपक जाता है । इसलिये अनुभव-सुख का महत्व इसको दिखाते रहो । ४२०

गीता ३६

नहीं तो, जिसको विरक्ति न होगी, वह अभ्यास भी नही करेगा । उसको मन स्थिर करना आएगा नहीं । यह क्या हम नहीं मानते हैं । ४२१

किन्तु जो मन यम-नियम के मार्ग पर कभी लगा ही नहीं, वैराग्य का विचार कभी किया न हो, केवल विषय-जल में ही डूबा हुआ हो । ४२२

ऐसे मन को नियमन का आधार कभी नहीं मिलता है, फिर वह स्थिर हो सकता है क्या । ४२३

इसलिये मन का निग्रह हो सके ऐसा जो उपाय है वह तुम आरंभ करो और फिर देखो कैसे स्थिर नहीं होता ! ४२४

योगसाधन जितना है वह सब क्या झूठ मानकर चलना चाहिये ? हम अभ्यास करते नहीं हैं यही उसका कारण है । ४२५

अपने में योग का बल हो, तो मन की चञ्चलता क्या है ? क्या पंचमहाभूतादिक सब अपने अधीन नही होंगे ? ४२६

उस समय अर्जुन ने कहा: सच है भगवन्, आप जो कहते हैं इसमें कुछ संदेह नहीं। योगबल के सामने मनोबल की तुलना ही हो नही सकती। ४२७

किन्तु योग हमें कब और कैसे समझ आए, यह हमको इतने दिन मालूम ही नही था, इसलिये हम मन को अनावर कहते थे। ४२८

अब हे पुरुषोत्तम, तुम्हारे प्रसाद से इस पूरे जन्म में आज हमे योग का सच्चा परिचय हो गया। ४२९

गीता ३७

गीता ३८

गीता ३९

महाराज, सहस मेरे मन मे एक शंका आ गई है, उसका निराकरण आपके सिवाय कौन कर पाएगा। ४३०

इसलिये हे गोविन्द, मुझे बताओ अगर कोई एक जो श्रद्धा से, किन्तु बिना साधना, मोक्षपद के लिए झगड़ता था, ४३१

वह इन्द्रियों के गॉव से तो बाहर निकला और आत्म साक्षात्कार के अगले गाँव में जाने के लिये उसने आस्था का मार्ग ले लिया। ४३२

किन्तु आत्म सिद्धि प्राप्त नही हुई और वापस आना भी कठिन हो गया, और उसी समय आयुष्य का सूर्य बीच में ही अस्त हो गया। ४३३

जैसे, हल्के-हल्के आकाल के बादल सहज ही दिखने लगें; जो न रहें और न बरसे। ४३४

इसी प्रकार, वे दोनों ही न होने पर, प्राप्ति तो दूर ही रही किन्तु प्राप्ति न होने के कारण श्रद्धा ही छुटने लगी। ४३५

ऐसी निराश हुआ पुरुष, श्रद्धा होते हुए भी डूब गया, तो उसे क्या गति प्राप्त होगी ? ४३६

गीता ४०

उस समय श्री कृष्ण ने कहा: अर्जुन, जिसको मोक्षसुख का आदर है उसे मोक्ष सिवाय कोई अन्य गति है क्या ? ४३७

हाँ, ऐसा हो सकता है कि उसे बीच में विश्राम लेना पड़े, पर वह भी ऐसी श्रेष्ठ अवस्था में कि जो देवों को भी दुर्लभ हो। ४३८

वैसे वह अभ्यास के कदमों से थोड़ी शीघ्रता से चलता तो दिन डूबने से पहले ही सोहम् सिद्धि उसे प्राप्त हो सकती। ४३९

किन्तु ऐसी ताकत न हो तो विश्राम लेना ही अच्छा। अन्त में मोक्ष तो उसको मिलना ही है। ४४०

गीता ४१

यह कैसा आश्चर्य है देखो; जो लोग बड़ी कठिनाई से शतयज्ञ करते हैं, उनको जो मिलता है, वह यह मुमुक्षु सुलभता से प्राप्त करता है। ४४१

वहाँ स्वर्ग के अखण्ड अलौलिक, ऐसे जो भोग होते हैं, वे भोगते-भोगते उसका मन ऊब जाता है। ४४२

और 'हे भगवन्, अकस्मात ऐसा वियाग क्यों हो गया ?' ऐसा पश्चाताप, वे भोग भोगते समय उसको होता रहता है। ४४३

और फिर वह संसार में ऐसी जगह जन्म लेता है, कि जो सकलधर्म का मायहर हो। वैभवश्री के उद्यान में जैसे अंकुर फूटा हो। ४४४

या जो नीति के मार्ग से चलने वाले हों। पवित्र और सत्य बोलने वाले हों। और शास्त्र की दृष्टि से चलने वाले हों। ऐसे कुल में। ४४५

या वेद जिनका जागृत दैवत है। विहित कर्म जिनका व्यवसाय है। सारासार विचार, जिनके मंत्री हैं। ऐसे कुल में। ४४६

जिनके कुल में चिन्ता ही ईश्वर की पतिव्रता स्त्री होती है। जिनके घर में रिद्धि-सिद्धि इत्यादि, गृहदेवता जैसे होते हैं। ४४७

अपने पुण्य की ही कमाई से, जिनका कारोबार सुख से बढ़ा हुआ है। ऐसे श्रेष्ठकुल में वह जन्म लेता है। ४४८

गीता ४२

गीाता ४३

या जो ज्ञानयज्ञ करने वाले होते हैं। जो परब्रह्म की कथा श्रवण करने वाले होते हैं। या महासुख के क्षेत्र के अधिकारी होते हैं। ४४९

जो अद्वैत-सिहासन पर बैठ, त्रिभुवन का राज करते हों। या समाधान के उद्यान में कुंजन करने वाली कोकिल हों। ४५०

या विवेक-ग्राम में नित्य फलने वाले वृक्ष के नीचे बैठे हों। ऐसे योगी के कुल में वह जन्म लेता है। ४५१

और उदयपूर्व ही जैसे सूर्य-प्रकाश सर्वत्र फैलता है, उसी तरह से केवल देहाकृति दिखते ही बालावस्था में आत्मज्ञान का प्रकाश प्रगटता है। ४५२

इसी तरह से दशा की प्रतीक्षा न करते हुए, आयु के गाँव में न आते हुए, बालपन में ही उसको सर्वज्ञता वरती है। ४५३

उस सिद्धबुद्धि के लाभ से मन ही साहित्य प्रगट करने लगता है और सर्व शास्त्र स्वयं उसके मुख से बाहर निकलने लगते हैं। ४५४

ऐसा जन्म मिलना चाहिये यह कामना लेकर स्वर्ग में देव नित्य जप-होम करते हैं। ४५५

अर्जुन, देव भी भाण्ड होकर मृत्युलोक की स्तुति करे ऐसे जो जन्म होते हैं, वे उसको प्राप्त होते हैं। ४५६

गीता ४४

जहाँ जीवन का अन्त हो गया था उस समय की गत्जन्म की सत्बुद्धि इसी जन्म में फिर नवीन होकर उसको प्राप्त होती है। ४५७

जैसे पायालू (पैर पहले करके जन्मने वाला) और दैववान, और आँखों मं दिव्याञ्जन डाला हुआ हो, तो फिर जैसे दबा हुआ धन आसानी से दिखता है। ४५८

उसी तरह से समझने में कठिन, ऐसे सिद्धान्त, या गुरु से प्राप्त होने वाला ज्ञान, ऐसे विषयों में उसकी बुद्धि बिना यत्न प्रवेश करती है। ४५९

बलवान इन्द्रियाँ मन के अधीन हो जाती हैं, मन प्राण-वायु में समा जाता है और प्राण-वायु आकाश में आसानी से मिलने लगती है। ४६०

ऐसी योगधारणा की बातें उसको बिना कष्ट कैसे अभ्यास से आती हैं न जाने। समाधि अवस्था तो उसका घर ढूंढती आती है। ४६१

ऐसा जानो कि वह किसी योग-संस्था का प्रमुख; या किसी समारंभ का गौरव स्थान; या वैराग्यसिद्धि का अनुभव ही, स्वरूप लेकर आया हो। ४६२

या वह संसार जानने का माप है । जहाँ अष्टांगयोग की सामग्री मिले, ऐसा वह द्वीप है । या चन्दन-सुगन्ध ही स्वरूप ले आई हो । ४६३

जैसा कही, समाधान का ही बना हुआ हो । या सिद्धि के भण्डार मे से चुनकर निकाला हुआ हो । इसी तरह से साधक अवस्था मे ही निपुण-सा दीखता है । ४६४

गीता ४५

उसने सैकडो वर्षो के माप से सहस्त्र जन्म की अडचन पार करके, आत्मसिद्धि का किनारा प्राप्त किया होता है । ४६५

इसीलिये सर्व साधन अपने आप उसके साथ चलते है और वह विवेक के सिहासन पर बिना कष्ट विराजमान होता है । ४६६

बाद मे विचारो के वेग से विवेक भी पीछे रह जाता है, और विचारो के पार जो ज्ञान है वह उसमे आ जाता है । ४६७

वहाँ मन के ऊपर की कालिख नष्ट हुई होती है, वायु का वायुपन समाप्त होता है और आकाश मे आकाश लुप्त हो जाता है । ४६८

ओम का माथा, जो मकार, डूब जाता है । और इसी तरह से योगसिद्धि का अनिर्वाच्य सुख उसे मिला हुआ होता है । इसीलिये उसके वर्णन में शब्द पहले ही पीछे हटते है । ४६९

इसी प्रकार की यह ब्रह्मस्थिति जो सकल अवस्थाओं की अवस्था है; इसकी वह मूर्ति बन जाता है । ४७०

उसने पिछले अनेक जन्म, सशय की पंचपात्री धोकर स्वच्छ कर ली, इसीलिये जन्म से ही उसकी लगन घटिका डूबी हुई होती है । ४७१

और तद्‌रूपता के साथ उसका विवाह होकर दोनों एकरूप होते हैं। जैसे बादल जाने के बाद आकाश अवकाश एक रूप होते हैं। ४७२

विश्व जहाँ से उत्पन्न होता है और बाद में जहाँ लय होता है, वह अवस्था उसे देह में जन्म से ही होती है। ४७३

गीता ४६

कर्मनिष्ठ, जिस लाभ की आशा से अपने धैर्य-बाहू के ऊपर भरोसा रख, शटकर्म के प्रवाह में कूदते हैं; ४७४

या जिस एक वस्तु के लिये ज्ञानीलोग ज्ञान का कवच पहन, संसार-समरांगण पर जूझते हैं; ४७५

जिस की आशा से तपस्वीलोग, निराधार, फिसलने वाला, ऐसे तपोदुर्ग के कठिन कड़े पर चढ़ जाते हैं; ४७६

जो भक्तगणों का भक्ति स्थान; याज्ञिकों का यज्ञ; ऐसा सबको जो सदा पूज्य; ४७७

जो साधक का ध्येय; वह मोक्ष का सिद्धतत्व. वह स्वयं हुआ होता है। ४७८

इसलिये वह कर्मनिष्ठों को वन्द्य, ज्ञानियों को जानने योग्य, और तपस्वीजनों का आदितपोनाथ होता है। ४७९

जीवात्मा और परमात्मा, इनके संगम के लिये जिसको मनोधर्म अवस्था में फिर आना पड़ गया हो, वह देहधारी होते हुए भी उसका महात्म्य ऐसा होता है। ४८०

इसीलिये हे अर्जुन ! मैं तुम्हें सदैव कहता हूँ, कि अन्तःकरण से योगी हो जाओ। ४८१

गीता ४७

जिसको योगी कहते हैं वह देवों का देव. और मेरा सुखसर्वस्व ऐसा समझ लो। वह प्रत्यक्ष चैतन्य होता है। ४८२

उसको, भजन, भजने वाला, भक्ति-दैवत और सब भजन साधन, अखण्ड अनुभव से सब मैं ही हो गया होता हूँ। ४८३

हे अर्जुन, फिर उसके और मेरे प्रेम का स्वरूप शब्द में कह सकें, ऐसा सचमुच नहीं। ४८४

मेरे साथ एकरूप हुए प्रेम की उपमा चाहते हो, तो मैं देह और वह आत्मा, ऐसा ही कह सकेंगे। ४८५

संजय कहता है, ऐसे वे भक्तचकोर-चन्द्र, त्रिभुवन-नरेन्द्र और गुणसागर श्रीकृष्ण बोले। ४८६

वहाँ अर्जुन की सुनने की इच्छा पहले से भी दुगुनी हो गई, यह श्री कृष्ण जान गए। ४८७

उनको मन में संतोष हो गया, कारण कहने और सुनने वाला एक ही दिखें, ऐसा दर्पण उनको मिल गया। उस आनन्द से प्रफुल्लित होकर श्री कृष्ण बोलेंगे। ४८८

वे प्रसंग इसके आगे हैं, जहाँ शान्तरस प्रगट हुआ दिखेगा। जो प्रमेय-बीजों को अंकुरित करेगा। ४८९

जहाँ सात्विक की वर्षा से आध्यात्मिक-ताप रहेगा नहीं और चतुर चित्त की क्यारियाँ तैयार हो जाएंगी। ४९०

उसी में ही श्रोताओं के अवधान की नमी दिखाई दी. इसीलिये श्री गुरु निवृत्तिनाथ को बुआई करने का धैर्य आ गया। ४९१

ज्ञानदेव कहते हैं, मेरी इच्छा के मेरे श्रीगुरु ने बड़े लाड़ किये. और मेरे मस्तक पर जो हाथ रखा, वह जानो बीज ही बोया। ४९२

इसीलिये इस मुख से जो-जो निकलता है वह संतों के अन्तःकरण को सत्य ही लगता है। अच्छा, यह रहने दो। श्री कृष्ण क्या बोले, वह मैं कहता हूँ। ४९३

किन्तु वह मन के कान से सुने। वे बोल बुद्धि की आँखों से देखे। और चित्त देकर ले। ४९४

और अवधान के हाथों से हृदय के अन्दर ले जाऐं। वे बोल सज्जनों की बुद्धि को आनन्द देंगे। ४९५

वे स्वहित को शान्त करेंगे, परिणाम को जीवित करेंगे, और जीव को सुख के लक्ष फूल अर्पण करेंगे। ४९६

अब अर्जुन को श्री कृष्ण विनोद से नागरी बोली में जो कहेंगे वह मैं ओवियों के प्रबंध में कहूँगा। ४९७

- इति -

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय ६

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले :

कर्मफल का आश्रय न करते हुए, जो कर्तव्य समझकर कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है । अग्नि छोड़ने वाला या क्रिया छोडने वाला नहीं ।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

हे पाण्डव , जिसको संन्यास कहते हैं, वही योग है, ऐसा जानो । जिसका संकल्प छुटा नहीं, ऐसा कोई भी योगी नहीं होता ।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगप्राप्ति की इच्छा करने वाले मुनि को, कर्म, यही साधन कहा हुआ है । योगारूढ होने के बाद, उसी को, शम, यह साधन कहते हैं ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

जब इन्द्रियो के विषयों में व कर्म में आसक्ति नहीं होती, तब उस सर्वसंकल्पसंन्यासी को योगारूढ़ कहते हैं ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

आप ही अपना उद्धार करे, अपना धात कभी न करे । हम ही अपने मित्र होते हैं, और हम ही अपने शत्रु होते हैं ।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिसने अपने को जीता हुआ है, वह अपना ही बन्धु होता है । किन्तु जिसको अपने ऊपर नियंत्रण नहीं, वह अपने में ही शत्रु जैसा बर्तावा करता है ।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

जिसने अपने को जीता हुआ है, और जो शीत ऊष्ण , सुख दुःख, मान अपमान, ऐसी अवस्था में प्रशान्त है उसमें परमात्मा समाया हुआ होता है ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान व विज्ञान से जो तृप्त है, परमात्मा में रत है , जितेंद्रिय है, और मिट्टी पत्थर या स्वर्ण, ऐसे सब में जो समदृष्टि है । ऐसा योगी युक्त कहा जाता है ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सर्वहितचिंतक, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बान्धव, व साधु, पापी, इन सर्वों के प्रति समबुद्धि रखने वाला योगी श्रेष्ठ माना जाता है ।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

योगी, अपना अन्तःकरण नियमन करके, आशा व संग्रह रहित, अकेला ही, एकान्त में नित्य आत्मस्थिति में जुड़ा हुआ स्थित होवे ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

शुद्ध स्थल पर, कुशा, मृगछाला, और ऊपर वस्त्र, ऐसा अपना आसन, न अति ऊँचा न अति नीचा, स्थिर स्थापन करके ।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

उस आसन पर बैठकर, मन को एकाग्र करके, चित्त व इन्द्रियों की क्रियाओं को नियमन करके, आत्मशुद्धि के लिए योग में जुड़ा रहे ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

काया, सिर व ग्रीवा को समस्थिति में अचल व दृढ़, ऐसा धारण करके; अन्य दिशा को न देखते, केवल अपनी नासिका के अग्र भाग को देखता हुआ ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

शान्त अन्तःकरण वाला, भय रहित, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर, मन का नियमन करके, चित्त में मुझे धारण करके, मेरी ओर ध्यान लगावे ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

इसी तरह से मन नियंत्रित किया हुआ योगी सदा आत्मस्थिति से जुडा रहने के बाद, परम मोक्ष देने वाले, शान्त, ऐसे मेरे परिसर में आ पहुँचता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! अति खानेवाला या कुछ भी न खानेवाला, अति स्वप्नशील या अति जागृत, ऐसे को यह योगस्थिति प्राप्त नहीं होती ।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

युक्त आहार विहार करने वाला, युक्तता से कर्म में लगा हुआ, युक्त स्वप्न व अवबोध वाला, जो होता है, उसे यह योग दुःख हरण करने वाला होता है ।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब नियमन किया हुआ चित्त आत्मा में स्थिर हो जाता है, तब सर्व प्रकार की कामनाओं के प्रति निरिच्छ हुए उस योगी को योगयुक्त कहते हैं ।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

हवा-रहित स्थल में रखा हुआ दिया , जैसे हिलता नहीं । आत्मयोग का आचरण करने वाले योगी मनुष्य के नियमन किये हुए चित्त को यही उपमा जानो ।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

जहाँ, योगसेवा के कारण, नियमन किया हुआ चित्त रममाण हो जाता है । जहाँ, अपने में ही अपने सत्यस्वरूप को देखकर, संतुष्ट होता है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

जो सुख अतिश्रेष्ठ है, केवल बुद्धिगम्य है, इन्द्रियों को अगोचर है, और जो भोगते समय, वह योगी आत्मस्वरूप में अचल रहता है ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

जो मिलने के उपरान्त अन्य कोई भी लाभ अधिक माना नहीं जाता, और जिसमें स्थित हुआ, अत्यन्त दुःख से भी विचलित नहीं होता ।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उस दुःखसंयोग-रहित सुख को, योग, ऐसे नाम से जानते हैं । ऐसे योग का निश्चय पूर्वक उत्साहित अन्तः करण से युक्त होकर, आचरण करना चाहिए ।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

संकल्पजन्य सर्व कामनाओं का संपूर्ण त्याग करके, और सर्व इन्द्रियों के व्यवहारों का मन से नियमन करके ।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपिचिन्तयेत् ॥ २५ ॥

धैर्यवान बुद्धि से धीरे-धीरे रममाण होकर, मन को आत्मा में स्थित करके, कुछ भी चिंतन न करे ।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

जब-जब यह चञ्चल वृत्ति का अस्थिर मन विचलित होता है, तब-तब उसका नियमन करके, आत्मा के ही वश में ले जाए ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

ऐसे प्रशान्तमन से योगी को उत्तम सुख प्राप्त होता है और , रजो गुण शान्त होकर, निर्मल, ऐसे ब्रह्मभाव को पहुँच जाता है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

इसी तरह से नित्य आत्मा में जुड़ा हुआ योगी, दोषरहित होकर, सहज ब्रह्म संस्पर्श का अपार सुख भोगता है ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

ऐसा योगयुक्त पुरुष, जो सर्वत्र समदर्शी है, वह अपने को सर्व भूतमात्र में , और सर्व भूतो को अपने में देखता है ।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो मुझे सर्वत्र देखता है, और मेरे में सर्वत्र देखता है, उससे मैं और वह मुझ से दृष्टि-आढ़ नहीं होता ।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

सर्व भूतों में व्याप्त मुझे, जो एकत्व भाव से भजता है, वह योगी सर्व प्रकार से व्यवहार करते हुए भी, मुझ में ही रहता है ।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन, जो अपनी उपमा से सर्वत्र देखता है, चाहे वह सुख हो या दुःख हो, उस योगी को मैं श्रेष्ठ मानता हूँ ।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्   ॥ ३३ ॥

अर्जुन बोला :

हे मधुसूदन, यह जो साम्यभाव का योग आपने कहा, वह, चञ्चलता के कारण, स्थिर स्थिति में देख नहीं रहा हूँ ।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्   ॥ ३४ ।

हे कृष्ण, यह मन चञ्चल, दोषयुक्त, बलवान और दृढ़ है, इसका निग्रह, मुझे वायु जैसा दुष्कर लगता है ।

श्रीभगवानुवाच

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते   ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान बोले :

हे महाबाहो, निःसंशय ही मन निग्रह करने में कठिन और चञ्चल है । किन्तु हे कौतेन्य, अभ्यास से और वैराग्य से यह हो सकता है ।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः   ॥ ३६ ॥

असंयमित अन्तःकरण से योगप्राप्ति कठिन है, ऐसा मैं मानता हूँ । किन्तु जिसका अन्तःकरण स्वाधीन है, वह उपाय से यत्न करे, तो यह योगप्राप्ति शक्य है ।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति   ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोला :

हे भगवन् ! यत्न न करने वाला, श्रद्धायुक्त मनुष्य, योग से मन हटने के कारण, योगसिद्धि न प्राप्त होकर, किस अवस्था को जाता है ।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो, क्या ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में मति-हीन, आधार-रहित हुआ वह मनुष्य दोनों ओर से वंचित होकर, छिन्न-भिन्न बादल जैसा नष्ट तो नही हो जाता ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण, यह मेरा संशय पूर्णता से नष्ट करने में आप ही समर्थ हैं । यह शंका नष्ट करने वाला आपके सिवाय दूसरा कोई दिखता नहीं ।

श्रीभगवानुवाच
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान बोले :

हे पार्थ, इस लोक में या परलोक में, कहीं भी उसका नाश नहीं होता । क्योंकि कल्याणकारी कर्म करने वाला कोई भी, अरे ! दुर्गति को नही जाता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

वह योगभ्रष्ट, पुण्यवानों के लोक को जाकर, वहाँ दीर्घकाल वास करने के बाद, शुद्ध आचरण वाले व श्रीमान् ऐसे कुल में जन्म लेता है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

या बुद्धिमान, या योगियों के कुल में ही उसको जन्म मिलता है । ऐसा जन्म इस संसार में बहुत दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनन्दन , वहाँ उसे पूर्वजन्म के बुद्धिसंयोग का लाभ होता है । और फिर योगसिद्धि के लिए वह प्रयत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह परतन्त्र होते हुए भी, पूर्वाभ्यास उसको अपनी ओर आकर्षित करता है, और योग के बारे में जिज्ञासु होते हुए भी वह शब्दब्रह्म को (वेदों को) पार कर लेता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

अनेक जन्मों से सिद्ध होते-होते, सतत् प्रयत्नपूर्वक आचरण करने वाला योगी दोषरहित होकर, परमगति को पहुँच जाता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

ऐसा योगी तपस्वी मे भी अधिक श्रेष्ठ होता है, ज्ञानियों से भी मैं श्रेष्ठ मानता हूँ, कर्मनिष्ठ लोगों मे भी श्रेष्ठ होता है, इसीलिये हे अर्जुन, तुम योगी बन जाओ ।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

ऐसा मुझमें जुड़े हुए अन्तःकरण युक्त होकर, जो मनुष्य श्रद्धा से मेरी भक्ति करता है, उसे सर्व प्रकार के योगियों मे श्रेष्ठ मानता हूँ ।

- इति -

अध्याय ९

राजविद्याराजगुह्ययोग

तो एक बार ध्यान दें। फिर आप सब सुख के पात्र हो जाओगे, यह मेरा प्रतिज्ञा-वचन है, खुलेपन से सुनो। १

मैं यह गर्व से नहीं बोल रहा। आपजैसे सर्वज्ञों की सभा में, मेरे कहने की ओर ध्यान दे; यह मेरी प्रेमकी प्रार्थना है। २

क्योंकि आपजैसे श्रीमान् जब मेरे मायहर होंगे, तब लाडले के लाड तो होंगे ही, इच्छावंत के मनोरथ भी पूर्ण होंगे। ३

आपकी दृष्टि की नमी से प्रसन्नता के बगीचे फूलते है। उनकी छॉव देख, थका हुआ मै सुख से आराम कर रहा हूँ। ४

प्रभु, आप तो सुखामृत के डोह हैं। इसीलिये मैं स्वेच्छानुसार शीतलता ले सकता हूँ। यहाँ भी अगर मै आप से मैत्री करने से डर जाऊँ, तो मैं शान्त कैसे हो सकता हूँ। ५

बच्चों की तोतली बोली, टेढ़ा-मेढ़ा चलना। इसका कौतुक कर, माता को तो आनंद ही होता है। ६

इसी तरह से आप संतों का प्रेम मुझपर किस प्रकार से हो; इस बड़ी चिन्ता से मैं इतना आप के साथ चिपकाहट कर रहा हूँ। ७

वैसे देखा जाए तो ऐसा बोलने की मेरी योग्यता ही नहीं। आप जैसे सर्वज्ञ, संसार के पार गए हुए लोगों ने, क्या पाठ लेकर शिक्षा लेनी है ? ८

देखो, जुगनू कितना भी बड़ा हो, फिर भी वह सूर्य के तेज में चमकेगा नहीं। इसको मैं क्या करूँ। अमृत की थाली में, परसने वाला भोजन कैसा होगा ? ९

महाराज, शीतलचन्द्र को पँखेसे हवा कैसे करे ! नाद को ही कैसे सुनाए ! अलंकार को सजाना, कभी होता है ? १०

कहो, सुगंध क्या सूँघे ? समुद्र कहाँ स्नान करेगा ? यह सब आकाश समा जाए, ऐसी कीर्ति किसकी ? ११

आपके ध्यान की इच्छा करें और आप कहें: तथास्तु । ऐसा बोलने की कला किसके पास है कि जिससे आप जैसे लोगों को आनंद हो । १२

फिर भी, विश्व में सूर्य प्रगटने के बाद, क्या हाथ के दिये से उसकी आरती न करें ? या समुद्र को अंजलि- भर अर्घ्य न दें ? १३

प्रभु, आप तो शंकर की मूर्ति हैं ! और मैं एक दुर्बल, भक्ति से पूजन कर रहा हूँ । इसीलिये बेल के स्थान पर मेरी ये निरगुण्डी स्वीकारोगे ही । १४

बालक, पिता की थाली लेकर जब पिता के ही मुँह में ग्रास डालता है । उस समय पिता तो आनंद से अपना मुँह आगे ही करता है । १५

ऐसा मैं, मेरी बालबुद्धि के कारण, आप के साथ छिछोरापन कर रहा हूँ । फिर भी आप आनंदित होते हैं ; प्रेम की रीति ऐसी है । १६

और उस अपनेपन के मोह से आप इतने भरे हुए हैं कि मैं जो यह चिपकाहट कर रहा हूँ, आप उसे भार नहीं समझते । १७

देखो, बछड़े ने धक्का भी मार दिया, तो उसकी माता को अधिक ही पान्हा आ जाता है । जो प्रेमी है, उसके गुस्से से भी प्रेम दुगुना होता है । १८

मेरे बाल-बोल से, आपकी सोई कृपा जागृत हो गई ; यह मैंने जान लिया । इसीलिये मैं बोल रहा हूँ । १९

नहीं तो, चाँदनी क्या पकाई जाती है; वायु को क्या धक्का देकर गति देते हैं; आकाश को नकेल डालते हैं क्या ? २०

देखो, पानी भिगाया नही जाता । मक्खन में छाछ का प्रवेश होता नहीं । उसी तरह से, जिसको देख, लज्जित हुआ मेरा भाषण, बाहर नहीं आ रहा है; २१

शब्द डूबने के बाद, शब्दब्रह्म जिस बिछौने पर आराम से सोता है; वह गीतार्थ मैं मराठी में बोलूँ, ऐसी मेरी योग्यता है क्या ? २२

किन्तु इसका मुझे साहस आ गया तो वह इसी अगली आशा से, कि धैर्य कर, मैं संत का लाड़ला हो जाऊँ । २३

अब चन्द्र से भी शीतल, अमृत से भी अमर, ऐसा आपका ध्यान मुझे देकर, आप मेरा मनोरथ बढ़ाते रहो । २४

जब आपकी दृष्टि की वर्षा हो जाएगी तब मेरी बुद्धि में सकलार्थसिद्धि की फसल उग आएगी । किन्तु आप उदास रह जाँए, तो मेरी बुद्धि का यह अकुर सूखने लग जाएगा । २५

आप तो जानते ही है, भाषण को लक्ष्य का चारा मिलजाए तो शब्द को सिद्धान्त की पुष्टता आ जाती है । २६

अर्थ, बोल की प्रतीक्षा ही करता रहेगा । विचार से विचार प्रगट होते जाएँगे । बुद्धि में भावों की बहार आ जाएगी । २७

किन्तु प्रश्नोत्तर की हवा चले तो ह्रदयाकाश में विचारों के बादल एकत्र होने लगेंगे और श्रोताओं का ध्यान न हो, तो रसोत्पत्ती ढल जाएगी । २८

महाराज, चन्द्रकान्त सचमुच पिघलने लग जाएगा। किन्तु वह कर्तृत्व चन्द्र में होता है। इसलिये श्रोता बिना, वक्ता, वक्ता होता ही नहीं। २९

किन्तु, 'मुझे स्वादिष्ट मानलो' ऐसी प्रार्थना चावल क्यों करे ? क्या कठपुतली को सूत्रधार से प्रार्थना करनी पड़ती है ? ३०

क्या वह कठपुतली की इच्छा के लिये नचाता है, या अपनी कला का आविष्कार करता है ? चलो छोड़ो, हमें इससे क्या करना है। ३१

तो श्री गुरु बोलने लगे : अरे, तुझे क्या हो गया। हमको सब मिल गया; अब तुम श्री कृष्ण क्या कहते हैं, वह सुनाओ। ३२

यह सुनकर निवृत्तिदास को संतोष हो गया और वे आनंद से कहने लगे: ठीक है महाराज, सुनो, श्री कृष्ण ऐसा बोले : ३३

गीता १

अर्जुन, यह बीजरूप ज्ञान मैं तुझे आगे बता रहा हूँ, जो मेरे प्राण के अन्तर का छुपा हुआ रहस्य है। ३४

मन में सम्भवत: ऐसा कोई भाव आया हो कि अपना अन्तर खोल, यह छुपा रहस्य क्यों बता रहा हूँ। ३५

तो हे बुद्धिमान सुनो, तुम आस्था की मूर्ति हो। जो तुम्हें कहा जाता है, उसकी तुम उपेक्षा नहीं करते। ३६

इसीलिये यद्यपि मेरी रहस्यता खुल जाए, और जो कहना नहीं चाहिये वह कहना पड़े। तो भी मेरे अन्दर का रहस्य तेरे जीव में स्थिर हो जाए। ३७

देखो, थन के अन्दर दूध, यह सचमुच कितना रहस्यमय है। किन्तु थन को उसका क्या उपयोग ? इसीलिये जब कोई अनन्य ऐसा मिलता है, तब उसकी इच्छा पूरी करनी पड़ती है। ३८

कोठला में से बीज निकाला और अच्छी तैयार की हुई भूमि में बो दिया, तो वह क्या फैलकर बेकार गया कहें ? ३९

इसीलिये जो शुद्धबुद्धि का, निर्मलमन वाला, निन्दा न करने वाला, अनन्य भाव रखने वाला होगा, तो अपना रहस्य भी उसे बड़े सुख से उपलब्ध कर देना चाहिये। ४०

इन गुणों से युक्त, तेरे सिवाय कोई नहीं। इसलिये मुझे अपना रहस्य भी तेरे से नही छुपाना चाहिये। ४१

ऐसे बार-बार रहस्य-रहस्य कितनी बार बोल रहे हैं, ऐसा विचार आकर तुझे विचित्र-सा लगा हो; इसलिये अब विज्ञान के साथ तुझे ज्ञान कहता हूँ। ४२

किन्तु वह इस प्रकार से, कि जैसे मिला हुआ सच और झूठ परीक्षा से अलग किया जाए। ४३

जैसे राजहंस चोंच के चिमटे से दूध-पानी अलग करता है; ऐसे तुझे ज्ञान और विज्ञान अलग करके दे रहा हूँ। ४४

फिर हवा के जोर से जैसे भूसा बचता नहीं, और धान का ढेर आसानी से प्राप्त होता है। ४५

उसी तरह से ज्ञान-विज्ञान जानने से, वह, संसार को संसार के हाथ में देकर, मोक्षश्रेय के आसन पर बैठा देगा। ४६

गीता २

सर्व प्रकार का ज्ञान जिस गाँव में रहता है; उस गाँव में जिसको श्रेष्ठत्व की आचार्य-पदवी है; और जो सर्व रहस्यों का स्वामी है; और पवित्र गोष्ठी का राजा है; ४७

सकल धर्म का निज धाम है; उत्तम है; और जो प्राप्त होने के बाद पुनर्जन्म का कार्य रहता नहीं। ४८

जो केवल गुरु-मुख से उदय हुआ दीखता है, किन्तु सब के अन्तःकरण में स्वयं ही होता है। और जो अपने आप प्राप्त होने लगता है। ४९

और सुख की पैड़ी से जिसको मिलने जाते हैं, व मिलने के बाद निश्चित ही भोग-अवस्था भी समाप्त होती है। ५०

किन्तु भोग की पूर्वावस्था में चित्त उठ जाने के बाद आनंद से भर जाता है। ऐसा सुलभ और आसान होते हुए भी वह ब्रह्मरूप है। ५१

वैसा उसका और एक महत्व है कि हाथ में आने के बाद फिर कहीं नहीं जाता, और अनुभव से कम नहीं होता और बिगड़ता भी नहीं। ५२

यहाँ हे अर्जुन, तुम तर्क करके ऐसा संशय करोगे कि इतनी बडी यह वस्तु, लोगों से अब तक छुपी कैसे रही ? ५३

एक से ऊपर एक, ऐसी बढ़त के लिये जो लोग जलती आग में कूदते हैं, उन्होंने यह सुख कैसे छोड़ा ? ५४

तो पवित्र और रम्य, और सुख उपाय से मिलने वाला, और धर्म को मान्य, और अपने आप मिलने वाला; ५५

ऐसा सर्वश्रेष्ठ होते हुए भी लोगों के हाथ से कैसे रह गया। ऐसी शंका करने के लिये सचमुच आधार हो, तब भी तुम संशय न करो। ५६

गीता ३

देखो, दूध पवित्र और स्वादिष्ट होता है, और केवल त्वचा के परदे की आड़ । इतना पास होते हुए भी, वह न लेते हुए, यह गौथन पर लगने वाला कीड़ा अशुद्ध और गन्दी वस्तु लेता है कि नहीं ? ५७

या कमलकन्द और मेंढक, ये एक घर में रहते हैं । किन्तु पराग, भ्रमर खाते हैं; ओर दूसरे के लिये कीचड़ रह जाता है । ५८

या दैवहीन के घर में हजारों मुद्रा जमीन में दबे हुए होते भी, वह वहाँ भूखा बैठा दरिद्रता में जीवन बिताता है । ५९

वैसा, सर्वसुख का आराम-राम मैं, हृदय में होते हुए भी, भ्रांत को विषय की कामना होती है । ६०

बहुत-सा मृगजल आँखोंसे देखकर, जो अमृतका ग्रास फेंक देता है । या गले में डाला हुआ पारस, मोतियों की माला के लिये त्यागता है । ६१

इसी तरह से 'मैं', 'मेरा', ऐसी भावना में जकड़े हुए दीनजन मुझे आकर मिलते नहीं, और जन्म-मरण के दोनों तीरां पर तड़पते रहते हैं । ६२

वैसे मैं तो सामने दिखने वाले सूर्य जैसा हूँ । 'दिखता' या 'न दिखता' ऐसी भाषा का नहीं । ६३

गीता ४

यह सारा विश्व मेरे विस्तार के स्वरूप में ही नहीं है क्या ! जैसे दूध जम जाता है, उसी को दही कहते हैं । ६४

या बीज, वृक्ष हो जाए । सोना, अलंकार बन जाए । इसी तरह से यह सारा विश्व मेरा ही विस्तार है । ६५

यह, अव्यक्त स्वरूप में जमा हुआ होता है, और बाद में विश्वाकार में पिघलकर फैलने लगता है। इसी प्रकार मैं अमूर्तमूर्ति ने इस त्रिलोक का विस्तार किया। ६६

पंचमहाभूत से लेकर देहधारी समेत सर्व प्राणी मेरे में ही प्रतिबिम्बित-जैसे होते हैं। जैसे पानी के ऊपर झाग। ६७

किन्तु उस झाग में जैसे पानी नहीं दिखता। या स्वप्न का अनेकपन, जागृत अवस्था में नहीं होता। ६८

उसी तरह से ये सर्व प्राणीमात्र मेरे में प्रतिबिम्बित होते हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं होता। यह विचार मैंने तुझे पहले ही कहा हुआ है। ६९

इसलिये कहे हुए शब्दों का पुनः उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं। किन्तु अपनी दृष्टि सदा मुझ में व्याप्त रख। ७०

गीता ५

प्रकृति के पार, ऐसा मेरा स्वरूप, जो तू अपनी कल्पना बिना, देखने लग जाएगा; तो मेरे में सर्व प्राणी हैं, यह भाव भी गलत है ऐसा तुझे समझ में आएगा। क्योंकि मैं ही सर्व हूँ। ७१

कल्पना के सायंकाल में बुद्धि की आँखे कुछ देर अन्धी होजाती हैं, इसीलिये ये भूतमात्र अलग है ऐसा धुन्धलापन आँखो को आजाता है। ७२

वह संकल्प का सायंकाल जब निकल जाता है तब मेरा आत्मस्वरूप एक ही एक है, ऐसा देखकर शंका नहीं रहती। ७३

ये मिट्टी के बर्तन, जमीन से अपने आप निकलते हैं क्या ? वह तो कुम्हार की बुद्धि का रूप ही बाहर प्रगट होता है ना ? ७४

या समद्रु के पानी में क्या लहरों की खान होती है ? वह हवा का ही एक अलग कार्य नहीं क्या ? ७५

देखो, कपास के पेट में क्या कपड़ों की पेटी होती है ? पहनने वाले की दृष्टि को वह रुई, कपडे जैसी लगती है । ७६

स्वर्ण, अलंकार होकर भी रहे फिर भी उसका स्वर्णपन नहीं जाता । ऊपर वाला अलंकाररूप, यह पहनने वाले की भावना है । ७७

बताओ, गूञ्ज में जो प्रत्युत्तर आया, या दर्पण ने जो दिखाया, यह सचमुच अपना ही रूप वहाँ है कि नहीं ? ७८

मेरे शुद्धस्वरूप में जो भूत-भावना करते हैं उनको उनकी कल्पना अनुसार भूताभास होता है । ७९

वह कल्पना की प्रकृति समाप्त हो जाए, तो यह भूताभास पहले ही गया हुआ होगा । और मेरा एक ही शुद्धस्वरूप रह जाता है । ८०

देखो, अपने को चक्कर आ जाए तो सब विश्व घूमता हुआ दीखता है । इसी तरह से अपनी कल्पना के कारण, मेरा अखण्ड रूप यह प्राणीमात्र लगता है । ८१

यह कल्पना छोड़कर देखो, फिर मैं प्राणियों में और प्राणी मुझमें, यह स्वप्न में भी विचार करने योग्य नहीं रहता । ८२

अब, मैं एक प्राणीमात्र को धारण करने वाला. या प्राणीमात्र में रहने वाला; यह भाषा, कल्पना की अर्धांग वायु की बड़बड़ है । ८३

इसीलिये हे प्रियतम, मैं ऐसा इस विश्व का विश्वात्मा हूँ जो इस असत्य जगरूप में भासमान होता है । ८४

सूर्य-किरणों के आधार से जैसे मृगजल, न होते हुए भी भासने लगता है। उसी तरह से मुझमें भूतमात्र भासमान होते है। और मुझे तो फिर सूर्य समझलो। ८५

मैं इसी प्रकार का भूतभावन हूँ, किन्तु भूतो से अलग नही। जैसे सूर्य और प्रभा एक ही होते हैं। ८६

ऐसा यह मेरा ऐश्वर्ययोग तुझे अच्छी तरह से समझ आया कि नही ? अब बताओ, यहाँ भूत-भेद का कोई संबंध है ? ८७

इसीलिये सर्वप्राणीमात्र मुझसे अलग नही, यह सत्य है। और मुझे भी भूतमात्र से अलग कभी मत समझो। ८८

गीता ६

आकाश जितना है इतनी ही आकाश में वायु भी है। केवल हिलाने से अलग दीखती है, नहीं तो आकाश वह ही वायु। ८९

इसी तरह से मुझमें भूतमात्र की कल्पना की तो दिखता है, कल्पना नही की तो नहीं दिखता है। वहाँ मैं तो अकेला हूँ ही। ९०

इसलिये न होना और होना, यह कल्पना का खेल है। कल्पना की तो है, नही की तो नहीं है। ९१

जब कल्पना का मूलधन समाप्त हो जाए तो यह है या नहीं ये दोनों ही कैसे रहेंगे। इसीलिये तुम अब से यह ऐश्वर्ययोग देखो। ९२

ऐसे अनुभव के सागर में तुम अपने को एक लहर समझो। और फिर जब देखोगे तो सर्व चराचर में तुम्हें तुम ही दिखेगा। ९३

यह जानने की स्फूर्ति तुझे आई कि नहीं, ऐसा श्री कृष्ण ने पूछा, तो बताओ अब द्वैतस्वप्न झूठा हो गया कि नहीं। ९४

तो इसके आगे सहज भी तेरी बुद्धि को कल्पना की नींद आ जाए, और स्वप्न में फँसकर तेरा एकत्व का ज्ञान नष्ट हो जाए. ९५

इसीलिये ऐसी निद्रा का मार्ग छोड़ो और शुद्धज्ञान का जीवन जियो । इसका जो श्रेष्ठवर्म है वह मैं तुझे अब बताऊँगा । ९६

हे धैर्यवान अर्जुन, पूरा ध्यानदो । इन प्राणी मात्रो की उत्पत्ति और विनाश, माया करती है । ९७

गीता ७

जिसका नाम प्रकृति है, वह मैंने तुझे दो प्रकार की बतादी है । एक अष्ट प्रकार के भेदरूप से और दूसरी जीवरूप से । ९८.

इस प्रकृति का विषय तुमने पहले सुना ही है इसीलिये वह अभी छोड़ो बार-बार क्या कहें ! ९९

तो महाकल्प के अन्त में सर्व प्राणीमात्र जिस मेरी अव्यक्त प्रकृति में लय होते हैं । १००

जैसे ग्रीष्म के प्रखर ताप से बीजों सहित घास सूख जाती है, और फिर भूमि के पेट में लीन होकर रहती है । १०१

या वर्षाऋतु का नृत्य समाप्त होकर, जब शरदऋतु का पिटारा खुलता है, उस समय जैसे आकाश के सब बादल आकाश में ही लुप्त हो जाते हैं । १०२

या आकाश के कोष्ठ में वायु शान्त होकर छुप जाती है, और पानी की तरंगता पानी में लुप्त हो जाती है । १०३

या जागृत अवस्था में स्वप्न, जैसे मन में ही लुप्त हो जाता है । उसी तरह से कल्पांत में, प्रकृतिजन्यविषय प्रकृति में मिल जाते हैं. । १०४

फिर आगे कल्पारम्भ में, मैं ही उत्पत्ति करता हूँ, ऐसा समझते हैं। तो इस विषय का योग्यविचार सुनो। १०५

गीता ८

तो अर्जुन, यह मेरी प्रकृति जब मैं अपने में अधिष्ठित करता हूँ, तब वस्त्र में तन्तों की बुनावट ही दिखेगी। १०६

फिर उस बुनाई के आधारसे, छोटी-छोटी चौकटियों से वस्त्र भर जाता है। इसी प्रकार प्रकृति महाभूतात्मक आकार धारण करने लगती है। १०७

जैसा जामन के संयोग से दूध जमने लगता है, उसी तरह प्रकृति ही सृष्टिरूप धारण करना आरम्भ करती है। १०८

बीज, पानी से नाता जोड़ता है, तो वह ही वृक्ष होने लगता है। ऐसा ही यह मेरा भूतों का उत्पन्न करना है। १०९

देखो, नगर राजा ने बनाया यह कहना सही लगता है। किन्तु सच देखोगे तो वहाँ राजा के हाथों को कोई श्रम नहीं हुए हैं। ११०

मैं जो प्रकृति को अधिष्ठित करता हूँ, वह कैसा। तो, जो स्वप्न में लीन होता है वही जब जागृत अवस्था में प्रवेश करता है; १११

तब, स्वप्न की अवस्था में से जागृत अवस्था में आते समय, स्वप्न के प्रवास से उसके पाँव थक जाते हैं क्या ? ११२

इन सर्व गोष्ठी का क्या अर्थ ? तो, इस भूतसृष्टि का कोई भी कार्य मुझे करना नहीं होता है। ११३

जैसे राजा के शासन में प्रजा अपने-अपने कार्य का व्यापार करती रहती है। मेरा व प्रकृति का संग ऐसा ही है। करना जो है, वह सब प्रकृति का ही है। ११४

देखो, पूर्ण चन्द्र की भेंट से समुद्र को अपार भरती आ जाती है। वहाँ चन्द्र को कोई परिश्रम करना पड़ता है क्या ? ११५

लोहा बहुत भारी होता है, किन्तु चुम्बक पास आने से हिलने लगता है। फिर भी वह हिलाने का, और खींचने का, चुम्बक को क्या कष्ट ? ११६

इसी तरह से मैं मेरी प्रकृति का अंगीकार करता हूँ, और यह सब भूतसृष्टि उत्पन्न होने लगती है। ११७

जो यह सब भूतफैलाव है, वह केवल प्रकृति के अधीन है। जैसे बीज के फलने-फूलने मे भूमि का सामर्थ्य होता है। ११८

बचपन, जवानी, इन अवस्था का स्वामी जैसे देह होता है। या आकाश बादलों से भर जाए, यह वर्षाऋतु के कारण है। ११९.

या स्वप्न के लिये निद्रा कारणीभूत होती है। उसी तरह से हे राज्यश्रेष्ठ, इस सब भूतफैलाव की स्वामिनी प्रकृति होती है। १२०

स्थावर जंगम, स्थूल सूक्ष्म, इन सर्वो को, इतना ही नही - इस भूतसृष्टि को, प्रकृति ही मूल कारण है। १२१

इसलिये प्राणी उत्पन्न करना और उत्पन्न कर उनका प्रतिपालन करना, यह कार्य मेरे ऊपर कदापि नही आता। १२२

पानी में चाँदनी की बेलियाँ फैलती हैं, वह फैलना चन्द्र ने नहीं किया। उसी तरह से कर्म मेरे पास आकर भी दूर रहते हैं। १२३

गीता ९

सिन्धुजल की बाढ़ आने के बाद उसको नमक का घाट रोक नहीं सकता। इसी तरह से सर्व कर्मों का अन्त मुझ में ही होते हुए भी, क्या वे मुझे बाँध सकेंगे ? १२४

जैसे धुआँ या धूलि का फैलाव, जोर से चलती हुई हवा को रोकता नहीं। या सूर्य-बिम्ब में जैसे अन्धकार प्रवेश नहीं करता। १२५

यह छोड़ो। पर्वतों का अन्तर, वर्षा की धारा से चुभित होता नहीं। इसी तरह से प्रकृति का कर्मजात मुझे नहीं लगता। १२६

वैसे देखा जाए, तो प्रकृति के विकारों को मैं ही कारणमात्र होता हूँ, ऐसा समझलो। किन्तु उदासीन मनुष्य जैसा, मैं न करता हूँ न करवाता हूँ। १२७

घर में रखा हुआ दिया न किसी को चलाता है न किसी को हटाता है। और कौन क्या कर रहा है, यह भी वह नहीं जानता। १२८

वह दिया, जैसे घर के सब व्यापर में कारणीभूत होता है। उसी तरह से प्राणीमात्र के कर्मों में अनासक्त स्वरूप में मैं रहता हूँ। १२९

पर एक ही विचार मैं बार-बार तुझे कह रहा हूँ, इसके सब कारण तुझे मैं क्या कहूँ। हे अर्जुन ! और एकबार इसे समझलो। १३०

गीता १०

इस सृष्टि के व्यापार को जैसे सूर्य निमित्तमात्र होता है। उसी तरह से अर्जुन, इस सब जग-उत्पत्ति में मैं निमित्तमात्र होता हूँ। १३१

क्योंकि मेरे प्रकृति को अधिष्ठित करने के बाद ही इस चराचर की उत्पत्ति होती है। इसीलिये मैं कारणीभूत हूँ, यह उपपत्ति मुझे जड़ती है। १३२

ऐसे स्वच्छ प्रकाश में मेरा ऐश्वर्ययोग ठीक ध्यान देकर देखो। जिससे मेरे में प्राणीमात्र होते हैं, किन्तु मैं प्राणीमात्र में नहीं, यह तुझे समझ में आ जाएगा। १३३

या भूत मुझ में नहीं. और मैं भी भूत में नहीं, यह लक्षण भी तुम कभी भूलो नही । १३४

यह मेरा सम्पूर्ण रहस्य है किन्तु मैंने तुझे खुला कर दिखाया है । अब इन्द्रियों के द्वार बन्द करके अपने अन्तर में इसका अनुभव ले । १३५

यह कला जब तक हाथ नहीं लगेगी तब तक मेरा सच्चा स्वरूप कभी भी नहीं दिखेगा । जैसे भूसे में छुपा हुआ दाने का कण । १३६

नहीं तो, अनुमान के फैलाव से 'सचमुच समझ गया' ऐसा लगता है, किन्तु मृगजल के पानी से क्या भूमि भीगती है ? १३७

जाल पानी में फैल गया तो उसमें चन्द्र बिम्ब अटका हुआ-सा लगता है, किन्तु किनारे पर जाल झटकने के बाद वह बिम्ब कहाँ है,बताओ ।१३८

वक्तृत्व की शक्ति से अनुभव की आँखें व्यर्थ ही फँसाती हैं । फिर सच्चा ज्ञान होने होते ही, न है न होगा । १३९

गीता ११

वैसा, जो तू इस संसार से डरता हो और मेरे लिये सच्ची इच्छा हो, तब ये विचार जतन करो । १४०

नहीं तो, पीलियाग्रस्त दृष्टि चांदनी को पीली समझती है । वैसे ही, मेरे शुद्ध स्वरूप में दोष दिखने लग जाएँगे । १४१

या बुखार से दोषित मुख, दूध को भी 'कड़वा' कहता है । उसी तरह से मैं मनुष्य न होते हुए भी, मुझे मनुष्य मानोगे । १४२

इसीलिये हे अर्जुन, इसके आगे तू ऐसी गोष्ठी के ऊपर भरोसा मत कर । तू [illegible] दृष्टि से देखेगा तो सब व्यर्थ हो जाएगा । १४३

स्थूल दृष्टि से मुझे देखना, यह सचमुच न देखने के बराबर है । जैसा स्वप्न के अमृत से अमर नहीं होता । १४४

स्थूल दृष्टि के मूर्ख लोग मुझे सचमुच अच्छी तरह से जान लिया ऐसा मानते हैं । किन्तु यह जानना ही उनके जानने के बीच में रुकावट होजाता है । १४५

रत्नबुद्धि की आशा से ग्रस्त, नक्षत्रों के प्रतिबिम्ब की ओर देखकर हंस जैसा उस आभास में फँस जाता है । १४६

बताओ, गंगा समझकर मृगजल के पास गया तो क्या मिलेगा? या सुरतरू समझकर कीकर के पेड़ का आश्रय करने से क्या होगा । १४७

नील मणियों की और एक माला समझकर जब साँप को हाथ लगाया जाए । या रत्न समझकर जब ओले चुने जाएँ । १४८

या यह जमीन का धन मिल गया समझकर जब खैर के अंगारे झोली में भर ले । या अपना प्रतिबिम्ब न समझकर सिंह कुंएँ में कूदे । १४९

इसी तरह से मैं समझकर जिन्होंने इस संसार में कृतसंकल्प से डुबकी लगा दी; उन्होंने चन्द्र समझ, पानी में प्रतिबिम्ब पकड़ा । १५०

फिर कृतनिश्चय व्यर्थ हो गया जैसे किसी ने कांजी पी ली और परिणाम देखने लगा अमृत का ! १५१

अपने अन्तःकरण में विश्वास रखकर, नाशवन्त, ऐसे स्थूल जगत में, अविनाशीस्वरूप में मुझे देखने का यत्न करते हैं । उन्हें मैं कैसे दिखाई दूँगा ! १५२

पश्चिम समुद्र के किनारे को, क्या पूर्वदिशा के मार्ग होते हैं ? या भूसा कूटने से क्या धान मिलेगा ? १५३

इसी प्रकार विकार से भरा हुआ यह स्थूल जगत मैं ही हूँ, ऐसा समझना, यह कोई 'जानना' होगा ? झाग पीने से क्या पानी पिया जैसा होता है ? १५४

इसीलिये मोहग्रस्त मन के कारण, मैं ही विश्व समझकर; भ्रम से, इस जग के सब जन्म कर्म मैं ही करता हूँ ऐसा कहने लगते हैं। १५५

ऐसी रीति से मुझ अनामा को नाम देते हैं। मुझ अकर्मी को कर्मी मानते हैं। मैं विदेही, फिर भी मेरे ऊपर देहधर्म लादते हैं। १५६

मैं निराकार, को आकार। निरुपाधिक को उपाधि। और विधि के अतीत, ऐसे मुझे, आचार आदि व्यवहार चिपकाते हैं। १५७

वर्ण न होते हुए, मुझे वर्ण। निर्गुण को गुण। और पाँव न होते हुए, पाँव। हाथ न होते हुए, हाथ। ऐसा रूप देते हैं। १५८

मुझ अमर्याद का मापन करते है। मैं सर्वत्र होता हूँ फिर भी मुझे स्थानी समझते हैं। यह सब, जैसे बिछौने पर सोया हुआ, वन देखता है, ऐसा समझो। १५९

मुझ अनेत्र को नेत्र। अकान को कान। अगोत्र को गोत्र। अरूप वाले को रूप। १६०

अव्यक्त ऐसे मुझे, व्यक्ति रूप। निरिच्छ को इच्छा। स्वयंतृप्त ऐसे मुझे, तृप्त करने का यत्न करते हैं। १६१

मैं विदेही हूँ फिर भी वस्त्र पहनाते हैं। आभूषण चढ़ाते हैं। मैं सर्वजग का कारण होते हुए, मेरा कारण ढूँढते हैं। १६२

मैं सहज अवस्था में होते हुए भी मुझे रूप करते हैं। मैं स्वयंभू हूँ फिर भी मेरी प्रतिस्थापना करते हैं। मैं सर्वव्यापी फिर भी मुझे बुलाते हैं और विसर्जन भी करते है। १६३

मैं सर्वकाल स्वयं सिद्ध; किन्तु मुझे बाल, तरुण, वृद्ध, ऐसी अवस्थाओं में मानते हैं। मैं केवल एकरूप, किन्तु मेरे सम्बन्ध मानते हैं। १६४

अद्वैत ऐसे मुझे, द्वैतभाव। अकर्ता को कर्म। और मैं अभोक्ता, फिर भी मुझे 'खाता हूँ' मानते हैं। १६५

मुझे कुल न होते हुए, मेरे कुल का वर्णन करते हैं। मैं अविनाशी, लेकिन मेरे निधन से दुःखी होते हैं। सर्वों के अन्तर में जो मैं हूँ, उस मुझे शत्रु-मित्र मानते हैं। १६६

मैं आत्मानंद में रमा हुआ। ऐसे मुझे, अनेक सुखों का इच्छावंत समझते हैं। मैं सर्वत्र सम होते हुए भी, मुझे एकदेशी मानते हैं। १६७

मैं चराचर में एकही आत्मा, फिर भी कहते हैं कि मैं एक का पक्ष करता हूँ और एक को क्रोध से मारता हूँ। ऐसा प्रचार करते हैं। १६८

अधिक क्या बोलूँ, यह सब सामान्य मनुष्यधर्म, वह मैं ही हूँ, ऐसा उनको विपरीत ज्ञान होता है। १६९

जब कोई आकार सामने दिखता है, तब देव समझकर मेरी भक्ति करते हैं। किन्तु वह ही टूट जाए तो बेकार करके फेंक देते हैं। १७०

मुझे ऐसी-ऐसी रीति से मानवरूप में जानते हैं। इसीलिये यह विपरीत ज्ञान, सत्यज्ञान को अंधेरे में डालता है। १७१

गीता १२

इसीलिये उनका जन्म व्यर्थ हो जाता है। जैसे पानी न होने वाले बादल। या मृगजल की लहरियाँ केवल दूर से देखने योग्य ही होती हैं। १७२

या जैसे मिट्टी के घुड़सवार। जादुगर के जेवर। या हवाई किलों के पटांगण। ऐसा केवल भास उत्पन्न करने वाले। १७३

ऐसे सावरी का पेड़ सीधा बढ़ गया, उसको उपर फल नहीं और अन्दर से खोखला। या बकरे के गले वाले थन। १७४

ऐसा उन मूर्खों का जीना और उनका किया हुआ कर्म, धिक्कार हो ! जैसा सावरी का फल न ले सकते, न दे सकते। १७५

फिर उन्होंने जो-जो कुछ पढ़ा, वह बन्दर के नारियल तोड़ने जैसा होता है। या अन्धे के हाथ में पड़े हुए मोती। १७६

ऐसे लोगों के शास्त्र, मानो कुमारी के हाथ में दिया हुआ शस्त्र या नीच मनुष्य को कहा हुआ बीजमंत्र। १७७

इसी तरह से सारा ज्ञानजात और किया हुआ आचरण, यह सब, हे अर्जुन, व्यर्थ हो गया क्योंकि वे चित्तहीन होते हैं। १७८

तमोगुण की निशाचरी राक्षसी, जो सतबुद्धि को भगा देती है और विवेक का नामनिशान नहीं रखती। १७९

ऐसी आसुरीप्रकृति के वे अधीन हो गए। इसलिये चिन्ता से उनके गाल बैठ गए, और तामसी के मुख में चले गए। १८०

जहाँ आशा की लार में हिंसारूपी जिव्हा घूमती रहती है; और संतोष की हड्डियाँ चूसती रहती है। १८१

जो तामसी, अनर्थ के कान तक, गाल चाटती हुई, जिव्हा बाहर निकालती है। जो सदा मस्ती में रहने वाली। प्रमाद पर्वत की दरी है। १८२

उसकी द्वेष की दाड़ें, ज्ञान को दबा-दबाकर चकनाचूर करती हैं। वह स्थूलबुद्धि के मूर्ख को अगस्ती की पकड़ है। १८३

इसी तरह से आसुरीप्रकृति के मुँह में जो ग्रास होगए, वे व्यामोह के कुण्ड में डूब गए। १८४

संक्षिप्त में, जो तम के चक्र में फँस गए वे विचार के हाथ में आते नहीं। वे कहाँ गए, इसका पता भी नहीं लगता। १८५

इसीलिये यह चर्चा अब यहाँ ही छोड़ते हैं। मूर्ख के सम्बंध में क्या बोलना ! बेकार बढ़ाने से वाणी थक जाएगी। १८६

ऐसा श्री कृष्ण बोले। सुनकर अर्जुन ने कहा: सच है। फिर श्री कृष्ण कहने लगे: तो अर्जुन, अब वह संतकथा सुनो जहाँ वाणी को आश्रय मिलता है। १८७

गीता १३

तो जिनके निर्मल मन में मैं सदा ही स्थानबद्ध होता हूँ। जो निद्रा में होते हुए भी, स्वयं वैराग्य जिनकी उपासना करता रहता है। १८८

जिनकी आस्था के सद्भाव में, धर्म, राज्य करता है। जिनका मन, विवेक को प्रिय स्थान होता है। १८९

जो ज्ञानगंगा में स्नान करते हैं। समाधान सेवन कर, तृप्त होते हैं। जो शान्ति की नई बहार होते हैं। १९०

जो पूर्णत्व को उभरे हुए अंकुर। जो धैर्य-मंडप के खम्बे। जो आनंद-सागर में जैसे कोई धोकर भरे हुए घट हैं। १९१

उनकी भक्ति की ऐसी महानता है कि वे मोक्ष को भी 'परे हटजाओ' कहते हैं। जिनके सहज कर्म में भी नीति निवास करती हुई दिखती है। १९२

जिनकी सब इन्द्रियें शान्ति के अलंकार पहनी हुई हैं। जिनका अन्त:करण, मुझ व्यापक को बंधन है। १९३

और मेरे पूर्ण स्वरूप का ज्ञान उनको होकर, वे सज्जन दैवीप्रकृति के दैव होते हैं। १९४

फिर बढ़ते प्रेम से वे महान आत्मा मेरी भक्ति करते हैं, किन्तु उनके मनोधर्म को द्वैत का स्पर्श नहीं होता। १९५

हे अर्जुन, ऐसे वे मैं ही होकर मेरी सेवा करते हैं। किन्तु उनमें जो नाविन्य है वह मैं तुझे कहता हूँ। सुनो। १९६

गीता १४

उनके कीर्तन के नृत्यगान से प्रायश्चित के व्यापार बन्द हो जाते हैं। उन्होंने पाप को पूर्ण नष्ट किया हुआ होता है। १९७

उन्होंने यम-नियम आदि गोष्ठी को निस्तेज बना दिया। तीर्थस्थान का महत्व मिटा दिया। यमलोगों की हलचल बन्द करदी। १९८

यम कहने लगा: क्या यमूँ ! दम कहने लगा: किसका दमन करूँ ! तीर्थ स्थान कहने लगे: जहाँ औषध जितना ही दोष नही, वहाँ हम क्या खाएँ। १९९

ऐसे वे मेरे नामघोष से सर्व विश्व के दुःख नष्ट करते हैं और सब जग महासुख से गूञ्जने लगता है। २००

जो उदय न होते हुए, प्रकाश देते हैं। अमृत बिना अजर-अमर करते हैं। और योगाचरण के बिना मोक्षदर्शन करवाते हैं। २०१

राजा, रंक, ऐसा भाव उनको नहीं होता। छोटा-बड़ा ऐसा भेद वे नहीं करते। चारों ओर सर्व जग को आनंद का प्रतिष्ठान दिखाते हैं। २०२

कोई लोग बैकुण्ठ को जाते हैं; परन्तु इन्होंने सब जग ही बैकुण्ठ कर दिया। ऐसा नामघोष के महत्व से विश्व में उजाला किया। २०३

आत्म तेज से वे सूर्य जैसे तेजस्वी। किन्तु सूर्य अस्त होता है, यह दोष भी उनमें नहीं। चन्द्र कभी-कभी पूर्ण होता है, ये सदा ही पूर्ण रहते हैं। २०४

मेघ उदार है, किन्तु वह भी वर्षा करके खाली हो जाता है; इसलिये वह भी उपमा देने में पूरा नहीं। ये सज्जन निश्चित ही कृपालु सिंह हैं। २०५

एक बार मेरा नाम मुख में आने के लिये हजारों जन्म बिताने पड़ते हैं। वह मेरा नाम इनकी जिव्हा पर आनंद से नाचता है। २०६

तो मैं बैकुण्ठ में नहीं होता, सूर्य बिम्ब में भी मैं नहीं दीखता, और योगी के मन को भी पार करजाता हूँ। २०७

किन्तु अर्जुन, जहाँ ये मेरा नाम संकीर्तन करते हैं; कभी न दिखने वाला मैं, वहाँ मिलता हूँ। २०८

मेरे गुणगान करने से कैसे वे तृप्त होते हैं देखो, देश, काल भूलकर कीर्तनसुख में एकरूप हो जाते हैं। २०९

'कृष्ण विष्णु गोविन्द हरी' ऐसे अखण्ड नामघोष और बीच में, आत्मज्ञान का महत्व, खूब गाते रहते हैं। २१०

यह अभी बहुत हो गया। अर्जुन सुनो, इसी तरह से मेरा कीर्तन करते हुए बहुत से लोग इस चराचर में संचार करते हैं। २११

फिर और कोई भक्त अपने बड़े प्रयत्न से पंचप्राण और मन, इनको अपना बनाकर; २१२

बाहर यम-नियमों का काटेंदार बाड़ा तैयार कर, अन्दर वज्रासन का किला बाँधते हैं। और ऊपर प्राणायाम की तोपें लाकर बैठाते हैं। २१३

वहाँ कुण्डलिनी के प्रकाश में प्राणवायु के बड़े संयोग से सतरावि का तालाब जीतते हैं। २१४

उस समय प्रत्याहार में बड़ा पराक्रम कर, विकार के चबूतरे तोड़कर और इन्द्रियों को बन्दी कर, हृदय के कारागार में रखते हैं। २१५

और उस समय धारणाओं के घोड़े खचाखच जमा कर, पंचमहाभूतों को इकट्ठा कर, चतुरंग शक्ति की संकल्प-सेना ध्वंस करते हैं। २१६

बाद में, हम जीते !जीते ! ऐसे जयघोष से, ध्यान का ध्वज लहराता रहता है, और तन्मयता का ऐक्य-छत्र झलकने लगता है। २१७

उसके बाद में सम्पूर्ण समाधि वैभव के आत्मानुभव के राजसिंहासन पर उनको समरसता का अभिषेक होता है। २१८

इसी प्रकार का यह अत्यंत गहन मेरा भजन है। अब अर्जुन, और कोई भक्त जो करते हैं वह मैं तुझे कहता हूँ, सुनो। २१९

तो, कपड़े में ताना-बाना के धागे जैसे एक ही होते हैं, उसी तरह से सर्व चराचर में वे मेरे सिवाय कुछ नहीं जानते। २२०

ब्रह्म से लेकर मक्खी तक यह सब मेरा ही रूप है, ऐसा जानकर; २२१

वे छोटा-बड़ा भाव करते नहीं। सजीव-निर्जीव यह भाव नहीं जानते। जो वस्तु सामने आएगी वह मैं ही समझकर, साष्टांग प्रणाम करते हैं।२२२

अपना श्रेष्ठपन भूलकर, सामने योग्य-अयोग्य न देखते हुए, सदैव व्यक्तिमात्र के सामने नमन करना ही उनको अच्छा लगता है। २२३

जैसे पानी ऊँचाई से तल की ओर ही जाता है। उसी तरह से किसी भी प्राणी को देखते ही नमन करना, ऐसा उनका स्वभाव ही होता है। २२४

या फलभार से पेड़ों की टहनी सहज ही भूमि की ओर झुकी हुई होती है। उसी तरह से सर्व भूतमात्र के सामने वे झुकते हैं। २२५

वे सदैव गर्वरहित होते हैं। नम्रता, यह उनकी सम्पत्ति है। जय-जय कर, वे मेरे चरणों में अर्पित करते रहते हैं। २२६

ऐसे नमन से उनके मन में मान-अभिमान नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये वे एकदम मत्स्वरूप हो जाते हैं, और ऐसे सदैव एकरूप होकर मेरी उपासना करते हैं। २२७

अर्जुन, यह श्रेष्ठभक्ति मैंने तुझे कही। अब ज्ञानयज्ञ से जो पूजन करते हैं उनके बारे में सुनो। २२८

किन्तु अर्जुन, भजन करने का तरीका तो तू जानता ही है, क्योंकि पीछे हमने इसका विचार किया हुआ है। २२९

तब अर्जुन ने कहा: विचार किया यह सत्य है; यह आप के प्रसाद का कार्य है। किन्तु अमृत के भोजन से क्या कभी मन भरता है ? २३०

इस अर्जुन-भाषण पर श्री कृष्ण उसपर बड़े प्रेम से देखने लगे और अन्त:करण में आनंदित होकर डोलने लगे। २३१

वे कहने लगे: अर्जुन, तुमने बोला यह अच्छा किया। नहीं तो मेरा कहना व्यर्थ हो जाता। यह तेरी आस्था ही मुझे बुलवा रही है। २३२

अर्जुन कहने लगा: महाराज, आप ऐसा क्यों बोलते हैं। चकोर न होता तो क्या चाँदनी होती ही नहीं ? जग को शान्त करना, यह चाँदनी का धर्म ही नहीं क्या ! २३३

वह चकोर अपनी इच्छा के लिये चन्द्र की ओर चोंच करता है; उसी तरह से हे कृपासिन्धु भगवान, हम जितनी विनती करें, वह थोड़ी है। २३४

महाराज, मेघ अपने सामर्थ्य से जग की इच्छा पूरी करते हैं। नहीं तो उस बरसाव के सामने चातक की प्यास तो कितनी होगी ? २३५

एक अंजलि पानी के लिये जैसे गंगा के पास ही जाना पड़ता है। वैसे ही इच्छा छोटी हो या बड़ी वह भगवान को ही कहनी चाहिये। २३६

श्री कृष्ण बोले: अरे यह छोड़दो। हमको जो संतोष हुआ है, उसके बाद में स्तुति सहन हो, ऐसा कुछ रहा नहीं। २३७

तुम अच्छी तरह से सुन रहे हो इसलिये मुझे बोलने में प्रेम होता है। ऐसा कहकर श्री हरि आनंद से बोलने लगे। २३८

गीता १५

तो, वह ज्ञानयज्ञ ऐसा होता है: जहाँ आदिसंकल्प, यह खम्बा। पंचमहाभूत, यह मंडप। और द्वैत, यह यज्ञपशु। २३९

फिर पंचमहाभूतों के विषेश धर्म, इन्द्रियाँ, प्राण, ये यज्ञसामग्री। और अज्ञान, यही घृत। २४०

वहाँ साम्य अवस्था, यही पक्की वेदी। उसके ऊपर मन और बुद्धि के यज्ञकुण्ड में ज्ञान की प्रज्ज्वलित अग्नि। २४१

विवेकयुक्त बुद्धिकौशल, यही मंत्रविद्या का गौरवगान। शान्ति, यह यज्ञ पात्र। और जीवात्मा, यह अग्निहोत्री। २४२

वह अनुभव के पात्रों से, विवेक महामंत्र के गायन से, ज्ञान के अग्निकुण्ड में द्वैत की आहुति देता है। २४३

वहाँ अज्ञान नष्ट हो जाता है। यज्ञ और यज्ञ करने वाला, यह भाव नहीं रहता। और बाद में आत्मानंद के स्नान से जब पूर्णाहुति होती है; २४४

तब पंचमहाभूत, इन्द्रियें और उनके विषय, ये अलग अलग हैं - ऐसा भाव उसमें नहीं रहता । उसकी आत्मबुद्धि में सब एकही होता है । २४५

अर्जुन, जैसे कोई जाग आने के बाद कहता है कि मैं निद्रा के कारण स्वप्न की विचित्र सेना होगया था ना । २४६

अब वह सेना तो सेना नहीं, सब अकेला मैं ही हूँ । ऐसे एकत्वभाव में उसको विश्व दिखता है । २४७

फिर वह एक प्राणी, यह भाषा रहती नहीं । आब्रह्म परमात्मबोध से वह भर जाता है । और इसी तरह से वह ज्ञानसामर्थ्य से एकरूप होकर मेरी भक्ति करता है । २४८

या अनादि काल से ये जो अनेकत्व है । एक जैसा दूसरा कोई नहीं । और नामरूप आदि भी भिन्न होते हैं । २४९

ऐसा विश्व भिन्न होते हुए भी उसके ज्ञान में भेद नहीं रहता । जैसे अवयव अलग होते हुए भी वे एक ही देह के होते हैं । २५०

या छोटी-बड़ी टहनियां, किन्तु जैसे वे एक ही वृक्ष की या किरणें अनेक, किन्तु एक ही सूर्य की । २५१

इसी तरह से अलग-अलग व्यक्ति, अलग-अलग नाम, अलग-अलग स्वभाव, ऐसे भेद-भाव समेत, अभेद्य, ऐसा मुझे जानता है । २५२

ऐसे अलग अलगपन से हे अर्जुन, उनका ज्ञानयज्ञ सिद्ध हो जाता है । क्योंकि ज्ञानी होने के कारण बुद्धि में भेद-भावना आने देते नहीं । २५३

क्योंकि वे जब-जब, जहाँ-जहाँ, जो-जो कुछ देखते हैं, वह मेरे सिवाय और नहीं, ऐसा बोध उनको होता है । २५४

देखो बुलबुला जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहॉ उसको एक पानी का ही आधार होता है । फिर बुलबुला होकर रहे, या नष्ट होकर, दोनों अवस्था पानी में ही हैं । २५५

हवा से धूलिकण उड़ गए तब भी उनका पृथ्वीपन गया नहीं । और बाद में नीचे गिर गए, तो भी पृथ्वी । २५६

इसी तरह से जहॉ भी हो, जिस भाव में हो और जो भी हो, या न भी हो, किन्तु ये सब मैं ही हूँ, ऐसा उनका भाव होता हैं । २५७

अरे, जितनी मेरी व्याप्ति, इतनी ही उनकी प्रतीति । ऐसे वे अनेक आकार में अनेक होकर रहते हैं । २५८

जैसा यह सूर्यबिम्ब सब के सदैव सामने ही होता है । इसी तरह से हे अर्जुन, वे इस सर्व विश्व को, सामने ही होते हैं । २५९

अरे, उनके ज्ञान को पीठ-पेट कुछ नहीं होता । जैसे अर्जुन, वायु, आकाश के सर्वांग में होती है । २६०

इसी तरह से अर्जुन, जितना मैं इस विश्व को, वह ही तुलना उनके सद्‌भाव को । इसीलिये न करते हुए भी वह मेरा भजन होता है । २६१

वैसे देखा जाए, तो जब मैं ही सर्व हूँ, तो उसका माने किसी ने ही किसी की भक्ति की नहीं है । इसमें यह न जानना, यही प्राप्ति न होने का कारण है । २६२

किन्तु यह छोड़दो । इस उचित ज्ञानयज्ञ से यज्ञ करने वाले मेरी ही उपासना करते हैं, यह तुझे बता दिया । २६३

यह सब सदैव, सर्व के मुख से सहजरीति से मुझ अकेले को ही अर्पण होजाता है । किन्तु अज्ञान के कारण मूर्ख मुझे प्राप्त नही कर पाते ।२६४

गीता १६

किन्तु जब ज्ञान का उदय हो जाता है तब मैं ही वेद हूँ और उसमें से जो-जो विधि उत्पन्न होती है वह कर्मयज्ञ भी मैं ही हूँ। २६५

फिर उन योग्यकर्मों से जो उत्तम पूर्णयज्ञ प्रगट होता है, अर्जुन, वह भी मैं ही होता हूँ। २६६

स्वाहा मैं ही। स्वधा भी मैं ही । सोम आदि विविध वनस्पति, वह भी मैं ही हूँ। समिधा मैं। घृत मैं। मंत्र मैं, और हवि भी मैं। २६७

यज्ञ करने वाला मैं। जिसमें हवन करते हैं, वह अग्नि भी मेरा ही रूप, और हवन करने के साधन भी मैं ही हूँ। २६८

गीता १७

और जिसके अंग-संयोग से इस प्रकृति के अष्टांग, जगरूप में जन्म लेते हैं। वह पिता भी मैं ही हूँ। २६९

अर्धनारीनटेश्वर में जैसा वह ही पुरुष और वह ही नारी होता है, उसी तरह से मैं इस चराचर में माता भी हूँ। २७०

और उत्पन्न हुआ जग जहाँ होता है और जिस कारण से ये जीवन्त प्राणी बढ़ते हैं, वह मेरे सिवाय सचमुच और कोई भी नही। २७१

ये दोनों, प्रकृति और पुरुष, जिसके मन न होते हुए मन में से उत्पन्न होते हैं, वह इस त्रिभुवन मे सर्व विश्व का पितामह भी मैं ही हूँ। २७२

और अर्जुन, सब ज्ञानेच्छु के मार्ग जिस गाँव में आते हैं, जिसको वेदों के चौराहे पर 'एक ही जानने योग्य' ऐसा कहते हैं; २७३

जहाँ ना-ना मतों की एकरूपता होती है, शास्त्रों का परस्पर मतभेद नष्ट हो जाता है, और सर्व गुमराह ज्ञान भी जहाँ मिल जाते हैं; और जिसको पवित्र कहते हैं; २७४

और जब ब्रह्मबीज को घोष, ध्वनि, नाद, आकार, ऐसे जो अंकुर फूटते है; उनके रहने का ठिकाना, जो ओंकार; वह मैं हूँ। २७५

जिस ओंकार की गोद में अ, उ, म, ऐसे अक्षर थे । वे अक्षर अपने जन्म के साथ ही तीनों वेद लेकर आए। २७६

इसीलिये यह ऋक्, यज्, साम, तीनों वेद मैं हूँ। ऐसे आत्माराम बोले। संक्षिप्त में, वेदों का कुलक्रम भी मैं ही हूँ। २७७

गीता १८

ये सब चराचर जिस प्रकृति में समाया हुआ है, वह थकने के बाद जहाँ विश्राम करती है; वह परमगति भी मैं ही हूँ। २७८

और जिसके आधार से प्रकृति जगती है, जिसके अधिष्ठान से विश्व उत्पन्न होता है, और जो इस प्रकृति में आकर गुणों का उपभोग लेता है। २७९

वह इस विश्वलक्ष्मी का पति, हे अर्जुन, मैं ही। इस सब त्रिलोक का स्वामी भी मैं ही। २८०

आकाश सर्व व्याप्त करे, वायु क्षणभर भी स्वस्थ न हो, अग्नि दहन करे, जल वर्षा करे; २८१

पर्वत अपनी स्थिति न छोड़े, समुद्र मर्यादा का उल्लंघन न करे, पृथ्वी सब भूतों का भार सहन करे, यह सब मेरी आज्ञा है। २८२

मेरे कहने से ही वेद बोलते हैं। मेरे चलाने से ही सूर्य चलता है। मेरे हिलाने से ही जग को चेतना देने वाला प्राण हिलता है। २८३

मेरे नियमानुसार काल. सर्व भूतमात्र को ग्रासता है । इतना कहने में हे अर्जुन. सबकुछ आगया । २८४

ऐसा जो सामर्थ्यवान, वह विश्व का स्वामी मैं ही हूँ; और आकाश जैसा साक्षीभूत भी मैं ही हूँ । २८५

अर्जुन, जो नाम रूप से सर्वत्र भरा हुआ है और जो स्वयं उस नामरूप को संभालने वाला है । २८६

जैसे पानी में तरंग और तरंग में पानी होता है; उसी न्याय से यह सब विश्व जहाँ वास करता है, वह निवास मैं ही हूँ । २८७

जो मुझे अनन्य भाव से शरण आता है, उसका जन्म-मरण मैं समाप्त करता हूँ । इसलिये ऐसे शरणागत को शरण आने का एक ही स्थान, वह मैं । २८८

मैं ही अनेकपन से अलग-अलग प्रकृति के गुणों में इस चैतन्यमय जग में प्राणरूप से रहता हूँ । २८९

जिस तरह से समुद्र, या पानी के डबके में भेद न करते हुए, सर्वत्र सूर्य प्रतिबिम्बित होता है; उसी तरह से ब्रह्मा आदि सर्व भूतमात्र के साथ एकत्व से मैत्री करने वाला मैं ही हूँ । २९०

अर्जुन, मैं ही इस त्रिभुवन को संभालने वाला । उत्पत्ति, स्थिति और लय; इन तीनों अवस्थाओं का मूल हूँ । २९१

बीज से शाखारूप वृक्ष उत्पन्न होता है और बाद में वह वृक्षपन फिर बीज में समा जाता है । इसी तरह से सब कुछ संकल्प से उत्पन्न होता है. और सब कुछ संकल्प में ही लय होजाता है । २९२

ऐसा जग का बीज, वह संकल्प, जो अव्यक्त और नामनारूप होता है, वह कल्पान्त में जहाँ स्थिर होता है, वह स्थान भी मैं हूँ । २९३

ये सब नाम-रूप निकल जाते हैं, वर्ण-व्यक्ति भाव समाप्त होता है, जाति भेद रहते नहीं, और जब आकाश का लय हो जाता है। २९४

उस समय संकल्प, वासना, संस्कार, ये फिर आकार पकड़ने की इच्छा से जहाँ अमर होकर रहते हैं, वह स्थान भी मैं ही हूँ! २९५

गीता १९

मैं सूर्यरूप में तप्त करता हूँ या सुखाता हूँ। बाद में इन्द्र होकर बरसता हूँ और फिर भरता हूँ। २९६

अग्नि जब लकड़ी खाती है, तब लकड़ी अग्नि बन जाती है। वैसा मेरा मरने वाला और मारने वाला रूप देखो। २९७

इसीलिये मृत्यु के बारे में जो-जो होता है वह भी मेरा ही रूप [illegible] और अमर, ऐसा जो-जो है, वह भी सहज रीति से मेरा ही रूप है। [illegible] हूँ। [illegible]

अब जो कुछ विस्तार से कहना है वह एकसाथ [illegible] और असत्य जो है वह भी मैं हूँ। [illegible]

इसीलिये अर्जुन, मैं नहीं, [illegible] कौनसा स्थान? [illegible] का दुर्दैव देखो, वे मुझे देखते नहीं। ३००

पानी के बिना, तरंग सूखेंगे; वानी के बिना, प्रभा देख नहीं पाएगी: इसीतरह से, वे मैं ही, किन्तु मैं नहीं होते; यह आश्चर्य देखो! ३०१

यह सब विश्व अन्तर-बाहर मैंने ही व्याप्त किया है। यह जग केवल मत्स्वरूप से ही ठोस भरा हुआ है। ऐसा होते हुए भी, उनको क्या करना पड़ गया कि वे, मैं नहीं हूँ ऐसा कहते हैं। ३०२

अमृत के कुएं में गिरने के बाद अपने को किसलिये बाहर निकालना है ? किन्तु भाग्यहीन का ऐसा ही होता है। उसको क्या करें। ३०३

एक ग्रास अन्न के लिये अन्धा इधर-उधर दौड़ता है। किन्तु अन्धेरेपन से चिन्तामणि की ठोकर लग गई, तो पाँव से दूर करता है। ३०४

ज्ञान जब खो जाता है तब ऐसी दशा होती है। इसलिये ज्ञान के बिना जो कुछ किया जाता है, उस में 'किया' ऐसा होता भी नहीं। ३०५

अन्धे को गरुड़ के भी पंख हों तो वे पंख किसको उपयोगी होंगे ? उसी तरह से ज्ञान के बिना सत्कर्म के यत्न व्यर्थ होजाते हैं। ३०६

गीता २०

अर्जुन देखो, आश्रमधर्म का आचरण करने में शास्त्रोक्त व्यवहार करने में, जो स्वयं आदर्श होते हैं। ३०७

यज्ञ किया तो, अन्दर से तीनों वेदों का प्रणाम चूकता है। और जिनके सामने कार्य, फल के साथ खड़ा रहता है। ३०८

ऐसे सोमपान करने वाले दीक्षित जो स्वयं यज्ञ के स्वरूप ही होते हैं, वे भी उस पुण्य के रूप में पाप ही जोड़ते रहते हैं। ३०९

जो तीनों वेदों का पठन कर, शतयज्ञ कर मुझे छोड़, उन यज्ञों के आधार पर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा करते हैं। ३१०

कल्पतरू के तले बैठे, और अपनी झोली को गाँठ बाँधली। और फिर अर्जुन, वह दैवहीन भिक्षा मांगने निकलता है। ३११

इसी तरह से शतयज्ञ से मेरा पूजन किया,, और इच्छा करते है स्वर्ग-सुख की ! अब बताओ इसको क्या पुण्य कहूँ ? केवल पाप ही नही क्या ! ३१२

इसीलिये मेरे सिवाय स्वर्ग-प्राप्ति माने अज्ञान का पुण्य मार्ग। जो ज्ञानी होते हैं वे इसको हानिकारक संकट कहते हैं। ३१३

नहीं तो मेरे शुद्ध नित्यानंद स्वरूप के सिवाय, केवल नाम का सुख लेने वाले, स्वर्ग की प्राप्ति करके नरक का दुःख ही पाते हैं। ३१४

अर्जुन, मेरी प्राप्ति के लिये स्वर्ग, नरक, ये दोनों मार्ग चोरों के आड़मार्ग समझलो। ३१५

पुण्यात्मक-पाप से स्वर्ग मिलता है और पापात्मक-पाप से नरक। फिर जिससे मेरी प्राप्ति होती है वह शुद्ध पुण्य समझलो। ३१६

और अर्जुन, मुझ में होते हुए भी, जिससे मैं दूर रहता हूँ, वह पुण्य ! ऐसा कहने में उनकी जिव्हा टूटती कैसे नहीं । ३१७

किन्तु वह अभी छोड़दो और सुनो, इसी प्रकार से वे दीक्षित मेरी पूजा करके स्वर्गभोग की इच्छा करते हैं। ३१८

फिर, जिससे मेरी प्राप्ति नहीं होती ऐसा पापरूप पुण्य कर, उसके फलस्वरूप वे सम्मानपूर्वक स्वर्ग में आते हैं। ३१९

जहाँ अमरत्व, यही सिंहासन। ऐरावत जैसे वाहन, और अमरावती जैसी राजधानी होती है। ३२०

जहाँ महासिद्धि के भण्डार होते हैं। अमृत के कोठार होते हैं। और जिस गाँव के जानवर, कामधेनु होते हैं। ३२१

जहाँ नौकरों का अभाव, देव पूरा करते हैं; चिन्तामणि जैसे, जहाँ अनेक पाषाण होते हैं; और सुरतरू के रम्य व आनंदायी उद्यान होते हैं। ३२२

जहाँ गंधर्वगायन का संगीत होता है। रम्भा जैसी नर्तकी होती है। और उर्वशी, अन्तःपुर में विलासिनी स्त्री होती है। ३२३

जहाँ मदन, बिछौने तैयार करता है। चन्द्र, छिड़काव का कार्य करता है। और वायु के जैसे, हर-कामी सेवक दौड़ते रहते हैं। ३२४

जहाँ स्वस्तिश्री करने वाले ब्राह्मण स्वयं बृहस्पति हैं। और देवगणों की पंक्तियाँ जहाँ कारोबार चलाती हैं। ३२५

जहाँ इन्द्र जैसे लोकपाल, मान्यवर अधिकारी होते हैं। और उच्चैश्रवा की सवारी होती है। ३२६

यह अधिक क्या कहूँ, जो इसी प्रकार से इन्द्र-सुख जैसे भोग, तब तक ही भोगते हैं जब तक कुछ पुण्य शेष है। ३२७

गीता २१

बाद में उनके पुण्य की कमाई जब समाप्त होजाती है ओर इन्द्रपन का रंग उतर जाता है, तो फिर मृत्युलोक की ओर आने लगते हैं। ३२८

जैसे वेश्या-भोग लेने वाले का पैसा समाप्त हुआ, कि फिर उसे वेश्या के द्वार को भी कोई हाथ लगाने दे[illegible] नहीं। उसी प्रकार इन दीक्षितों की यह लाजभरी कथा क्या वर्णन करूं। ३२९

संक्षिप्त में, पुण्य करके जिन्होंने स्वर्ग की इच्छा कर ली; वे साथ होते हुए भी, मुझे भूल गए। उनका अमरपन व्यर्थ होकर, वे फिर मृत्युलोक में आते हैं। ३३०

माता के उदर के खाँचे में दुःख कष्ट भोगते रहकर, नरक की गंदगी में नौ मास तक उबलकर, जन्म-जन्म मरते रहते हैं। ३३१

अरे, स्वप्न में धन [illegible] गया, किन्तु जाग आते ही सब चला गया ना ? इसी प्रकार का वेदज्ञानियों का स्वर्गसुख होता है। ३३२

अर्जुन, वेद भी हों, तब भी वे मुझे न जानकर व्यर्थ हो जाते है। यह धान फेंक कर भूसा लेने जैसा ही है। ३३३

मुझ अकेले बिना, इन तीनों वेदों के धर्म अकारण हो जाते हैं। इसलिये मुझे जानकर और कुछ न जानने में तुम सुखी हो जाओगे। ३३४

गीता २२

किन्तु सर्वभाव से परिपूर्ण होकर, अन्तःकरण पूर्वक जो मुझे मिलगए, उनको कुछ भी करना नहीं होता हैं। जैसे गर्भ-गोल कुछ भी व्यवहार नही जानता। ३३५

उसी तरह से जिनको मेरे सिवाय अन्य कुछ भी अच्छा नही लगता, अपने जीवन को उन्होंने मेरा ही नाम दे दिया। ३३६

ऐसे अनन्यगति चित्त से मेरा चिन्तन करते हुए ये मेरी उपासना करते है। उनकी मैं स्वयं सेवा करता हूँ। ३३७

वे जिस समय एकत्व से मेरे प्रवाह में मिल गए, उसी समय उनकी चिन्ता मुझ पर आगई। ३३८

फिर उनको जो-जो करना होता है वह सारा मेरे ऊपर आजाता है। जैसे, पंख न फूटे हुए पक्षियों के लिये ही, पक्षिनी का जीना होता है। ३३९

वे अपनी भूख-प्यास नहीं जानते। उन बच्चों को जो योग्य, वह माता को ही करना पड़ता है। ऐसे, प्राण के साथ जो मुझे मिल गए, उनका कुछ भी करने में मुझे लज्जा नहीं होती। ३४०

उनको मेरे से एकरूपता की इच्छा हो, तो उनकी वह इच्छा मैं ही पूरी कर लेता हूँ। या उनको सेवा करने की इच्छा हो, तो उनके सामने मैं मेरा प्रेम खड़ा कर लेता हूँ। ३४१

ऐसा जो-जो भाव वे मन मे रखते हैं, वह बाद मे मुझे ही पूरा करना पड़ता है। और वह पूरा करने के बाद, उसका रक्षण भी मुझे करना पडता है। ३४२

अर्जुन, यह उनका सब योगक्षेम मैं ही उठाता हूँ। उनके सर्वभाव को मैं आश्रय हो जाता हूँ। ३४३

गीता २३

अब और भी कुछ सप्रदाय हैं, किन्तु उनमे लोग मुझे सर्वत्र समाया हुआ नही जानते, और 'अग्नये स्वाहा' ऐसा कहते हुए, अग्नि, इन्द्र, सूर्य, सोम, इनका यज्ञ करते हैं। ३४४

वह भी सचमुच मेरे लिये ही होता है क्योंकि मैं ही यह सारा हूँ। परन्तु वह भक्ति, योग्य नही; वह अयोग्य होती है। ३४५

देखो, वृक्ष की शाखाएँ, पान, यह क्या एक बीज के नही होते ? किन्तु पानी लेना, यह जड़ों का कार्य ; इसलिये वह जड़ों को ही मिलता है। ३४६

इन्द्रियाँ दस है. वे सब एक ही देह म होती हैं और उनके सेवन किये हुए विषय अलग-अलग होते हुए भी एक ही जगह पहुँच जाते हैं। ३४७

फिर भी अच्छा खाना पकाकर, कान मे कैसे डालें ? फूल लाकर. सुगन्ध के लिये आँखों को कैसे लगाएँ ? ३४८

वहाँ रस, मुख को ही लेना होता है; सुगंध. नाक से ही लेनी होती है; इसी तरह से मेरा यजन. मैं समझकर ही करना चाहिये। ३४९

और मुझे न जानते किया हुआ भजन, वह व्यर्थ ही मेहनत। इसीलिये कर्म की आँखें. जो ज्ञान, निर्दोष होनी चाहियें। ३५०

गीता २४

वैसे तो हे अर्जुन देखो, इन सब यज्ञ-क्रियाओं को मेरे सिवाय कौन भोगता है ? ३५१

सर्व यज्ञों का मैं ही आदि हूँ और यज्ञ करने का कारण भी मैं हूँ । फिर भी दुर्बुद्धिलोग मुझे छोड़, देवों का भजन करते हैं । ३५२

गंगा का पानी जैसे देव, पित्र, इनके उद्देश्य से, गंगा को ही अर्पण करते है, उसी तरह से मेरा मुझे ही देते हैं किन्तु अलग-अलग भाव से । ३५३

इसीलिये अर्जुन, वे मुझे पूर्णतः प्राप्त नही करते । उनके मन में जिनकी आस्था होती है, वहाँ ही वे जाते हैं । ३५४

गीता २५

मन, वाचा, इन्द्रिय, इनके संयोग से जिनका भजन देवों के लिये होता है; वे शरीर-त्याग के बाद, देवों को प्राप्त होते हैं । ३५५

या जिनके अन्तःकरण में पितरों के सम्बंध मे व्रत रहते है, उनको जीवन के अन्त में पितरलोक ही मिलता है । ३५६

या बिल्कुल सामान्य देव या भूत जिनके परमदैवत होते हैं और जो जारण-मारण आदि अभिचारों से उनकी उपासना करते हैं; ३५७

उनकी देह का परदा फटते ही, एकदम, वे भूतयोनि में प्रवेश करते हैं । संक्षिप्त में, उनके संकल्पानुसार उनके कर्म उनको फल देते हैं । ३५८

फिर जिन्होंने आँखों से मेरा ही दर्शन लिया; मेरा ही गुणगान कानों से सुना; मन में मेरी ही भावना ली; वाचा से मेरी ही स्तुति की । ३५९

सर्वांग से सर्वत्र मैं ही समझकर जो मुझे नमस्कार करते हैं । दान-पुण्य आदि कर्म मेरे ही उद्देश्य से करते हैं; ३६०

जिन्होंने मेरा ही अभ्यास किया। जो अन्तर-बाहर मेरे ही आनंद में रम गए। जो केवल मेरे लिये ही जगते हैं; ३६१

जो अगर अंपने में अहंकार रखते हैं तो वह केवल 'हम हरिदास' ऐसी प्रतिष्ठा से। उनको इस जग में एक ही लोभ, तो केवल मेरा। ३६२

जो मेरी ही कामना के लिये सकाम होते हैं। मेरे ही प्रेम से प्रेमी होते हैं। उनकी भूल, मैं होने के कारण, सभ्रम में लोगों को जानते नही। ३६३

जिनके शास्त्र केवल मुझे ही जानते हैं। जिनके मंत्रों से केवल मेरी ही प्राप्ति होती है। इसी तरह से जो मेरी भक्ति करते हैं। ३६४

वे मरण के पहले ही पूर्णतः मुझे मिल जाते हैं; फिर मरण उपरान्त अन्य गति कैसे होगी? ३६५

इसीलिये जिन्होंने मुझे सर्वस्व अर्पण किया वे मेरी ही सायुज्यगति को आते हैं। उन्होंने उपचारों के निमित्त से अपनेको ही मुझे दे दिया।३६६

इसी तरह से अर्जुन, मेरे में आत्मसमर्पण करना, इसके सिवाए मुझे अन्य कोई आनंद नहीं। मैं, और किसी भी उपचार से जाना नहीं जाता। ३६७

यहाँ जो अपने को ज्ञानी समझता है वह ही अज्ञानी होता है। अपने अस्तित्व की दिखावट करना, यही सबसे बड़ी गलती है। 'मैं कुछ हूँ', ऐसा जो समझता है वह कुछ भी नहीं होता। ३६८

या अर्जुन उनके यज्ञ, दान आदि तप, या अन्य ऐसे उद्योग; उनका यहाँ एक तृण जितना भी महत्व नहो। ३६९

देखो, ज्ञान-शक्ति से, वेदों के सिवाए और कोई है क्या? या शेष के सिवाए अधिक बोलने वाला कोई है? ३७०

वह भी बिछौने के नीचे दबा हुआ है । दूसरे नेति-नेति की बडबड़ करते हैं । यहाँ सनकादिक भी उलझन में पडे । ३७१

तपस्वीजनों में देखाजाए, तो शंकर की बराबरी करने वाला कौन होगा ? वे भी अभिमान छोड़, मेरा चरणोदक, जो गंगा, उसे शीश पर धारण करते हैं । ३७२

या ऐश्वर्य में लक्ष्मी जैसी अन्य कौन है, जिसके घर में श्रिया जैसी दासियाँ होती है । ३७३

उन्होंने खेल में ही जो घर-कुल तैयार किया, उसे जब अमरापुरी कहना है; तब इन्द्रादिक, गुड़ियाएँ ही हो गई कि नही ? ३७४

वह घर-कुल न अच्छा लगकर, जब तोड देती हैं; तब महेन्द्रो के रक बन जाते हैं । वे जितने पेड़ देखती हैं. वे सारे कल्पवृक्ष होते हैं । ३७५

ऐसा जिनके घर की दासी का सामर्थ्य है, उस पटरानी लक्ष्मी का भी यहाँ कुछ विशेष मान नही । ३७६

उसे भी अर्जुन, सब अभिमान छोड़, सर्वस्व से सेवा करने के बाद, पाँव धोने का भाग्य मिला । ३७७

इसीलिये श्रेष्ठपन का महात्म्य बाजू में रखे, ज्ञान का सब गर्व भूल जाए, व जग के सामने नम्र हो, तब मैं मिलता हूँ । ३७८

अरे, सहस्त्र किरणों की दृष्टि के सामने, अर्जुन ! चन्द्र भी लुप्त हो जाता है । वहाँ जुगनू को अपने तेज का हठ क्यों ! ३७९

जहाँ लक्ष्मी का महात्म्य उपयोगी नही; जहाँ शंकर का तप, कम पड़ता है; वहाँ और सामान्य गोष्टियों से मुझे कैसे जानलेंगे ! ३८०

इसीलिये शरीरधर्म छोड़े; सब गुणो के अलंकार उतारे; सम्पत्ति के मद की वार-फेरी करके, फेंक दे । ३८१

गीता २६

फिर अपार भक्ति के आनंद से मुझे अर्पण करने के लिये कोई अपने को अच्छा लगने वाला फल हो; ३८२

वह, भक्त जब मुझे दिखा देगा तो मैं दोनो हाथ आगेकर, उसका डण्ठल न निकालते हुए, आदर से सेवन करता हूँ । ३८३

या भक्ति के नाम से मुझे कोई फूलभी दिया जाए; तो वैसे तो मुझे सूंघना चाहिये, परन्तु मैं प्रेमवश भूलसे मुँह में ही डालता हूँ । ३८४

यह रहने दो. फूल क्या, कोई पत्ता ही हो । वह ताजा न हो, भले ही सूखा हो; ३८५

फिर भी, सर्वभाव से भरा हुआ देखकर, जैसे कोई भूखे को अमृत प्राप्ति का आनंद हो जाए, वैसा, वह पत्ता ही मैं आनंद से खाने लगता हूँ । ३८६

किन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि उसे पत्ता भी न मिला । तो पानी को तो कोई अड़चन नही; ३८७

पानी सर्वत्र बिना मोल, कुछ कष्ट न करते हए, मिल जाता है । वह भी जिन्होंने सर्वस्व से अर्पण किया: ३८८

तो बैकुण्ठ से भी महान, ऐसा मेरे लिये मंदिर बनाया । और कौस्तुभ से भी शुद्ध, ऐसे अलंकार उन्होंने मुझे पहनाए; ऐसा मुझे लगता है । ३८९

क्षीरसागर जैसी अत्यन्त मनोहर. ऐसी अनेक दूधो की शय्या-ग्रह मेरे लिये उन्होंने तैयार की । ३९०

कपूर, चन्दन, इत्र, ऐसी सुगंधों का बड़ा मेरु पर्वत; या दीपमाला के स्थान पर प्रत्यक्ष सूर्य मेरे सामने रखा। ३९१

गरुड़ जैसे वाहन, कल्पवृक्ष के उद्यान, कामधेनु जैसी गउएँ, उन्होंने मुझे अर्पण की ऐसा मुझे लगता है। ३९२

अमृत से भी श्रेष्ठ, ऐसा बहुत-सा भोजन उन्होंने मुझे परोसा। ऐसे उस भक्त के अल्प जल से मुझे इतना आनंद होता है। ३९३

अर्जुन, यह सब कुछ कहने की आवश्यकता है क्या ? आप लोगों ने अपनी आँखों से देखा ही है कि मैंने मुट्ठी-भर पौवे के लिये सुदामा की गठरी खोलदी। ३९४

मैं केवल भक्ति जानता हूँ। कम-अधिक नही देखता । मैं तो भाव का मेहमान हूँ। ३९५

पत्र, पुष्प, फल, ये तो केवल भक्ति के निमित्त है। नही तो, हमारी चाह तो निर्मल भक्ति की है। ३९६

इसीलिये अर्जुन, ध्यानदो। अपनी बुद्धि में इसे समाओ। और, सहज रीति से अपने मनोमदिर में से मुझे दूर न करो। ३९७

गीता २७

तुम जो-जो कुछ व्यापार करते हो, या भोग्य वस्तु का भोग लेते हो, या अनेक प्रकार से यज्ञ-याजन करते हो; ३९८

या सत्पात्र देखकर दान देते हो, या सेवकों को जीवन देते हो, तप आदि साधनों से व्रत करते हो; ३९९

ऐसी सब क्रियाएँ जो जिस तरह से होती रहेंगी, वे पूर्ण भक्तिभाव से करके, मुझे अर्पण करो। ४००

परन्तु सर्वथा अपने अन्तः करण में, कर्तापन की शंका भी न रखो। ऐसी, कर्में शुद्ध धोकर मेरे हाथ में देनी चाहियें। ४०१

गीता २८

फिर अग्निकुण्ड में भुने हुए बीज को जैसे अंकुरदशा नहीं आती। उसी तरह से तुम्हारे शुभ-अशुभ ऐसे सर्वकर्म, न फलने वाले होकर मुझे अर्पण हो जाएंगे। ४०२

अरे, कर्म रह जाएँ, तो वे सुख-दुःख आदि फल देंगे ही। और उन्हें भोगने के लिये देह धारण करना ही होगा। ४०३

ऐसा शुद्ध किया हुआ कर्म मुझे देदिया तो उसी समय उसका जन्म-मरण समाप्त हो गया; व जन्म के कारण से होने वाले अन्य कष्ट भी समाप्त हो जाएंगे। ४०४

इसीलिये हे अर्जुन, जन्म का प्रसंग भारी न हो जाए, ऐसी ही यह सुलभ संन्यासयोगयुक्ति मैंने तुझे कही। ४०५

इस देह के बंधन में न आना। सुख-दुःख के समुद्र में डूब न जाना। आराम से मेरे रूप में सुखरूप हो जाओ। ४०६

गीता २९

मैं कैसा हूँ, ऐसा पूछोगे। तो कहता हूँ, मैं सब प्राणीमात्र में एकजैसा ही होता हूँ। जहाँ यह मेरा और यह दूसरे का, ऐसा भाव कदापि नहीं होता। ४०७

इसी तरह से मुझे जानकर, अहंकार का स्थान तोड़कर, जो जीवभाव से कर्म करते हुए मुझे भजते हैं। ४०८

वे देहमें व्यवहार करते दीखते हैं किन्तु वे देहमें नहीं होते। मुझमें वे, और उनके अन्तः करण में मैं. समग्र व्याप्त रहते हैं। ४०९

सम्पूर्ण वृक्षत्व जैसे बीजकण में होता है, और बीजकण वृक्ष में होता है। ४१०

उसी तरह से हमारे आपस मे केवल बाहरी नाम का अंतर। अन्दर की वस्तु के विचारो में हम दोनों एक ही है। ४११

जैसे उधार लाए हुए अलंकार शरीर पर व्यर्थ-से होते हैं। उसी तरह से उनका देहधारण, उदासवृत्ति का होता है। ४१२

हवा संग जैसे सुगंध चली जाए, तो पीछे डण्ठल पर फूल जैसा बेकार-सा रहता है। उसी तरह उनका देह केवल आयुष्य की मुट्ठी मे रहता है। ४१३

इसके अलावा, उनका मन [illegible] पर आरूढ़ हो, हे अर्जुन, मुझमें आकर जो स्थिर हुए हैं। ४१४

गीता ३०

ऐसे प्रेमभाव से मेरा भजन करते हुए, जिनको फिर शरीर धारण नही करना पड़ा, वे किसी भी जाति के हो; ४१५

उनका आचरण देखाजाए तो अर्जुन, वे सचमुच दुष्कृत्य के प्रमुख भागीदार भी हों; किन्तु उन्होंने अपना जीवन भक्ति के चौराहे पर बिताया है ना! ४१६

अन्तकाल में जो विचार होते हैं वे बाद की अवस्था में सच्चे होते हैं। इसीलिये जिसने अन्त मे अपना जीवन भक्ति को दिया हो; ४१७

वह प्रारम्भ में जब दुराचारी भी हो, तब भी उसको सर्वोत्तम ही मानना चाहिये। जैसा कोई मुनष्य महाबाढ में फँस गया, किन्तु न मरते बाहर निकला; ४१८

वह किनारे पर जीवित आगया इसलिये ही उसका डूबना झूठा होगया। इसी तरह से आखिर की भक्ति से, पूर्व पाप रहता नही। ४१९

इसीलिये दुष्कृत्य करने वाला भी हो फिर भी वह पश्चातापतीर्थ में नहाया हो, और बाद मे सर्वभाव से मुझे आकर मिलगया हो; ४२०

तब उसका कुल पवित्र और जन्म मे ही निर्मल कहना चाहिये; क्योंकि जन्म मे आने का फल उसे मिलगया। ४२१

[illegible] ने ही अष्टांगयोग का [illegible]। ४२२

[illegible] होने के कारण, [illegible] ४२३

[illegible] हे अर्जुन, उसने [illegible]। ४२४

गीता ३१

वह अब कुछ दिनों बाद मुझ जैसा हो जायगा, ऐसा भाव अगर तेरे मन में उत्पन्न हो; तो कहो, जो अमृत मे रहेगा उसको मरण कैसा ? ४२५

जब सूर्य उगा न हो उस समय को रात्रि कहते हैं। इसी तरह से मेरी भक्ति के सिवाय किया हुआ सब, महापाप ही नहीं क्या ? ४२६

इसीलिये अर्जुन, जब उसके अन्तःकरण में मेरे साथ नाता जुड़ गया, उसी समय तत्वतः वह मेरा स्वरूप ही होगया। ४२७

जैसे दीप से दीप जलादिया जाए तो उनमें प्रथम कौन ? यह जान नही सकते। उसी तरह से जो सर्वस्व से मुझे भजता है, वह मैं ही होकर रहता है। ४२८

फिर मेरा जो नित्यशान्तस्वरूप है, वह तेज उसको उस अवस्था में आता है। अधिक क्या कहना, मेरे जीव से ही वह जीवित रहता है। ४२९

हे अर्जुन, फिर वही-वही कितना कहूँ ? तो ध्यान में रखो, जो मेरे बारे में तेरे मन में तीव्र इच्छा हो, तो तू भक्ति छोड़ना नहीं। ४३०

अरे, कुल के अच्छेपन के पीछे न लगो। जन्मजात गुणों का शोध न लो। शास्त्रों की व्यर्थ इच्छा क्यों ? ४३१

देखो, रूप, वय, इनका अभिमान रखना, सम्पत्ति का गर्व करना, यह सब व्यर्थ-सा होता है जब मेरे बारे में मन में भक्ति-भाव न हो। ४३२

दाना नहीं, ऐसी रिक्त भुट्टे की डण्ठलें खूब लगी हुई हों; या नगर खाली पड़ा हो; तो किस काम का ? ४३३

जैसे सूखा सरोवर; अरण्य में दुःखी के साथ दुःखी की भेंट; या न फलने वाले फूलों से भरा हुआ वृक्ष; काम का नहीं। ४३४

इसी तरह से वह सब वैभव; कुल, जाति, इन का श्रेष्ठत्व; आत्माहीन उत्तम शरीर जैसा है। ४३५

इसीलिये मेरी भक्ति बिना, जल जाए वह जीना ! अरे, धरती के ऊपर पत्थर कोई कम हैं ? ४३६

जैसे हिवरवृक्ष की गहरी छाँव सज्जन नही स्वीकारते। उसी तरह जो अभक्त होता है, उसे पुण्य टालते हैं। ४३७

नीम, नीम-फलों से पूरा भर आया, फिर भी वह सुकाल कौओं को ही होता है। वैसा, भक्तिहीन जो बढ़ता है वह केवल दोषों के लिये। ४३८

या, सुग्रास अन्न मिट्टी की थाली में रात्रिसमय चौराहे पर परोसकर रखों, तो वह जैसा केवल कुत्तों के काम में आता है। ४३९

उसी तरह से भक्तिहीन का जीवन होता है। वे स्वप्न में भी सत्कर्म नहीं जानते, और संसारदुःखों को आमंत्रण देते हैं। ४४०

इसीलिये उत्तमकुल की आवश्यकता नही। जाति से अंतिज हो तो भी चलेगा। या देहधारी नाम से, पशु भी हो तो भी बाधा नही। ४४१

देखो, मगरमच्छ ने हाथी को पकड़ा, तो बड़ी करुणा से उसने मेरा स्मरण किया। मेरे मिलने में, उसका पशुपन बाधक हो गया क्या ? ४४२

गीता ३२

अरे, बुरे नाम की गणना में अर्जुन, सर्व अधर्मकर्म के अन्त में जो पाप-योनी होती है। उस योनि में भी जिन्होंने जन्म लिया। ४४३

वे पापयोनी, अज्ञानी, मूर्ख, ऐसे केवल पत्थर ही समझलो। परन्तु मेरे में सर्वतोपरि दृढ़विश्वास रखने वाले हों। ४४४

जिनकी जिव्हा पर मेरा ही गायन। जिनकी दृष्टि मेरे ही रूप का आनंद लेती है। जिनके मन में केवल मेरा ही संकल्प है। ४४५

मेरी कीर्ति सिवाय जिनके कान खाली नहीं। जिनको मेरी सेवा, यही सर्वांग के अलंकार हैं। ४४६

जिनके ज्ञान को दूसरा विषय नहीं। जिनकी जानने की शक्ति केवल मुझ अकेले को जानती है। ऐसा होना, यही जीना है; नहीं तो मरना है, ऐसा जो सोचते हैं। ४४७

अर्जुन, इसी तरह से जिन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य, सर्वभाव से सम्पूर्ण भक्तिप्रेम मेरे लिए ही किया। ४४८

वे पापयोनि में से भी हों। सुने हुए, पढ़े हुए न हों। किन्तु मुझसे उनकी तुलना करे तो वे कम नहीं। ४४९

देखो, भक्ति के श्रेष्ठत्व से एक दैत्य, देवों को भी कमीपन लाया। जिसकी महिमा दिखाने के लिये मुझे नरसिह होना पड़ा। ४५०

वह प्रह्लाद, अनेकों ने मेरे स्थान पर, जिसकी भक्ति की; क्योंकि जो वस्तुएँ मुझसे मिलने वाली होती हैं, वे उनको उससे मिल गई। ४५१

वैसे तो सच कहे तो वह दैत्यकुल का ही। फिर भी इन्द्र को भी उससे ऊँचा स्थान मिलता नहीं। इसीलिये भक्ति का ही यहाँ महत्व है, जाति का नहीं। ४५२

राजाज्ञा की मोहर किसी चमड़े के ऊपर भी हो, तो उस चमड़े से सब मिलता है। ४५३

वहाँ, सोना चाँदी, यह प्रमाण नहीं होता। वहाँ राजाज्ञा ही समर्थ होती है। वह जिस चमड़े को मिले, उससे सबकुछ प्राप्त हो सकता है। ४५४

इसी तरह से श्रेष्ठत्व उस समय ही बच जाता है, सर्वज्ञता उसी समय पूर्ण होती है जब मन और बुद्धि मेरे प्रेम से भरी हुई हो। ४५५

इसीलिये कुल, जात, वर्ण, ये सब अनावश्यक होते हैं। यहाँ अर्जुन, मेरापन, यही सार्थक है। ४५६

तो किसी भाव से भी मन मेरे में स्थिर होजाए ऐसा करना चाहिये। वह स्थिर होगया तो पिछला कार्य सर्व व्यर्थ हो जाता है। ४५७

जैसे, नदी या नाला, यह तब तक कहते हैं जब तक वह गंगाजल को मिले नहीं । बाद में तो केवल गंगारूप । ४५८

या खैर और चंदन, यह लकड़ी-विभाग तब तक है जब तक वे अग्नि में जलकर एकरूप हुए नहीं । ४५९

इसी तरह से क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र या अंत्यज इत्यादि जातियाँ तब तक अलग-अलग मानी जाती हैं जब तक वे मुझमें नहीं मिलीं । ४६०

जब सर्वभाव मुझे मिले हुए होते हैं तब जाति या व्यक्ति यह भाव शून्य में मिल जाता है । जैसे समुद्र में नमक के दाने फेंके । ४६१

सिन्धु नद, गंगा नदी, ये नाम तब तक ही होते हैं; यह पूर्व की, यह पश्चिम की नदियाँ, यह भाव तब तक ही होता है; जब तक वे सब समुद्र में मिली नहीं । ४६२

इसी तरह से, किसी भी तरह अन्तःकरण मुझमें प्रवेश होजाए, ऐसा देखो । फिर अपने-आप मत्स्वरूप होना ही है । ४६३

अरे, पारस काटने के लिये भी लोहा उसको लग गया, कि लगते ही वह स्वर्ण ही होगा । ४६४

अपार प्रेम के कारण उन गोपियों की अन्तः तरंग मेरे में जुड़ने की वजह से वे मत्स्वरूप नहीं हुईं क्या ? ४६५

या भय के निमित्त से कंस, और अखण्ड बैर करके शिशुपाल आदि राजा मुझे मिले की नहीं ? ४६६

अरे अर्जुन, केवल सम्बन्धी होने के कारण यादवों को, या अपनेपन की वजह से वासुदेव आदि सर्व को, सायुज्यप्राप्ति होगई । ४६७

नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक या सनत कुमार, उनको उनकी भक्ति की वजह से जैसा मैं प्राप्त हो गया। ४६८

वैसा गोपियों को प्रेम से, कंस को भय के सम्भ्रम से, शिशुपाल आदि को घात के मनोधर्म से, मेरी प्राप्ति हो गई। ४६९

अरे, मैं एक, सब मिलन का स्वरूप हूँ। किसी मार्ग से भी मुझे मिल सकते हैं। भक्ति से, विषय-वैराग्य से, अथवा बैर करके। ४७०

अर्जुन ! देखो, मुझमें प्रवेश करने के लिये उपायों की कमी नहीं। ४७१

किसी जाति मे जन्म आने दो, भक्ति करनी हो तो मेरा भक्त होजाओ और विरोध करना हो, बैर करना हो, तो वह भी मेरा ही हो। ४७२

अरे किसी की वाणी को जब मेरापन आ जाए, तब मत्स्वरूप होना, यह निश्चित उसके हाथ में होता है। ४७३

इसी तरह से हे अर्जुन ! पापयोनि, या वैश्य, शूद्र, स्त्रियां, इन्होंने मेरी भक्ति की, तो मेरेही घर में आते हैं। ४७४

गीता ३३

फिर वर्णो मे सर्वश्रेष्ठ; स्वर्ग, यह जिनका मान स्थान; और मंत्रविद्या के माहिर; ऐसे जो ब्राह्मण; ४७५

जहाँ यज्ञ-याग नित्य वास करता है; जो वेदों के अंगरक्षक हैं; जिनके दृष्टिक्षेप से मंगल बढ़ता रहता है; ४७६

जो भूलोक के देव हैं; जो तप के सदेह अवतार समझे जाते हैं; सर्व तीर्थो का भाग्य जो उज्ज्वल करते हैं; ४७७

जिनकी आस्था की नमी से सत्‌कर्म अपार बढ़ता रहता है; जिनके संकल्प से सत्य की विजय होती है; ४७८

जिनके शब्दोच्चार से अग्नि चिरंजीव हो गई, इसीलिये इनकी प्रीति से समुद्र ने उसको अपने पानी में आश्रय दिया; ४७९

मैंने लक्ष्मी को परे हटाकर, मेरी कंठी, कौस्तुभ को हाथ में ले लिया, और उनकी चरणधूलि के लिये अपना वक्षस्थल सामने किया। ४८०

अर्जुन, अभी तक उन चरणों का चिन्ह मेरे हृदय के उपर संभालकर रखा हुआ है, इसीलिये कि मेरा वह भाग्य-समुद्र चिरकाल रहे। ४८१

अर्जुन, जिनके क्रोध को कालाग्निरुद्र का आश्रय होता है; और जिनकी प्रसन्नता से सर्व सिद्धि बिना मोल मिलती है। ४८२

ऐसे पुण्यवान ब्राह्मण, और मुझे मिलने में अति कुशल, फिर वे अपने सामर्थ्य से मुझमें मिल जाएंगे, इसमें क्या आश्चर्य। ४८३

देखो, चंदन के अंग की हवा लगने से नीम जैसे निर्जीव को भी देवों के माथे पर स्थान मिलता है। ४८४

फिर वह स्थान स्वयं चंदन को नहीं मिलेगा ऐसा कैसे मानलें ? या वह मिल गया, यह सिद्ध किया तो ही सच्चा; ऐसा होता है क्या ? ४८५

जहाँ, शीतल करेगा, इस आशा से शंकर ने अर्धचन्द्र अपने माथे पर अखण्ड धारण किया; ४८६

फिर पूर्णचन्द्र से भी अधिक शीतल करने वाला, और इसके ऊपर सुगंध की विशिष्टता ; ऐसा चन्दन, लीला से, मेरे सर्वांग के उपर कैसे नहीं चढ़ेगा। ४८७

या जिसके आश्रय से मार्गों का गंदा पानी बिना कष्ट समुद्ररूप होता है, उस गंगा को क्या कोई अन्य गति मिलेगी ? ४८८

इसीलिये राजऋषि या ब्राह्मण, जिनकी गति को, मति को, मैं ही शरण स्थान हूँ; उनको निर्वाण के समय त्रिशुद्धि भी मैं और मर्णोत्तर स्थिति भी मैं। ४८९

सैंकड़ो छेद वाली नाव में बैठकर निश्चिन्त कैसे हो जाएँ ? या शस्त्रों की वर्षा होते हुए, खुले शरीर से कैसे रहें ? ४९०

अंग के ऊपर पत्थर गिरते हुए, ढाल आगे कैसे न करें ? रोग से जर-जर होते हुए, औषधि को उदास होकर, कैसे चलेगा ? ४९१

चारों ओर भड़कती हुई आग हो, तो वहाँ से छोड़कर न जाना कैसे चलेगा ? इसीलिये हे अर्जुन, इस कष्टमय जीवलोक में आने के बाद मेरी भक्ति न करके कैसे चलेगा ! ४९२

अरे, भक्ति न करने के लिये, ऐसी कौन सी शक्ति अपने में हो सकती है कि जिससे इस जग में अपना स्थान, अपने भोग, निश्चित हो जाएँ। ४९३

इन प्राणी मात्रों को मेरी भक्ति न करने में सुख की निश्चिति कौन दे सकता है, उनकी विद्या या उनका तारुण्य ? ४९४

जितना भोग्यजात है, वह अकेला देह के स्वाधीन होता है। और यहाँ देह तो काल के मुख पर लगा हुआ है। ४९५

ओ-हो ! जहाँ दु:ख का संकट कैसा निर्बन्ध फैला हुआ है; मरण की बाढ़ आई हुई है; ऐसे इस मृत्यु-लोक के कठिनकाल में यह आखिर में आना हो गया है। ४९६

अब सुख में जीवन के व्यवहार कैसे चल सकेंगे ? अर्जुन, राख फूँकने से कोई दिया जल सकेगा ? ४९७

विष के कन्द पीसकर, जो रस लिया जाए उसको अमृत समझकर, जैसा अमर होना । ऐसा ही यह विषयों का सुख है । ४९८

अरे, यह तो केवल परम दु:ख है । किन्तु क्या करें मूर्खों को वह सेवन करने बिना चलता ही नहीं । ४९९

अपना मस्तक काटकर पाँव की चोट पर बांधें, ऐसी इस मृत्युलोक की सारी महती है । ५००

इसीलिये मृत्यु-लोक में सुख की कथा किसके कान को सुनने में आएगी ? बिच्छुओं के बिस्तर पर सुख से नींद आएगी क्या ? ५०१

जिस लोक का चन्द्र, क्षयरोगी है । जहाँ उदय होता है, केवल अस्त होने के लिये । और जहाँ सुख के भेष में दु:ख जग को छलता रहता । ५०२

यहाँ, जहाँ मंगल के अंकुर को अमंगल का कीट लगता है । और मृत्यु तो उदर के गर्भ को भी ढूंढती रहती है । ५०३

यह लोक, जो जन्म में नहीं आया, उसकी भी चिन्ता करवाता है । और बाद में उसे कोई उठा ले जाता है; तो कहाँ गया, यह भी पता नहीं लगता । ५०४

अरे, चारों ओर ढूंढे, तो भी वापसी-चरण दिखते नहीं । और जिस लोक की पौराणिक कथाएं भी सब मृतकों की । ५०५

जहाँ की अशाश्वता की महती गाते हुए ब्रह्म का भी आयुष्य समाप्त जाएगा; वह अशाश्वता कैसी है, यह ध्यान देकर सुनो । ५०१

ऐसा जिस लोक का इतिहास है, वहाँ जो लोग जन्म लेते हैं उनके शाश्वतपन का कौतुक तो दीखता ही है । ५०७

लोक-परलोक के लाभ के लिये यहाँ एक कौड़ी की ही पूँजी हाथ से छूटती नहीं; और जिसमें सम्पूर्ण हानि है वहाँ कोटि-कोटि खर्च होता है ।५०८

जो अनेक विषय विलास में रममाण होगा, वह सुखी है ; ऐसा कहते हैं । और हवस के भार से जो दबा हुआ होता है, उसको ज्ञानी कहते हैं । ५०९

जिसका आयुष्य समाप्त होने लगा, जो शक्ति से, बुद्धि से, जीर्ण हो गया हो, उसको यहाँ बड़ा समझकर नमस्कार करते हैं । ५१०

ज्यों-ज्यों बच्चे बड़े होते रहते हैं, वैसे-वैसे आनंद से नाचते हैं, उसका लाड़लापन करते हैं । किन्तु इसमें आयुष्य घट गया इसकी किसी को भी चिन्ता नहीं । ५११

जन्म उपरांत हरेक आदमी काल की ओर ही जाता है, किन्तु उत्साह से उसका जन्म-दिवस मनाते हैं और झंडे खड़े करते हैं । ५१२

अरे, मरण, यह विचार भी सहन नहीं होता । और मरने पर रोते हैं । किन्तु जो है वह व्यर्थ जा रहा है, इसका, मूर्खपन के कारण विचार नहीं करते । ५१३

मेंढक को खाने के लिये साँप पीछे खड़ा हुआ है, फिरभी वह मेंढक मक्खियाँ मिलें इसलिये अपनी जिव्हा घुमाता रहता है । इसी तरह से, किस लोभ से प्राणियों की तृष्णा बढ़ती है, कौन जाने ? ५१४

हाय रे हाय ! यह कितना बुरा है, किन्तु इस मृत्युलोक का सारा उलटा ही है । अर्जुन, यहाँ तुमने अकस्मात् जन्म लिया हो; ५१५

फिरभी झटककर बाहर निकलो । भक्तिमार्ग पर लग जाओ । जिससे तुम मेरे सुदृढ़, ऐसे निजधाम को आजाओगे । ५१६

गीता ३४

अर्जुन, तुम अपना मन मत्स्वरूप करो । मेरे भजन में प्रेम रखो, और सर्वत्र भरा हुआ मुझ अकेले को, नमस्कार करो । ५१७

जो मुझपर ध्येय रख, अपने सर्व संकल्प की आहुति देता है, उसी को श्रेष्ठ मद्याजी कहते हैं । ५१८

ऐसा जब तुम मेरे योग से सम्पन्न हो जाओगे, उस समय मेरेही स्वरूप में आकर मिल जाओगे । यह मैं अन्तःकरण से ही तुझे कहता हूँ । ५१९

अरे, जो मेरा सर्वस्व मैंने सब से छुपाकर रखा हुआ है, वह प्राप्त करके तुम सुख से भर जाओगे । ५२०

यहाँ संजय कहता है : राजा, यह सांवला परब्रह्म, भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाला, आत्माराम श्रीकृष्ण ऐसा बोला । ५२१

महाराज, सुन रहे हैं ना ? ध्यान दो । इस संजय के भाषण के बाद बुड्ढा शान्त ही था । जैसे पानी में बैठा हुआ भैंसा, कुछ भी करो, तब भी उठता नहीं । ५२२

वहाँ संजय का मस्तक झुक गया । आ-हा-हा ! यहाँ अमृतवर्षा हो रही है, किन्तु यह राजा यहाँ होते हुएभी जैसे दूसरे गाँव ही चला गया है । ५२३

यह हमारा अन्नदाता है इसीलिये मेरे ऐसा बोलने से वाचादोष आ जाएगा । किन्तु क्या करूँ, इसका स्वभाव ही ऐसा है । ५२४

परन्तु भगवान, मेरा कितना भाग्य है कि वृतांत कहने के निमित्त से, मुनिराज व ने मेरा कैसा रक्षण करलिया । ५२५

तब बड़े कष्ट से मन का निश्चय करके संजय ऐसा बोलता था, क्योंकि सात्विकभाव उत्पन्न होने से वह अस्वस्थ हो गया । ५२६

अन्तःकरण चकित होकर खोने लग गया । वाचा जहाँ की तहाँ लूली हो गई । सर्व शरीर ने रोमांच धारण करलिये । ५२७

अधूरी बन्द हुई आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे । अन्तर-सुख की लहरों से बाहर शरीर कम्पायमान हो गया । ५२८

अंग के रोमांच की जड़ो में निर्मल पसीने के कण उत्पन्न हो गए; इसीलिये उन्होंने अपने प्यारे मोतियों के अलंकार पूरे शरीर पर धारण किए हुए हैं, ऐसा लगता था । ५२९

ऐसे महासुख से भरने के कारण, उनकी जीवदशा वहीं समाप्त हो जाती । किन्तु व्यासजी के सौंपे हुए कर्तव्य ने वह होने दिया नहीं । ५३०

और उसी में कृष्णार्जुन संवाद, घों-घों करके उनके कानों में आगया । और उनकी देहसमृति वापस आ गई । ५३१

आँखों का पानी चला गया । शरीर का पसीना साफ करके, वह धृतराष्ट्र को बोला: हे महाराज, ध्यान दो । ५३२

अब श्री कृष्ण के चुने हुए वाक्-बीच, और संजय के सात्विकभाव का तैयार खेत । इनके संयोग से श्रोताओं को प्रमेय की भरपूर फसल मिल जाएगी । ५३३

श्रोताजनों, क्षण-भर ध्यान दो और इतने से ही आनंद के शिखर पर विराजमान हो जाओ । आज कानों को दैव ने वरमाला डाली है । ५३४

इसीलिये सिद्धशिरोमणि श्री कृष्ण, विभूतियों का स्थान अर्जुन को दिखाएंगे, वह सुनो। ऐसा निवृत्तिनाथ का ज्ञानदेव कहता है। ५३५

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय ९

श्रीभगवानुवाच
इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले :

हे दोषमुक्त, अब अत्यन्त गुह्य ऐसा यह ज्ञान, विज्ञान सहित तुझे कहता हूँ । जो जानने के बाद, अशुभ से मुक्त हो जाओगे ।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२ ॥

यह ज्ञान राजविद्याराजगुह्य है । यह पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव करवाने वाला है, धर्म-भान्य, सहज आचरणीय, और अविनाशी है ।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३ ॥

हे परंतप, इस धर्म के प्रति जो पुरुष श्रद्धारहित होते हैं, वे मेरी प्राप्ति न होते हुए, मृत्युरूप संसार में आते-जाते रहते हैं ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४ ॥

अव्यक्त, ऐसे मैंने , यह सर्व जगत व्याप्त किया हुआ है । सब प्राणीमात्र मुझमें होते हैं, किन्तु मैं उनमें स्थित नहीं होता ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५ ॥

मुझमें भूतमात्र भी नहीं ; भूतमात्र को धारण करने वाला होते हुए भी भूतों में स्थिति नहीं; मुझमें भूतों की कल्पना की जाती है ; ऐसा यह मेरा ऐश्वर्ययोग देखो ।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६ ॥

जैसे सर्वत्र संचार करने वाला महान वायु, आकाश में नित्य स्थित है, वैसे सर्व भूतमात्र मुझमें स्थित हैं । ऐसा जानो ।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७ ॥

हे कौन्तेय, कल्प के अन्त में सर्वभूत मेरी प्रकृति में लय हो जाते हैं । फिर उनको, कल्पारम्भ में मैं पुनः उत्पन्न करता हूँ ।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८ ॥

मैं अपनी प्रकृति का अंगीकार करके, प्रकृति के नियंत्रण से पराधीन हुए यह सब भूतमात्र, फिर-फिर उत्पन्न करता रहता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९ ॥

हे धनंजय, वे कर्म मुझे बन्धनकारक नहीं होते क्योंकि मैं कर्म में अनासक्त व उदासीन हूँ ।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१० ॥

हे कौन्तेय, मेरी अध्यक्षता में प्रकृति यह सब चराचर निर्माण करती है । इसीलिये उपरोक्त हेतु से यह जगचक्र चलता रहता है ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११ ॥

मेरा भूतमहेश्वर परमभाव न जानने वाले मूर्खजन, मुझे मनुष्यदेह में आश्रित, ऐसे बुरे भाव से जानते हैं ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२ ॥

क्योंकि, उनकी आशा, कर्म, ज्ञान, व्यर्थ होने के कारण, वे मूढजन, राक्षसी, असुरी, मोहकारी, स्वभाव को धारण किये हुए होते हैं ।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

परन्तु हे पार्थ, दैवीप्रकृति का आश्रय करने वाले महापुरुष, भूतों का आदि, व अविनाशी, ऐसा मुझे जानकर, अनन्य मन से मेरी भक्ति करते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

सतत मेरा कीर्तन करते हुए, यत्न का दृढ़ व्रत रखकर, मुझे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए, और मुझसे नित्यजुड़ेहुए, वे मेरी उपासना करते हैं।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

कोई अन्य, ज्ञानयज्ञ से, एकत्व भाव से या भिन्नत्व भाव से या अनेक प्रकार से, मुझ विश्वतोमुख की उपासना करते हैं।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

मैं क्रतु, मैं यज्ञ। स्वधा, औषधि, मंत्र, घी, अग्नि व आहुति ये सब मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

इस जगत का मैं धारण करने वाला, पिता, माता, पितामह और जानने योग्य, पवित्र, ओंकार, ऋक्, साम, यजु, ये सर्व मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

मैं विलयस्थान, पोषण करने वाला, स्वामी, साक्षी, निवास, शरणस्थान, हितकर्ता; उत्पत्ति, प्रलय, तथा स्थिति; निधान, कारण और अविनाशित्व; मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

मैं ऊष्णता देता हूँ, मैं पानी शोषण करता हूँ, मैं वर्षा करता हूँ। अमृत और मृत्यु, सत्य व असत्य, यह सब, हे अर्जुन, मैं ही हूँ।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति
दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२० ॥

तीनों वेद जानने वाले, सोमपान करने वाले, और पापरहित, ऐसे जो याज्ञिक यज्ञ से मेरा भजन करके स्वर्गगति की प्रार्थना करते हैं। पुण्य का फल, ऐसा जो इन्द्रलोक वह प्राप्त करके उस स्वर्गलोक में देवों के दिव्य भोग भोगते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं
कामकामा लभन्ते ॥२१ ॥

वे उस विशाल स्वर्गलोक को भोगने के बाद, पुण्य क्षीण होकर, मृत्युलोक को आते हैं। विषय की इच्छा धरके, तीनों वेद कथित फल-रूप धर्म का अनुसरण करने वालों को ऐसा आना-जाना ही होता है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२ ॥

किन्तु अनन्यभाव से मेरा चिंतन करके, जो मेरी उपासना करते हैं, उन सततयुक्त लोगों का, योगक्षेम मैं संभालता हूँ।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३ ॥

और दूसरे भी भक्त, जो अन्य देवताओं को श्रद्धापूर्वक पूजते हैं; हे कौन्तेय, वे भी अविधिपूर्वक मेरा ही पूजन करते हैं।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४ ॥

उनके भी सर्वयज्ञों का भोक्ता व प्रभु मैं ही हूँ। किन्तु वे मुझे यथार्थस्वरूप से नहीं जानते, इसीलिए गिरते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५ ॥

जो देवों का व्रत करने वाले, वे देवों को जाते हैं। पितरों का व्रत करने वाले, पितरों को जाते हैं। भूतों का पूजन करने वाले, भूतों को प्राप्त होते हैं। किन्तु मेरा पूजन करने वाले, मेरे पास ही आते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६ ॥

पत्र, पुष्प, फल, पानी, ऐसे जो मुझे भक्तिपूर्वक अर्पण करते हैं, उन शुद्धचित्त मनुष्यों की भक्तिपूर्वक अर्पण की हुई वस्तुएं मैं सेवन करता हूँ ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७ ॥

हे कौन्तेय, जो कुछ तुम करोगे, जो भोगोगे, जो हवन करोगे, जो दान करोगे, जो तप करोगे, वह सब मुझे अर्पण करो ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८ ॥

इस प्रकार शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाओगे; फिर संन्यासयोगयुक्त होकर, मुक्त हुए तुम, मुझे ही प्राप्त करोगे ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९ ॥

सर्वभूतों में मैं समान हूँ । मुझे प्रिय और अप्रिय कोई नहीं । परन्तु जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे मुझमें और मैं भी उनमें होता हूँ ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३० ॥

अब दुराचारियों में भी कोई अच्छा हो, और मुझे अनन्यभाव से भजता हो, तो उसे भी सज्जन समझना चाहिए । क्योंकि अब वह योग्य अवस्था में आ चुका है ।

क्षिप्रंभवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१ ॥

वह तो अल्पकाल में ही धर्मात्मा होजाता है । उसको शाश्वत, ऐसी, शान्ति प्राप्त होजाती है । हे अर्जुन, मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता, यह तुम निश्चित जानो ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२ ॥

हे अर्जुन, मेरा आश्रय करने के पश्चात् जो पापयोनि वाले भी हों, या स्त्री, वैश्य, [illegible] ऐसे भी [illegible]रमगति को प्राप्त करते हैं ।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्   ॥३३ ॥

फिर पुण्यवान ब्राह्मण, भक्त, राजऋषि, इनका क्या कहे । इसीलिए इस दुःखकारक, अनित्य लोक में आए हुए तुम, मेराही भजन करो ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः   ॥३४ ॥

मुझमें स्थिरमन, भक्त, मेरा याज्ञिक, ऐसा होकर मेरा वन्दन करो । फिर अपने को मुझसे जोड़कर, मुझको पाने में पारंगत, ऐसे तुम, मुझमें प्रवेश करोगे ।

- इति -

अध्याय १२

भक्तियोग

विशुद्ध , उदारता में प्रसिद्ध , और अखण्ड आनंद की वर्षा करने वाले हे श्री गुरु तेरा जयजयकार हो । १

विषयसर्प ने काटने के बाद शरीर उठता नहीं; तुम्हारी गुरुकृपादृष्टि से ही फिर वह निर्विष होता है । २

तुम्हारे प्रसादरस की लहरों की, जब बाढ़ आ जाएगी; तब दुःख किसको भूनेगा या शोक कैसे जलाएगा । ३

योगसुख की लीला, शिष्य को तुम्हारे प्रेम के कारण ही अनुभव होती है । तुम सोहम् सिद्धि से शिष्य का प्रेम से पालन करते हो । ४

कुण्डलिनी की गोद में उसको कौतुक से बडा करते हो ; और हृदयाकाश-रूपी झूले में झुलाकर सुलाते हो । ५

आत्म-ज्योति से आरती करते हो; मन-पवन के खिलौने देते हो; और आत्मसुख के बाल-अलंकार उसके शरीर पर चढ़ाते हो । ६

सतराविये का दूध पिलाते हो, अनाहत् नाद की लोरी गाते हो, और समाधिज्ञान से थपथपाकर सुलाते हो । ७

इसीलिये तुम साधकों को माता-समान होते हो । तेरे चरणों में वाङ्मय की फसल आती है, इसीलिये मैं तुम्हारी छाँव का आश्रय नही छोड़ता । ८

सत्गुरुकृपादृष्टि की करुणा, जिसको मिलेगी वह सब ज्ञान-जग उत्पत्तिकर्त्ता हो जाएगा । ९

इसीलिये हे श्रीमान् अम्बे, तुम शिष्य को कल्प-लता समान हो । अब ग्रन्थ-अर्थ कहने की तेरी आज्ञा हो । १०

हे माता, यह मेरा सागर. नव-रस से भरदो । योग्य शब्द-रत्नों का उद्यान बनाओ ; और भाव न अर्थ के पहाड़ खड़े करदो । ११

साहित्य-स्वर्ण की खान, मराठीसृष्टि पर खोलकर दिखाओ । चारों ओर विवेक-बेलियों की बुआई होनेदो । १२

प्रमेयों के घने बगीचे लगाओ जो संवाद-फल की सम्पत्ति से सदैव बहार में हों । १३

नास्तिकरूपी कांटेदार झाड़ियाँ तोडदो । वाक्-वादों के आढ़ मार्ग न हों । कुतर्क के दुष्टजानवर मारदो । १४

हे माता, श्रीकृष्णगुणगान मे से इन सब विषयो को दूर रखो; और श्रोताओं को श्रवण के उच्चासन पर बैठादो । १५

इस मराठी नगरी में ब्रह्मविद्या का सुकाल करो । इस जग के सर्व व्यवहार सुख के होने दो । १६

तुम सुदैव से अपने स्नेह आंचल की चादर मेरे ऊपर डालोगी तो तत्काल यह सब साहित्य निर्माण होना आरम्भ होगा । १७

इस मेरी विनती के कारण, श्री गुरु ने कृपादृष्टि से मेरी ओर देखा, और कहने लगे : अधिक न बोलो । गीतार्थ कहो : १८

हॉं जी । आप का महाप्रसाद मुझे मिल गया इसीलिये सहज मुझे आनंद हुआ है । अब मैं कथा कहूंगा, ध्यान देने की कृपा हो जाए । १९

गीता १

फिर पाण्डुनृप का पुत्र, सर्व वीरों में श्रेष्ठ, सोमवंश का विजयध्वज, ऐसा जो अर्जुन, वह बोलने लगा। २०

उसने श्री कृष्ण को कहा: देखो, आपने मुझे विश्वरूप दिखाया। तब आश्चर्य से मेरा अन्तःकरण डर गया। २१

और यह कृष्ण मूर्ति देखने की मुझे आदत है, इसीलिये मैंने वह इच्छा अन्तःकरण में रख ली। तब, 'यह ठीक नहीं' ऐसा कहकर आपने मुझे समझाया। २२

तो व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों भी तुम ही हो, ऐसा मुझे पक्का समझ में आया। भक्ति से व्यक्त की प्राप्ति होती है, और योग से अव्यक्त की। २३

हे वैकुण्ठनाथ, ये दोनों मार्ग आपको मिलने के लिये ही होते हैं। यहाँ इन व्यक्त-अव्यक्त द्वार से ही अंदर प्रवेश होता है। २४

किन्तु जो गुणवत्ता सोने की लड़ी में, वह ही उसके हरेक गुञ्जभर सोने में होती है। इसीलिये सगुणरूप और विश्वरूप दोनों का महत्व एक ही है। २५

अमृत के सागर में जो शक्ति का माहात्म्य है, वह ही, अमृतलहरी के आचमन से मिलता है। २६

इसकी सचमुच मेरे अन्तःकरण में पूरी अनुभूति आई हुई है। किन्तु हे योगेश्वर, मुझे जो पूछना है वह इसलिए। २७

कि भगवन्, आपने थोड़ी देर जो व्यापकरूप धारण किया, वह सच था या कौतुक [illegible] जानने के लिये। [illegible]

तो, जिनका कर्म तुम्हारे लिये ही होता है, तू ही जिनको सर्वश्रेष्ठ है; और भक्ति के लिये जिन्होंने अपना मनोधर्म बेच दिया है, २९

ऐसे सर्व प्रकार से हे श्रीहरि, जो भक्त तुझे अपने अन्तःकरण में दृढ कर, तुम्हारी उपासना करते हैं । ३०

और ओंकार के पार, वाचा को अगम्य, और जो किसी के जैसा नहीं, ऐसा जो तेरा रूप; ३१

जो नाश न होने वाला, न दिखने वाला न दिखाने वाला, स्थल, काल, अतीत, ऐसा है । उसकी, जो ज्ञानीजन सोहम्भाव से उपासना करते हैं । ३२

उनमें, और भक्तों में, हे अनन्त, योग सचमुच किसको समझ में आया, यह मुझे कहो । ३३

इस अर्जुन के भाषण पर जगत बन्धु श्रीकृष्ण को संतोष हो गया, और बोले : प्रश्न पूछना तू अच्छा जानता है । ३४

गीता २

तो अर्जुन, अस्तगिरि के पास गए हुए सूर्यबिम्ब के पीछे-पीछे किरणें जैसे चली जाती हैं । ३५

वर्षाकाल मे नदी में जैसे महाबाढ आती है । उसी तरह से नित्य नई श्रद्धा इन भक्तों में दीखती है । ३६

किन्तु सागरमिलन के बाद भी जिसका प्रवाह पीछे से अनावर आता रहता है, ऐसी गंगा-समान महानता, इनकी भक्ति मे है । ३७

उसी तरह से सर्व इन्द्रियों के साथ मुझ में अन्तःकरण स्थिरकर, जो दिन-रात न देखते हुए मेरी उपासना करतें रहते हैं । ३८

ऐसे जो भक्त अपना सर्वस्व मुझे देते हैं, वे ही परम योगयुक्त हैं ; ऐसा मैं मानता हूँ । ३९

गीता ३

और अर्जुन, दूसरे, जो सोहम्‌भाव के ऊपर आरूढ़ हो, अविनाशी, अव्यक्त, ऐसे मेरे स्वरूप को आकर लिपट जाते हैं । ४०

जहाँ मन का स्पर्श होता नहीं, बुद्धि जहाँ जा नहीं सकती, वह क्या इन्द्रियों को शक्य होगा ? ४१

ध्यान को कठिन, इसीलिए जो कभी एक जगह नहीं मिलता और किसी भी व्यक्तस्वरूप में दीखता नही । ४२

जो सर्वत्र सर्वपन से सर्वकाल होता है, जिसको देखते ही ध्यान भी लज्जित हो जाता है । ४३

जो उत्पन्न नही होता या नाश नही होता । जो 'होता है' ऐसा नही, 'नही होता है' ऐसा भी नही, इसीलिये उपाय से प्राप्ति नही । ४४

जो चलता नही, हिलता नही, जो समाप्त नहीं होता या जो मलिन नही होता, वह, जिन्होंने अपनी शक्ति से प्राप्त कर लिया । ४५

गीता ४

कैसे ? तो जिन्होंने वैराग्य की श्रेष्ठ अग्नि मे विषयों की सेना जलादी, और उसी के कारण हतबल हुई इन्द्रियां, धैर्य से संभालीं । ४६

फिर संयम के पाश में अटकाकर उनको उलटा करदिया, और हृदय के संदूक में बन्द करके रखी । ४७

अपान के द्वार में पक्की आसनमुद्रा लगाकर मूलबन्ध का किला तैयार कर लिया । ४८

आशा के खेत काट लिये; भय के पहाड़ तोड़ दिये; और निद्रा का अन्धेरा नष्ट किया। ४९

वज्राग्नि की ज्वाला से अपानधातुओं को जला कर, व्याधियों की बली देकर साधनशस्त्र की पूजा की। ५०

फिर कुण्डलिनी की मशाल आधार चक्र पर खड़ी की। उस प्रकाश से ब्रह्मरंध्र तक प्रकाशमान हो गया। ५१

बाद में नवद्वारों की चौखट पर संयम के डंडे से धक्का मारकर सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खोल दिया। ५२

प्राणशक्ति-रूपी चामुंडा देवी को, संकल्प के बकरे मारकर, और मन-महिषासुर के सिर की, बलि दे दी। ५३

इड़ा पिंगला नाडियों की सहायता से अनाहत नाद की गर्जना में सतराविये का अमृत-तालाब जीत लिया। ५४

फिर सुषुम्ना में से जाने वाली, काट कर बनाई सीढ़ी की सहायता से ब्रह्मरंध्र के शिखर पर पहुँच गए। ५५

बाद में मकार की कठिन पौढ़ियों पर चढ़कर, मूर्धना आकाश समेत, ब्रह्म में विलीन हो गए। ५६

इसी तरह से जो समबुद्धिजन सोहम् सिद्धि साध्य करने के लिये निरंतर योगदुर्ग का आचरण करते हैं। ५७

आत्मत्व के बदले में सहज शून्य प्राप्त कर लेते हैं। वे भी अर्जुन, मुझे ही मिलते हैं। ५८

नहीं तो योगबल से कुछ अधिक मिलेगा, ऐसा कुछ नहीं। बल्कि उसमें कष्ट ही होते हैं। ५९

गीता ५

जिन्होंने सर्व भूतमात्र के हित के लिये, भक्ति छोड़कर, अपनी सर्व श्रद्धा निराधार अव्यक्त में बढ़ा ली। ६०

महेन्द्रादिकों के आसन उनको लूटते हैं, और रिद्धिसिद्धि के संग्राम उनके सामने आ खड़े रहते हैं। ६१

काम-क्रोध के अलग-अलग त्रास उनको सहन करने पड़ते हैं, और अव्यक्त के साथ अंग से जूझना पड़ता है। ६२

प्यासे को प्यास ही पीनी पड़ती है; और भूखे को भूख ही खानी पड़ती है; और दिन-रात हवा, हाथों से नापनी पड़ती है। ६३

जहाँ जागरण, यही नींद। निरोध, यही उपभोग। पेड़ों के साथ भी मित्रत्व से रहना पड़ता है। ६४

सर्दी ओढ़नी पड़ती है, धूप पहननी पड़ती है, या वर्षा के घर में जाकर रहना पड़ता है। ६५

अधिक क्या कहूँ अर्जुन, पति के सिवाय प्रतिदिन नई रीति से सती होना पड़ता है; ऐसा यह योग है। ६६

किन्तु यहाँ पतिभक्ति का निमित्त नहीं, या कुलाचार भी नहीं। नित्य मरण के साथ संग्राम करना पड़ता है। ६७

ऐसा मृत्यु से भी दुःखद यह योग, मानो उबलते हुए विष का घूँट लेना है। क्या पहाड़ खाते हुए, मुँह फटेगा नहीं? ६८

इसीलिये हे अर्जुन, जो योगमार्ग से निकले उनके भाग्य में दुःख का ही भाग आता है। ६९

जब लोहे के चने चुभते हों फिर भी खाने पड़ें, तो इसे पेट भरना कहें या प्राण गँवाना ? ७०

समुद्र कभी बाहों से पार करते हैं क्या ? या भ्रमण के लिये आकाश में जाते हैं क्या ? ७१

रणभूमि पर जाने के बाद, शरीर बिना बाधा रह सकता है क्या ? सूर्य की पौढ़ी से कभी ऊपर चढ़ना होता है क्या ? ७२

इसीलिये हे अर्जुन, पंगु को जैसे वायु की ईर्ष्या नहीं होनी चाहिये उसी तरह से देहधारी जीव को यह अव्यक्त का मार्ग है। ७३

ऐसा ही धैर्य हो, तो आकाश को पकड़कर उसके साथ कुश्ती खेलने का दु:ख उसको भोगना पड़ेगा। ७४

किन्तु अर्जुन, जो और कोई, भक्ति के मार्ग में लग गए, उनको ये कष्ट होते नहीं। ७५

गीता ६

जिनकी कर्मेन्द्रियाँ वे सर्व कर्म सुख से करती रहती हैं, जो वर्णाश्रम के अनुसार उनके भाग में आए हों। ७६

विधि का पालन करके, निषेध को छोड़कर, सर्व कर्मफल मुझे अर्पण करके, जला देते हैं। ७७

ऐसी रीति से अर्जुन, वे मेरे में सर्व कर्म का संन्यास करके, कर्ममुक्त हो जाते हैं। ७८

और भी जिनकी काया, वाचा, मनोभाव से मेरे सिवाय दूसरी कोई अन्य दौड़ नहीं। ७९

ऐसे जो मेरे में रत होते हुए मेरी निरंतर उपासना करते हैं और ध्यान के निमित्त से मेरा घर ही होकर रहते हैं। ८०

भोग, मोक्ष, इस सामान्यकुल का त्याग कर, जिन्होंने प्रेम से मेरे साथ कुल संबंध जोड़ लिये। ८१

ऐसे अनन्य भाव से, जीव से, मन से, अंग से, जो अपने को बेच देते हैं, उनका क्या एक-एक बताऊं; सब ही मैं करता रहता हूँ। ८२

गीता ७

संक्षिप्त में हे धनुर्धर, जो माता के उदर मे जन्म लेता है वह माता का केवल संबंधी कैसे हो जाएगा। ८३

वैसा मैं उनको, कलिकाल को दूर कर, वे जिस अवस्था मे हों, मैं अपनी गोद मे लेता हूँ। ८४

नही तो हे अर्जुन. जो मेरे भक्त हैं उनको क्या संसार की चिता करनी पड़ेगी ? अरे !बड़े घर की पत्नी क्या जोगी-भिक्षा मांगने जाएगी ?८५

वे मेरे भक्त मेरे कुटुम्बी हैं ऐसा समझो। उनका कोई भी कार्य करने में मुझे संकोच नहीं। ८६

जन्म-मृत्यु की लहरो पर वे इस जग में बहुत दु:खी हो जाएंगे, यह देखकर मेरे पेट में हलचल हो जाती है। ८७

भव-सागर के तूफान से कौन डरेगा नहीं ? यहाँ मेरे भक्तों को भी कदाचित भय उत्पन्न हो जाए। ८८

इसीलिये हे अर्जुन, मैं अनेकरूप लेकर उनके गाँव को दौड़ता आता हूँ। ८९

मेरा सहस्त्रनाम यह उनको नाव होती है ऐसा समझो । उसको सजाकर मैं उन्हें संसार से पार करता हूँ । ९०

जो मुक्त होते हैं उनको ध्यान के किनारे पर लगा देता हूँ; और जिनके पास कुछ सामान है, उनको मैं नाव में बैठा लेता हूँ । ९१

किसी के पेट पर प्रेम की पेटी बांध, उसे मोक्षतीर को ले आता हूँ । ९२

अरे, भक्त के नाम से सर्व जानवरों को भी वैकुण्ठपद के योग्य करता हूँ । ९३

इसीलिये मेरे भक्तों को कोई भी चिन्ता करने का कारण नही । उनका उद्धार करने के लिये मैं सदैव तैयार रहता हूँ । ९४

और जब भक्त अपनी चित्तवृत्ति मुझे अर्पण करते हैं, उसी समय से वे मुझे अपनी ओर अटकाकर रख लेते हैं । ९५

इसलिये हे भक्तराज अर्जुन, इस भक्ति मार्ग का तुम्हें अवलम्ब करना चाहिये । यह महामंत्र ध्यान में रखो । ९६

गीता ८

हे अर्जुन, बुद्धि के निश्चय से तू अपना मन मेरे स्वरूप में निष्ठावान वृत्ति का करले । ९७

ये दोनों (बुद्धि व मन) एक साथ प्रेम से जब मुझ में प्रवेश करेंगे, तब तुम मुझे अवश्य मिलोगे । ९८

इन मन बुद्धि ने जो मुझमें अपना घर कर लिया, तो मैं और तू, यह भाव रहेगा क्या ? ९९

यह देखो, दिया बुझ गया तो उसी समय तेज नष्ट होता है। या सूर्य बिम्ब के पीछे प्रकाश भी जैसा जाता है। १००

प्राण जाने के बाद जैसे इन्द्रियाँ उसके साथ निकल जाती हैं। उसी तरह से मन बुद्धि के साथ, अहंकार भी मेरे मे आकर मिल जाता है। १०१

इसलिये मेरे स्वरूप में तू अपना मन और बुद्धि लगाकर रख। इतने से ही तू, सर्वव्यापी ऐसा, मैं, हो जाएगा। १०२

इस मेरे कहने में कुछभी असत्य नही, यह मै तुझे शपथ से कहता हूँ। १०३

गीता ९

या तू मन बुद्धि के साथ अपना चित्त, विकार रहित करके, मेरे हाथ में दे नहीं सकता हो। १०४

तो कम से कम तुम ऐसा करो कि दिन के आठो पहर मे केवल एक क्षण-भर वह देते रहो। १०५

फिर जो-जो क्षण वे मेरा सुख देखेंगे, इतनी उनकी विषयों की ओर रुचि कम हो जाएगी। १०६

जैसे शरदऋतु आने के बाद नदी का पानी कम होने लगता है। उसी तरह से चित्त, प्रपंच से शीघ्र ही बाहर निकलने लगेगा। १०७

या पूर्णिमा के बाद जैसा चन्द्र बिम्ब दिन-दिन कम होता जाता है और अमावस्या को पूर्णलोप हो जाता है। १०८

उसी तरह से चित्त, भोग मे से निकलकर मुझमे प्रवेश करते हुए, हे अर्जुन, धीरे-धीरे मैं ही हो जाएगा। १०९

अरे, जिसको अभ्यासयोग कहते हैं वह यही है ऐसा समझलो। उससे न बनेगा, ऐसा कुछ भी नहीं। ११०

देखो, अभ्यास की शक्ति से कोई अंतराल में रहते हैं। कईयों ने व्याध्र, सर्प, ऐसे प्राणी निरुपद्रवी बना दिये। १११

अभ्यास से विष भी पच जाता है। समुद्र के ऊपरचल सकते हैं। कई अभ्यास से वेदों से भी बड़े हो गए। ११२

अभ्यास के लिये कभी भी, कुछ भी कठिन नहीं। इसीलिये अभ्यास से मुझे आकर मिलो। ११३

गीता १०

या अभ्यास करने की तुझमें पात्रता न हो, फिर भी तू जैसा है वैसा ही होगा, तब भी चलेगा। ११४

इन्द्रियों को बन्द न करो, भोग में कमी न करो, अपनी जाति का अभिमान न छोड़ो। ११५

परन्तु कुल-धर्म के अनुसार चलते रहो। विधि-निषेध का पालन करो। फिर सब सुख तुझे मिल जाएँगे। ११६

किन्तु मन से, वाचा से, देह से, जैसा जो व्यवहार होगा वह 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा कभी न मानो। ११७

करना न करना, यह सब वही जाने जिस परमात्मा ने यह विश्व चलाया है। ११८

कम, पूरा, ऐसा कोई भी भाव अपने में मत रखो। अपना जीवन स्वजाति के हित के लिये खर्च करदो। ११९

माली जहाँ-जहाँ लेकर जाएगा वहाँ-वहाँ जैसे पानी हँसते-खेलते जाता है; उस पानी जैसा किया हुआ हो जाओ। १२०

अर्जुन ! वैसे तो, जैसे रथ, मार्ग योग्य है या अयोग्य है, इसका कभी विचार करता है क्या ? १२१

इसीलिये प्रवृत्ति और निवृत्ति ऐसा बोझा अपनी बुद्धि पर न लादो। तेरी चित्तवृत्ति अखण्ड मेरा स्मरण करे। १२२

और इसी से जो कर्म हो जाएगा वह कम-अधिक ऐसा भाव न रखते हुए, शान्तपन से मुझे अर्पण करो। १२३

ऐसे सद्भाव में अर्जुन, देह छोड़ने के बाद तुम मेरे मोक्षसदन को अवश्य आओगे। १२४

गीता ११

नहीं तो, यह कर्म मुझे अर्पण करना ही तुझसे न होता हो तब भी अर्जुन, तुम मेरी भक्ति करते रहो। १२५

बुद्धि के आगे-पीछे, कर्म के आरम्भ या अंत में, हे अर्जुन ! तेरे अन्तःकरण में मुझे बांधकर रखना कठिन लगता हो। १२६

तो वह भी रहने दे। मेरे संबंधी परमभाव भी छोड़दे। किन्तु संयम की ओर तू अपनी बुद्धि स्थिर कर। १२७

और जो-जो समय में जो-जो कर्म होते हों उसमें से मिलने वाले फल का तू त्याग कर। १२८

वृक्ष या बेली, उनको आए फल वे त्यागते हैं; उसी तरह से फलरूप हुए कर्म त्याग करो। १२९

किन्तु यह करते हुए मन में, मुझे याद करना चाहिये या मेरे उद्देश्य से कर्म करना चाहिये, यह भी आवश्यक नही । सारा व्यर्थ जानेदो । १३०

पत्थर के ऊपर जैसे वर्षा हो जाए, या अग्नि में बीज बोए, तो वह व्यर्थ जाता है । वैसा, कर्म, स्वप्न जैसा मानलो । १३१

अरे, अपने घर में जो जन्म लेते हैं उनके बारे में जीव जैसे अभिलाषा नही रखता; वैसा सर्व कर्मों के बारे में निष्काम हो जा । १३२

अग्नि की ज्वाला जैसे आकाश में व्यर्थ जाती है; ऐसे. सर्व कर्म शून्य में मिल जाने दो । १३३

अर्जुन ! यह फलत्याग सम्भवत: तुझे सामान्य-सा दिखे, किन्तु सर्व योग मे यह सर्वश्रेष्ठ योग है । १३४

ऐसे ही फलत्याग से जो-जो कर्म छोड़ा जाता है, वह कर्म फिर बढ़ता नहीं । एक बार ही बढ़ने के बाद, बांझ हो जाता है । १३५

इसी तरह से इस शरीर के बाद फिर शरीर लेना समाप्त हो जाता है । इतना ही नही, यह आना-जाना रुक जाता है । १३६

किन्तु अर्जुन, अभ्यास की पैड़ी से ज्ञान की ओर जाना चाहिये । ज्ञान की पैड़ी से ध्यान की भेंट करनी चाहिये । १३७

फिर जब सर्वभाव ध्यान को जाकर मिलते हैं तब सर्व कर्मजात दूर रह जाता है । १३८

जहाँ कर्म दूर हो जाता है, वहाँ फलत्याग तो स्वयं ही है; और त्याग से सर्व शान्ति प्राप्त होती है । १३९

शान्ति की प्राप्ति होने में, अर्जुन, यही अनुक्रम महत्व का है । इसीलिये पहले अभ्यास करना चाहिये । १४०

गीता १२

अर्जुन, अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, और ज्ञान से भी ध्यान श्रेष्ठ है। १४१

कर्मफलत्याग, यह ध्यान से भी उत्तम है। और त्याग से शान्तिसुख का भोग मिलता है। १४२

अर्जुन ! ऐसे ये मार्ग हैं । इन्हीं पर चलने से शान्तिस्थान पर पहुँच सकते हैं । १४३

गीता १३

जो किसी प्राणीमात्र के बारे में द्वेष करना जानता ही नहीं। चैतन्य जैसा, जिसको अपना और दूसरा, यह भाव नहीं। १४४

जैसे पृथ्वी अच्छे को धरती हो और अधम की अवहेलना करती हो, ऐसा कभी नहीं होता। १४५

या राजा का देह चलाना और रंक को दूर रखना, ऐसा यह कृपालु प्राण कभी नहीं करता। १४६

या गैया की प्यास बुझादे और व्याध्र को विष होकर मारे, ऐसा भेद करना पानी नहीं जानता। १४७

उसी तरह से सर्व प्राणीमात्र में एकात्मभाव से जिसका स्नेह होता है और जो स्वयं कृपा को अधिष्ठान होता है। १४८

मैं और तू, यह भाषा जो नहीं जानता। कुछ भी 'मेरा' ऐसा जो नहीं बोलता। यह 'सुख', या 'दु:ख' ऐसा भाव जो नहीं रखता। १४९

उसी तरह से क्षमा के बारे में जिसमें पृथ्वी की कीर्ति हो। जिसने समाधान को बड़े उत्साह से आश्रय दिया हो। १५०

गीता १४

वर्षाऋतु बिना ही, समुद्र जैसे पानी से सदैव भरा रहता है। वैसा, किसी ही साधन के बिना, वह नित्य समाधानी रहता है। १५१

अपनी ही शपथ से जो अन्तःकरण को नियंत्रित रखता है, और जिसके कारण निश्चय को सत्यता आ जाती है। १५२

जीवात्मा और परमात्मा, ऐक्य आसन पर बैठे, जिसके हृदयमंदिर में विराजमान होते हैं। १५३

ऐसा योगसमृद्ध होकर जो सतत अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पण करता है। १५४

अन्दर बाहर योगसिद्धि से अच्छा निर्मल होने के पश्चात्, जिसको मेरा सप्रेम अनुराग मिलता है। १५५

अर्जुन ! वह ही मेरा भक्त। वह ही योगी। वह ही मुक्त। या वह पत्नी और मैं पति, ऐसा समझलो। १५६

इतना ही नहीं, तो वह मुझे मेरे प्राण जैसा अच्छा लगता है, ऐसा कहना भी यहाँ कम ही है। १५७

सचमुच अपने प्रेमियों की कथा, माने भूल से भर जाना है। यहाँ तो न बोले तो अच्छा। किन्तु क्या करूँ श्रद्धा बुलवाती है। १५८

इसीलिये अर्जुन, मुझे एकदम पति-पत्नी की उपमा सूझी। नहीं तो, क्या सच्चे प्रेम का कोई अनुवाद कर सकते हैं ! १५९

अब अर्जुन, यह छोड़ दो। प्रेम की गोष्ठी में जब बोलने लगते हैं तो अच्छा लगने के कारण उसको दुगना उत्साह आ जाता है। १६०

और उसमें भी प्रेमी ही संवाद करने वाला हो तो उस मिठास की तुलना हो सकती है क्या ? १६१

इसीलिये हे अर्जुन, तू ही प्रिय और तू ही श्रोता और इसी में प्रसंग से प्रिया की बात आ गई । १६२

इसीलिये मैं बोलने के सुख में पूरा रम गया । ऐसा कहते हुए भगवान डोलने लगे । १६३

फिर कहने लगे: जिन भक्तों को मैं अपने अन्तःकरण में बैठा लेता हूँ, उनके लक्षण समझ लो । १६४

गीता १५

जैसे समुद्र में तूफान आए तो भी उसमें रहने वाले प्राणियों को डर नहीं लगता; और समुद्र को जलचरों की ऊब नहीं । १६५

वैसे, जग उन्मत्त हो गया तब भी जिसको घृणा नहीं होती, और जिसकी ओर से जग में किसी को कष्ट नहीं पहुँचता । १६६

अर्जुन, क्या कहूँ, शरीर जैसे अवयवों से ऊबता नहीं, इसी तरह से जो स्वयं दूसरे से ऊबता नहीं । १६७

जग ही जिसको अपनी देह समान लगता है, इसीलिये प्रिय-अप्रिय यह भाव नहीं रहता । ऐसा द्वैत जाने के कारण हर्ष और क्रोध यह द्वैत भी लोप हो जाता है । १६८

ऐसा द्वंद्व रहित । भय, उद्वेग, निकल गया हुआ । और उसी में भी मेरी भक्ति करने वाला हो । १६९

फिर उसका जो मुझे मोह [illegible] है, उसका महात्म्य मैं क्या बताऊँ ! वह १७०

जो आत्मानंद में रममाण हुआ, जैसे कोई भक्ति की पराकाष्ठा उत्पन्न हुई हो; और पूर्णता ने जिसको वरा है; ऐसा मेरा भक्त होता है। १७१

गीता १६

अर्जुन, जिसको किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती, और जिसके केवल अस्तित्व से ही सुख बढ़ता रहता है। १७२

काशी, मोक्ष देने में सचमुच बड़ा उदार होता है, किन्तु कब ? वहाँ मृत्यु आए तो। १७३

हिमालय, पाप हरण करता है; किन्तु वहाँ प्राण जाने का ही डर है। परन्तु भक्तों की पवित्रता ऐसी नहीं। १७४

गंगा बहुत शुद्ध है। पाप, ताप, नष्ट करती है। लेकिन वहाँ डूबने का डर। १७५

किन्तु गहराई का अन्त न होते हुए भी, भक्ति में कोई डूबता नहीं। इतना ही नहीं, तो बिना मरण, मोक्ष मिल जाता है। १७६

जिन संतों के शरीरस्पर्श से गंगा को भी पवित्रता आती है, ऐसी संत-संगति से आने वाला पावित्र्य कैसा होगा सोचो। १७७

इसीलिये जो अपने पावित्र्य से तीर्थस्थान को भी आश्रय होता है। जिसकी संगति में मन का पाप, तितर-बितर हो जाता है। १७८

जो सूर्य जैसा अन्दर-बाहर निर्मल और तेजस्वी होता है, और पायालू मनुष्य के जैसा, तत्वार्थ का धन जिसको दीखने लगता है। १७९

जैसा आकाश व्यापक और उदास होता है, उसी तरह से जिसका मन सर्वव्यापी और उदासीन रहता है। १८०

शिकारी के हाथ से छुटे हुए पक्षी जैसा, जो संसारदु:ख से मुक्त, आशारहित जीवन में रमा हुआ होता है । १८१

इसी तरह से जो सदैव सुखमय होता है, किसी तरह की चिन्ता उसे नही होती । जैसे मृत को किसी की लज्जा नहीं रहती । १८२

जिस तरह से ईंधनरहित अग्नि बुझी हुई होती है; उसी तरह से कोई कर्मारम्भ करने का अहंकार उसको नहीं होता । १८३

बुझी हुई अग्नि समान उपशम ही जिसके भाग्य में होता है । और मोक्ष की सूची में जिसका नाम लिखा हुआ होता है । १८४

अर्जुन, वह क्षणभर सोहम् भाव से भरा हो, किन्तु उसका द्वैत के पार जाना रुक गया हो । १८५

फिर भी भक्तिसुख के लिये द्वैत और अद्वैत इन दोनों अवस्था में अपने को बाँटकर, अपने में सेवक की भूमिका स्वीकारता है । १८६

यह दूनी अवस्था भी मेरे ही नाम से होती है । उसमें द्वैतभाव से भक्ति का श्रेष्ठत्व दिखता है और अद्वैतभाव से योगीपन का महत्व प्रकट होता है । १८७

ऐसे भक्त का मुझे व्यसन है । वह मेरा निजधाम है । क्या कहूँ, वह जब मिलता है तभी मुझे समाधान होता है । १८८

उसके लिये मैं अवतार लेता हूँ । उसके कारण ही मेरा यहाँ अस्तित्व है । वह मुझे इतना प्रिय होता है कि मैं मेरे जीवप्राण से उसकी वार-फेरी करता हूँ । १८९

गीता १७

जिसको आत्मप्राप्ति जैसा और कुछ भी अच्छा नही दीखता इसीलिये कोई और विशेष लाभ होते हुए भी जो नाचने नही लगता । १९०

जो स्वयं ही विश्वात्मक हो गया, इसीलिये सहज ही जिसका भेदभाव नष्ट हो गया, और द्वेष भी रहा नही । १९१

सचमुच जो अपना है वह कल्पात मे भी जाने वाला नही; यह जानकर, जो गया है उसका वह दु:ख नही करता । १९२

और जिसके पार कुछ भी नही है, ऐसा जो ब्रह्म, वह स्वयं ही होने के कारण; जिसकी कुछ आकांक्षा नही रहती । १९३

अच्छा या बुरा, यह भाव, उसको कभी भी नही होता । जैसे सूर्य को रात और दिन, ऐसी अवस्था, कभी भी होती नही । १९४

ऐसा जो केवल अखण्ड बोधरूप होकर रहता है और उससे भी अधिक मेरे मे भजनशील होता है । १९५

इसीलिये सचमुच उसके जैसा और कोई प्रिय स्वजन हमको नही, यह तेरी शपथ लेकर मै कहता हूँ । १९६

गीता १८

अर्जुन ! जिस मे वैषम्य की बात ही नही होती; और शत्रु व मित्र ये दोनों भी जिसको एक सार होते हैं । १९७

घरवालों के लिये प्रकाश दे और परायों के लिये अंधेरा करे, यह भेद, हे अर्जुन, दीप नही जानता । १९८

जो तोड़ने के लिये घाव करता है या जिसने उसकी बुआई की हुई हो, दोनों को ही वृक्ष एक सार की छॉव देता है । १९९

या जैसे गन्ना, पालन करने वाले को मीठा और चक्की में पीसने वाले को कड़वा, ऐसा कभी नहीं होता। २००

अर्जुन ! शत्रु-मित्र, मान-अपमान, इनमें जिसको समभाव होता है। २०१

तीनों ही ऋतु में आकाश जैसे समान होता है। उसी तरह से, शीत और ऊष्ण जो एक ही मानता है। २०२

उत्तर, दक्षिण, ऐसे दोनों ओर की वायु को मेरुपर्वत जैसा समान होता है। ऐसा, सुख-दुःख प्राप्त होने के बाद जो मध्यावस्था में रहता है। २०३

आनंद देने में, राजा हो या रंक, चांदनी दोनों को ही एक-सी होती है। इसी तरह से सर्व प्राणीमात्र के प्रति जो समवृत्ति में रहता है। २०४

जैसे [illegible] सर्व जग को अनिवार्य होता है; वैसे, तीनों लोक उसकी इच्छा करते २०५

जो अन्दर से, बाहर से, सब संग का परित्याग कर, अपने परमेश्वर-मिलन में अकेला होता है। २०६

गीता १९

आकाश को जैसे लेप लगता नही। उसी तरह से, जो निंदा ध्यान में नहीं लेता; और स्तुति की इच्छा नहीं करता। २०७

निंदा और स्तुति, इनको एक पंक्ति में बैठाकर, जो केवल आत्मवृत्ति में ही सर्वत्र विहार करता रहता है। २०८

जो सच्चा और झूठा, दोनों ही न बोलते हुए, मौन धारण करता है। क्योंकि वह अपनी उन्मनी अवस्था में रममाण रहता है। २०९

जो लाभ होने के बाद हर्षभरित नहीं होता, और लाभ न होते हुए उदास नहीं होता । जैसा सागर, वर्षा न होते हुए भी कभी सूख नहीं जाता । २१०

और वायु का जैसे एक ठिकाना नहीं होता । ऐसा जो कहीं भी आश्रय करके रहता नहीं । २११

सम्पूर्ण आकाशस्थिती, यही जैसे वायु की बस्ती । उसी तरह से यह सब जग ही जिसका विश्रान्ति स्थान होता है । २१२

यह सब विश्व, यही मेरा घर । ऐसी जिसकी स्थिर भावना होती है । इतना ही नहीं, जो स्वयं विश्वरूप हुआ होता है । २१३

और उसी में भी अर्जुन जिसको मेरी भक्ति की इच्छा हो, उसको तो मैं अपने सिर पर मुकुट जैसा धारण करता हूँ । २१४

ऐसे श्रेष्ठ के सामने मैं मस्तक झुकाता हूँ, इसमें कोई बड़ी बात नहीं । अरे, तीनों ही लोक जिसके चरणस्पर्श कर, सम्मान करते हैं । २१५

अर्जुन ! श्रद्धास्थान का आदर कैसा करना चाहिये, यह तब समझ में आएगा, जब सदा कल्याण करने वाले श्री गुरु शंकर होंगे । २१६

पर अभी यह रहने दो । शंकर की स्तुति करने में, आत्म स्तुति होने की शक्यता है । २१७

इसीलिये यह अच्छा नहीं । श्री कृष्ण कहने लगे : हे अर्जुन ! मेरे भक्त मुझे शिरोधार्य हैं । २१८

वह भक्त; चौथा पुरुषार्थ, जो मोक्ष; अपने हाथ में लेकर, भक्तिमार्ग से सब जग को बाँटता रहता है । २१९

वह ही मोक्ष का अधिकारी है। मोक्ष देना, न देना यह उसके हाथ में है। फिर भी पानी जैसी वह नम्रता धारण करता है। २२०

इसीलिये हम उसको नमस्कार करते हैं। माथे पर रखकर मुकुट का मान देते हैं। उसकी एड़ी का चिन्ह हम अपने वक्षस्थल पर धारण करते हैं। २२१

उसके गुण के अलंकार हम अपनी वाणी पर चढ़ाते हैं। उसकी कीर्ति हम कानों में धारण करते हैं। २२२

उसका दर्शन हो, यह अन्तरी की इच्छा; इसीलिये, अचक्षु, ऐसे मुझे, ऑखें लेनी पड़ीं। हाथ में सहज धारण किए हुए कमल से हम उसकी पूजा करेंगे। २२३

उस भक्त को आलिगन देने के लिये हम अपने दो बाहू पर दो और बाहू लेकर आए। २२४

उसकी संगति के महात्म्य से, विदेही, ऐसे मुझे, देह धारण करना पड़ा। अधिक क्या कहूँ, वह मुझे कितना प्रिय है यह कहने के लिये उपमा नहीं। २२५

उसके साथ हमारी मैत्री है, इसमें क्या आश्चर्य। किन्तु उस भक्त के जो चरित्र सुनते हैं, २२६

या उस भक्तचरित्र की स्तुति करते हैं, वे सचमुच हम को प्राण से भी अधिक प्यारे होते हैं। २२७

हे अर्जुन ! यह पूरा भक्तियोग, योगरूप कैसा होता है, यह अभी तुझे मैंने विस्तार से बताया। २२८

यह स्थिति इतनी श्रेष्ठ है कि मैं स्वयं उससे प्रेम करता हूँ और मन से उसे शिरोधार्य समझता हूँ। २२९

गीता २०

ऐसी यह कथा, जो धर्म की अमृतधारा है, सुनकर जो उसका अनुभव करते हैं। २३०

और श्रद्धा के आदर से वह जिनमें विस्तार पाती है। और अन्तःकरण में स्थिर होकर उसका जो आचरण करते हैं। २३१

किन्तु वह कथा जैसी कही उसी के अनुकूल जब मनः स्थिति हो, तो उत्तम क्षेत्र में बोया ऐसा होगा। २३२

मुझे सर्वश्रेष्ठ मानकर और इसके बारे में अन्तःकरण में प्रेम रखकर और यही सर्वस्व है ऐसा जो मानते हैं, २३३

वे ही, हे अर्जुन ! इस जग में भक्त होते हैं। और योगी भी वे ही होते हैं। उनकी मेरे अन्तःकरण में सदैव उत्कंठा रहती है। २३४

भक्तिकथा का जिस व्यक्ति को प्रेम होगा वह ही जग में तीर्थक्षेत्र। वह ही जग में पवित्र। २३५

हम उसका ध्यान करते हैं, यही हमारा देवतार्चन होता है। उनके सिवाय हमको अच्छा, ऐसा अन्य कोई नहीं। २३६

उन भक्तों का हम को व्यसन होता है। वे ही हमारी धनराशि होते हैं। अधिक क्या कहें, उनका मिलन, यही हमको समाधान है। २३७

इतना ही क्या, जो ऐसे प्रेमल भक्तों के गुण गाते हैं उन्हें भी, हे अर्जुन, हम अपने परम देवता मानते हैं। २३८

भक्तजनों का आनंद, जगदादिक का मूल, ऐसे जो श्री कृष्ण, वे बोले। ऐसा संजय ने कहा। २३९

हे राजा ! जो निर्मल, निष्कलंक, सब पर कृपा करने वाला, शरणागत को संभालने वाला, शरण जाने योग्य; २४०

जो धर्मकीर्ति से उजला हुआ, अपार दातृत्व होते हुए भी सादा रहने वाला, अतुलशक्ति से बलवान किन्तु बली के बंधन में रहा हुआ; २४१

जो देवों को सहाय करने वाला, लोकरंजन में रमा हुआ, भक्तों का पालन करना ही जिसका छंद है; २४२

जो भक्तवत्सल, प्रेमीजन को सुलभ, और सत्य की ओर ले जाने वाला सीधा सेतु, और कलाओं का निधि है; २४३

जिसको वैकुण्ठी का श्री कृष्ण कहते हैं । ऐसा भक्तों का चक्रवर्ती कह रहा है, और दैववान अर्जुन सुन रहा है । २४४

अब इसके बाद कहे जाने वाली कथा ध्यान देकर सुनो, ऐसा संजय धृतराष्ट्र को बोला । २४५

वही रसीली कथा मराठी के प्रतिमार्ग पर अब मैं लाऊँगा, ध्यान दो । २४६

ज्ञानदेव कहते हैं : हे संतजन ! स्वामी निवृत्तिदेव ने जो मुझे पढ़ाया, वह ही मैं बोलने वाला हूँ । मेरा नहीं । २४७

- इति -

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय १२

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

अर्जुन बोला :

इस प्रकार जो भक्तजन निरन्तर आपके भजनध्यान में लगे हुए, आपकी सतत उपासना करते हैं; और जो अविनाशी व अव्यक्त की उपासना करते हैं; उन दोनों प्रकार के भक्तों मे उत्तम योगी कौन है।

श्री भगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान बोले :

जो मुझमें मन को एकाग्र करके, मेरे साथ सतत युक्त रहकर, अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त हुए, मेरी उपासना करते हैं; उन्हें मैं सर्व योगियों में अतिश्रेष्ठ मानता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥

यद्यपि जो पुरुष, अविनाशी, अनिर्देष्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अविकारी, अचल और ध्रुव की सतत उपासना करते हैं;

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

इन्द्रिय-ग्राम का पूर्ण नियमन करके, सर्वत्र समबुद्धि रखने वाले, और सर्व भूतों के हित में रममाण रहने वाले, वे मुझे ही प्राप्त करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

किन्तु अव्यक्तब्रह्म में जिनका अन्तःकरण आसक्त है, उनको बहुत अधिक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। क्योंकि देह धारण करने वाले को परब्रह्मप्राप्ति का मार्ग कष्ट से साध्य होता है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

और जो सर्व कर्म मुझे अर्पण करके मेरे में स्थिर होकर, अनन्य, ऐसे भक्तियोग से, मेरा ध्यान करते हुए, मेरी उपासना करते हैं ।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

हे पार्थ , जिन्होंने मुझमें अपना चित्त अर्पण किया है, ऐसे भक्तों का मैं अल्पकाल में मृत्यु-रूप संसारसागर से उद्धार करने वाला हूँ ।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इसीलिए मुझमें तुम अपना मन वृत्तिवन्त करो, मुझमें बुद्धि स्थिर करो, फिर तुम मुझ में निवास करोगे इसमें कोई संशय नहीं ।

अथ चित्तं समाधातुं न शन्कोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

या तुम मुझमें चित्त स्थिर करने में अपने को असमर्थ समझते हो, तो हे धनंजय, अभ्यासयोग से मेरी प्राप्ति करने की इच्छा करो ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

अभ्यास में भी असमर्थ हो, तो केवल मेरे लिए कर्म करने वाले हो जाओ । मेरे लिए कर्म करने से भी तुझे सिद्धि प्राप्त हो जाएगी ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

मेरे प्राप्तियोग में जुटे हुए तुम, यह करने में भी जो असमर्थ हो, तो, नियतचित्त होकर सर्व कर्मफलों का त्याग करो ।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है । ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, और ध्यान से भी कर्मफलत्याग अधिक श्रेष्ठ है । त्याग से तत्काल शान्ति प्राप्त होती है ।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥

सर्व प्राणीमात्र से द्वेष न करने वाला, मैत्री से रहने वाला, करुणावान , ममत्व रहित , निरंहकारी , सुख-दुःख सम मानने वाला, और क्षमावान ।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

सतत पूर्ण समाधानी, योगी, नियतचित्त, दृढ़निश्चयी, जिसने अपनी बुद्धि व मन मुझमें समर्पित किया हुआ है, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय होता है ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

जिससे लोग ऊबते नहीं, और लोगों से जो नहीं ऊबता । हर्ष, मत्सर, भय, उद्वेग, इनसे जो मुक्त है, वह मुझे प्रिय होता है ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

अपेक्षा रहित, शुद्ध, दक्ष, उदासीन, जिसका दुःख नष्ट हुआ है, और सर्वारम्भ परित्यागी, ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय होता है ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो हर्षभरित नहीं होता, द्वेश नहीं करता, दुःख नहीं करता, इच्छा नहीं करता, शुभ-अशुभ का जिसने त्याग किया हुआ है, और भक्तिमान, वह मुझे प्रिय होता है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

शत्रु मित्र, मान अपमान, सुख-दुःख, शीत ऊष्ण, ये सब जिसको समान हैं । और जो संग रहित है ।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

निन्दा स्तुति जिसको समान हैं । जो मौनी है । जो सर्व प्रकार में संतुष्ट है । जो स्थानमोहरहित है । स्थिरबुद्धि वाला है, और भक्तिमान है । वह मनुष्य मुझे प्रिय होता है ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

सर्व धर्म का अमृत, ऐसा यह विचार, जो उपरोक्त रीति से अंगीकार करता है, और जो श्रद्धावान है, और मेरे लिए जिसका परमभाव है, ऐसे भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते है ।

- इति -

अध्याय १५

पुरुषोत्तमयोग

अब, अपने हृदय की सुन्दर चौकी तैयार करके, उसपर श्री गुरु के चरण स्थापित करता हूँ। १

ऐक्यभाव की अंजलि, सर्वेन्द्रियों की हलचल से भरकर, पुष्पांजलि का अर्घ्य अर्पण करता हूँ। २

स्वच्छ, ऐसे अनन्योदक से धोकर, उसपर गुरु-निष्ठा के चन्दन का अनामिका से तिलक करता हूँ। ३

प्रेम-स्वर्ण के चमकीले नुपूर, श्री गुरु के सुकुमार चरण में डालता हूँ। ४

उत्कट श्रद्धा और अव्यभिचारी भक्ति, इन अंगूठियों की जोड़ी, गुरु-चरणो की उंगलियों में डालता हूँ। ५

आनंदसुगंध से भरा हुआ अष्टसात्विकभाव का खिलाहुआ कमल, चरणों पर अर्पण करता हूँ। ६

वहाँ अहंकार की धूप जलाता हूँ, सोहम् तेज से आरती करता हूँ, और निरंतर समरसता से आलिंगन देता हूँ। ७

मेरा देह और प्राण, ये दोनों खड़ाऊँ श्री गुरु के चरण में डालकर, उन चरणों पर से भोग और मोक्ष इन दोनों की वारफेरी उतार देता हूँ। ८

ऐसे गुरु-चरणों की सेवा से, मैं उस भाग्य के लिये योग्य बन जाऊँ जिससे सर्व पुरुषार्थप्राप्ति की योग्यता मुझे मिले। ९

ब्रह्म में आश्रय मिल जाए, ऐसे ज्ञान का उत्कर्ष मुझमें हो, जो मेरी इस वाणी को अमृत का सागर बनादे। १०

मेरे बोल के शब्दों में ऐसी मिठास आजाए कि जिसपर से कोटि-कोटि पूर्णचन्द्रों की वारफेरी की जाए। ११

पूर्व में सूर्य का अधिष्ठान होगया, कि सर्व जग को प्रकाश का राजपथ मिलता है। उसी तरह से मेरी वाचा, श्रोताओं को ज्ञान की दीपावली हो। १२

जिस दैव से ऐसे बोलों का मुझे दर्शन हो जाए कि उनके सामने, नादब्रह्म अधूरा लगे, और मोक्ष का आकर्षण होगा नहीं। १३

श्रवणसुख के उद्यान में सर्व विश्व को वसन्त का आनंद मिले, ऐसी मेरी वाचाबेली अच्छी बढ़जाए। १४

जिसकी प्राप्ति न होने के कारण मन के साथ वाचा वापस आती है, वह परमेश्वर, मेरे शब्दों में चमत्कार उत्पन्न करे। १५

ज्ञान को ही जिसकी इच्छा रखना संभव नहीं, ध्यान को भी जिसकी प्राप्ति नहीं, ऐसी अव्यक्तशक्ति मेरी इस कथा में उत्पन्न हो। १६

किन्तु मेरी वाचा में इतना सौभाग्य तब ही आ सकता है जब गुरुचरण-कमलपराग मुझे मिलें। १७

ज्ञानदेव कहते हैं, मैं अधिक क्या बोलूँ, ऐसा सौभाग्य माता सिवाय और कहीं नहीं मिलेगा। १८

और मैं तो मेरे श्री गुरु माता का इकलौता छोटा बच्चा हूँ। इसीलिये उसकी कृपा का तुरंत पात्र हो गया। १९

यह देखो, मेघ पूर्ण भरकर चातुकों को संतुष्ट करता है। मेरे गुरु भी मेरे लिये वैसा ही करते हैं। २०

इसीलिये यह मेरा खाली मुँह, ऐसी बड़-बड़ करने लगा, क्योंकि गीता-मिष्ठान्न की इच्छा इसको हो गई। २१

दैव जब अपना होजाए, तब बालू भी रत्न हो जाएगी। उद्दण्ड आयुष्य हो, तो मारने वाला भी प्रेम करने लगेगा। २२

भूख के समय जब परमेश्वर की कृपा होगी, तो उबलते पानी में डाले हुए बालू का भी अमृतभात होजाता है। २३

इसी तरह से जब गुरु अंगीकार करते हैं, तब सारा संसार मोक्षमय हो जाता है। २४

यह देखो, कृष्ण जी ने पुराण में उन पाण्डवों के दोष भी निरवद्य किये ना? २५

उसी तरह से निवृत्तिनाथजी ने मेरा अज्ञानपन ज्ञान-योग्य किया। २६

परन्तु अब यह रहने दो। बोलते-बोलते प्रेम वैसे हो बहने लगता है। श्री गुरु की कीर्ति वर्णन करने की शक्ति किस ज्ञान में है। २७

अब उनके प्रसाद से मैं संतों की चरणसेवा, गीता का अभिप्राय कहकर पूरी करूँगा। २८

तो, चौदहवे अध्याय के आखिर मे श्री कृष्ण ने जो कहा, उसी की पूर्ति इस अध्याय मे की हुई है। २९

जिसको ज्ञान कहते है, वह जिसको मिलेगा, वह ही मोक्ष को समर्थ होता है। जैसे शतयज्ञ करने वाला स्वर्ग-सम्पत्ति प्राप्त करने मे समर्थ होता है। ३०

या सौ जन्म लेकर जिसने ब्रह्म-कर्म किया हो वह ही ब्रह्मा, अन्य कोई नहीं। ३१

या आँखों वालों को ही जैसे सूर्यप्रकाश मिल सकता है । उसी तरह से ज्ञानीमनुष्य को ही मोक्ष की योग्यता प्राप्त होती है । ३२

तो, ऐसे ज्ञान के लिये किसमे योग्यता होगी, ऐसा जग में देखाजाए तो वह ही एक दिखता है । ३३

दिव्यांजन, पाताल का धन दिखाएगा; यह सच है । किन्तु इसके लिये पायाडू की आँखें होना आवश्यक है । ३४

इसी तरह से ज्ञान, मोक्ष देगा; इसमें कोई दो मत नही । किन्तु उसके लिये ज्ञान स्थिर हो, ऐसा शुद्ध मन होना चाहिये । ३५

परन्तु मन में वैराग्य बिना, ज्ञान टिकेगा नहीं; ऐसा श्री कृष्ण का निश्चित विचार है । ३६

अब जो स्वयं आकर मन को वरमाला डालेगी, ऐसी विरक्ति का प्रकार क्या है, यह सब सर्वज्ञ कृष्णजी जानते हैं । ३७

रसोई में विष गिरा हुआ है यह जब खाने वाला जान जाए, तब वह जैसे थाली छोड़कर जाएगा । ३८

उसी तरह से इस समस्त संसार को नाशवन्त, ऐसा जो जानेगा उसीके पीछे वैराग्य दौड़कर आएगा । ३९

अब इस संसार की नाशवन्तता कैसी है, यह वृक्षाकार के दृष्टान्त से श्री कृष्ण ने इस पंद्रहवे अध्याय में कहा हुआ है । ४०

सहज उखड़ा हुआ वृक्ष, उलटा होने के बाद जैसे, एकदम सूखने लगता है; ऐसा यह नहीं है, यह ध्यान रखो । ४१

इस एक सुन्दर रूपक से ही इस संसार का आना-जाना समाप्त होता है । ४२

संसार की व्यर्थता दिखाकर, स्वरूप में सोहम्भाव स्थिर हो जाए, ऐसा यह पद्रहवां अध्याय है । ४३

अब ग्रन्थ के अन्तरंग के सब उत्तम गुण प्रगट हो जाएँगे । उन्हे, जीव को ही कान करके सुनो । ४४

तो, जो महानंद का सागर है, पूर्णिमा का पूर्णचन्द्र जैसा है, वह द्वारिका का राणा ऐसा बोला · ४५

हे पण्डुकुवर, परमात्मस्वरूप के घर में आने के लिये जो विश्वाभास रुकावट करता है, ४६

वह विश्वव्यापी संसार यहाँ नही । यहाँ केवल महातरू खड़ा है, ऐसा तू समझले । ४७

किन्तु अन्य वृक्षों जैसा, जड़ें नीचे और शाखा ऊपर, ऐसा यह नही । इसीलिये इसका कोई ही वर्णन कर नही पाता । ४८

अग्नि अथवा कुल्हाड़ी, इनका प्रवेश भी इसकी जड़ मे हो तो भी यह ऊपर जितना चाहे बढ़ता रहता है । ४९

वह जडो से ही टूटकर शाखों समेत उलटा हो जाएगा ऐसी गोष्ठी यहाँ नही । इतना यह सादा नही । ५०

अर्जुन, इसका कौतुक कहने लगे तो अलौकिक होगा क्योंकि इस वृक्ष की बाढ़ अधोमुख शाखा से होती है । ५१

जैसे सूर्य कितनी ऊँचाई पर है, यह समझ में नहीं भी आता तबभी उसकी किरणों का जाल नीचे फैलता है । वैसा, इस संसार को बेचैन करने वाला यह वृक्ष है । ५२

और जितना कुछ है नहीं, इतना सब इस अकेले ने व्याप्त किया हुआ है। जैसे कल्पांत का जल आकाश को व्याप्त करता है। ५३

या सूर्यास्त के बाद, रात्रि जैसे अन्धेरे से भरी हुई होती है। इसी तरह से यह, आकाश व्याप्तकर रहता है। ५४

इसको खाने के फल नहीं लगते। या सुगंध लेने के फूल नहीं। हे अर्जुन, जो कुछ है यह केवल वृक्ष ही है। ५५

वह ऊपरजड़वाला है, फिर भी उखड़ा हुआ नहीं है। इसीलिये यह सदा सतेज रहता है। ५६

सचमुच ऊपरजड़वाला कहा गया हो, फिर भी इसको नीचे की ओर भी बहुत जड़ें होती हैं। ५७

बड़ या पीपल, इनके समान चारों ओर फैलने की महामारी इसमें भी है। क्योंकि इसको टहनियाँ, और पारम्बियाँ भी होती हैं। ५८

और अर्जुन, इसको नीचे लटकने वाली ही टहनियाँ हैं, ऐसा नहीं। ५९

तो ऊपर भी टहनियों के लम्बे-लम्बे डंडे बढ़े हुए दीखते हैं। ६०

आकाश ही बेली से भरा हुआ हो, या वायु ही वृक्षाकार हुई हो, ऐसा यह वृक्ष है। इसको जन्म से ही तीनों अवस्था हैं। ६१

ऐसा यह एक विश्व के आकार का, भरा हुआ, ऊपरजड़वाला, वृक्ष उदय हुआ है ऐसा समझलो। ६२

अब ऊर्ध्व किसको कहते हैं। जो जड़ कहते हैं उसका क्या लक्षण। या शाखा का अधोमुखपन कैसा है। ६३

यह वृक्ष का स्वरूप आने के पहले, उसकी जो जड़ें थीं, वे कौन थी। ऊर्ध्वशाखाएं कैसी होती हैं। ६४

और अश्वत्थ, ऐसी इसकी महती किसलिये। यह सब आत्मज्ञान के विलास में रमे हुए पुरुषों ने जैसा यथार्थ बताया, ६५

वह सब उत्तम रीति से तुमको अनुभव हो जाए ऐसे छीलकर स्पष्ट करूँगा। ६६

किन्तु, हे अर्जुन सुनो, यह प्रसंग केवल तेरी ही योग्यता का है। यह, हे अन्तःकरणसंपन्न, अपने सर्वांगके कान करके सुनो। ६७

ऐसे प्रेमरस से भरकर जब श्री कृष्ण बोलने लगे, तब वह लक्ष्यही अर्जुन का रूप लेकर आया। ६८

भगवान बताएँगे. वह कुछभी नहीं; इतना अपार श्रोतापन अर्जुन को प्राप्त हुआ। जैसे आकाश की पकड़ दसोंदिशा में फैली हुई होती है। ६९

श्री कृष्ण के बोलसागर को, यह अर्जुन, दूसरा अगस्त्य ही मिलगया। इसलिये सबका एकदम घूंट लेने की इच्छा इसको हो रही है। ७०

ऐसी अमर्याद चाहत अर्जुन में उभरी हुई देखकर श्री कृष्ण ने अपने स्वानंद से ही उसकी आरती की। ७१

गीता १

फिर भगवान कहनेलगे: हे धनंजय, इस वृक्ष को वह ऊर्ध्व है जिसे यह ऊर्ध्वता वृक्ष के कारणही मिली है। ७२

नहीं तो मध्य, ऊर्ध्व, अध. यह भेद उस अद्वैत को नहीं। ऐसा उसके बारे में एकमत है। ७३

वह न सुनने का नाद है। न सूंघने का मकरन्द है। और रूप न होते हुए आनंदरूप है। ७४

जिसको वह ही, इस पार उस पार है। जिसको वह ही आगे-पीछे है। और दृष्टि बिना दीखने वाला जो अदृश्य है। ७५

द्वैत उपाधि का पसारा फैलने के बाद, जिसका नामरूपादि ससार का प्रारम्भ होता है। ७६

ज्ञाता और ज्ञेय इनके बिना जो केवल ज्ञान है। सुख से भरा हुआ जो छना हुआ गगन है। ७७

जो कार्य भी नही ओर कारण भी नही। जिसको दूजापन नही, या एकपन भी नही। जो स्वय अपने को जानने वाला है। ७८

ऐसी जो सत्यवस्तु है, वह इस वृक्ष का ऊर्ध्व है। वहाँ जडो का उद्भव इसी तरह से होना है। ७९

तो, माया, इस नाम से जो जानी जाती है। न होना यही जिसका अस्तित्व है। या बाझ के सतान का वर्णन जैसा होगा, वैसी जो है। ८०

उसको सत् नही कह सकते व असत् भी नही कह सकते। जहाँ किसी विचार का नाम भी सहन नही हो सकता। ८१

संसार वृक्ष का जो बीज है। इस प्रपच की जन्मभूमि है। जो अज्ञान की जलती हुई ज्योत है। ८२

जो अनेक शक्तियो का पिटारा है। जो भ्रमरूप जग का आकाश है। जो आकार-जात का तय किया हुआ रूप है। ८३

यह माया परब्रह्म मे, नही के स्वरूप में होती है। और परब्रह्म के प्रकाशरूप में प्रगट होतो है। ८४

जब अपने को नींद आती है, तब हम ही अपने आप को चुप बैठाते हैं। या काजली, दीप-प्रकाश को मन्दपन लाती है। ८५

जैसे स्वप्न मे प्रिय के सामने प्रिया उसको स्वप्न में ही जागृत कर, प्रत्यक्ष आलिंगन के बिना आलिंगन देकर सकाम करती है। ८६

उसी तरह से परब्रह्मस्वरूप से ही उत्पन्न हुई माया, अज्ञान अपने आश्रय में लाती है। यहीं इस वृक्ष की पहली जड़ है। ८७

परब्रह्म की अबोधावस्था, यही इस ऊर्ध्व मे एक कन्द तैयार हो गया। वेदान्त मे प्रसिद्ध, ऐसा जो बीजभाव मानते हैं, वह यही है। ८८

अज्ञान की गूढ सुषुप्ति की अवस्था को ही बीजभाव कहते हैं। दूसरे, स्वप्न या जागृति, ये जो दो अवस्था हैं, वे अज्ञान के फलभाव हैं। ८९

ऐसा वेदान्त मे निरूपणभाषा का अनुभव है। किन्तु अभी यह छोड़दो। अज्ञान, यह उस वृक्ष का एक मूल है। ९०

विशुद्ध ऊर्ध्व आत्मा में, माया के दृढ़ संयोग के कारण तैयार हुई क्यारी मे अध और ऊर्ध्व जड़ दीखनी शुरु हो गई। ९१

फिर, नीचेवाली अगणित देहरूपें चारों ओर अंकुररूप में उठनी आरम्भ हो गईं। ९२

इसी तरह से उस भवतरू का मूल, ऊर्ध्व मे दृढ़ होने के पश्चात्, नीचे की ओर अकुरों के गुच्छे दीखने लगे। ९३

वहाँ चितवृत्ति, यह पहला कौतुक से निकला हुआ, महतत्व का इकलौता पान दीखने लगा। ९४

बाद में सत्व, रज, तम, ऐसा जो एक त्रिविध अहकार है, वह त्रिदल स्वरूप का नीचे मुँह वाला एक डण्ठल निकल आया। ९५

वह डण्ठल, बुद्धि की नोकें लेकर, भेद बढ़ाने लगा और मन की एक सुन्दर टहनी दीखने लगी। ९६

जड़ की दृढ़ता में से, विकल्परसयुक्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि और चैतन्य; ऐसी कोमल-कोमल टहनियां उभरने लगीं। ९७

बाद में पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश, ऐसे पंचमहाभूतों की पाँच टहनियाँ सीधी और लम्बी बढ़ने लगीं। ९८

उसी तरह से ही श्रोत्रादि इन्द्रियों की उन छोटी टहनियों के ऊपर, कोमल और नरम-सी बड़े विचित्र आकार की पत्तियाँ, उगने लगीं। ९९

वहाँ शब्दांकुर फूटने के बाद, कान की वासनाओं की, काण्ड-काण्ड से बाढ़ होने लगी। १००

त्वचा की बेली के ऊपर स्पर्श के अंकुर बढ़ने लगे और वहाँ नए-नए विकारों की धुंध दीखने लगी। १०१

बाद में, रूप के पत्ते बढने के बाद. दृष्टि की लम्बी-लम्बी काण्ड बढ़ गईं; और व्यामोहता बहुत बढ़ने लगी। १०२

और अंग में अनेक रसों की बहुत बाढ़ होने के बाद, जिव्हा को स्वाद की हवस अमर्याद बढ़ने लगी। १०३

वैसे ही, गंध को जब अंकुर आगए, तब नाक की नोक दृढ़ होने लगी; और वहाँ प्रलोभ का आनंद गहरा होगया। १०४

सहज, महतत्व से उत्पन्न हुए अहंकार, बुद्धि, मन और पंचमहाभूतों की समृद्धि, ऐसे संसार के विभाग, तैयार होने लगे। १०५

संक्षिप्त में, इन आठों अंग से यह माया-तरू अधिक विस्तृत होता है। किन्तु जितनी सीप बड़ी होती है, इतना ही जैसा चांदी का भास होता है। १०६

या, समुद्र का जितना पसारा, उतना ही भासने वाली तरंगता। उसी तरह से, इस अज्ञानमूल से, ब्रह्म ही वृक्षाकार हुआ। १०७

इसीलिये, इस वृक्ष का विस्तार ब्रह्म ही है। जिस तरह से स्वप्न में हम अकेले ही सब परिवार हो जाते हैं। १०८

किन्तु अब यह छोड़ दो। ऐसा यह भ्रममूलक वृक्ष बढ़ता रहता है। और महदादि तत्वों में से नीचे बढ़ने वाली टहनियाँ उत्पन्न होती हैं। १०९

और जानने वाले लोग इसको 'अश्वत्थ' ऐसा कहते हैं। वह क्यों, यही अब कहता हूँ। सुनो। ११०

तो, श्वः माने अल्पकाल। इस प्रपंचरूप वृक्ष का अल्पकाल भी एक समान अस्तित्व नहीं। १११

एक क्षण भी नही जाता, कि मेघ में जैसे अनेक वर्ण होते रहते हैं। या बिजली एक क्षणभर ही पूर्ण होती नहीं। ११२

डोलते हुए कमलदल के ऊपरका पानी, या घायलमनुष्य का चित्त, जैसा एक क्षणभर स्थिर नहीं होता। ११३

ऐसी ही इस वृक्ष की अवस्था है। क्षण-क्षण में इसका रूप नष्ट होता है। इसीलिये इसको अश्वत्थ, ऐसा कहते हैं। ११४

अश्वत्थ माने पीपल, ऐसे सामान्यतः समझा जाता है। किन्तु श्री कृष्ण का वह अभिप्राय नहीं। ११५

नहीं तो, पीपल के अस्तित्व के बारे में, मुझे भी सचमुच यही भाव आजाता । किन्तु यह रहने दो । अपने को लौकिक अर्थ से क्या सम्बन्ध । ११६

इसीलिये सांप्रत, इस ग्रंथ का अलौलिक अर्थ सुनो तो क्षणभंगुरता के कारण इसको अश्वत्थ कहते हैं । ११७

किन्तु इस वृक्ष को अविनाशित्व का भी महत्व है । परन्तु उस महत्व का अन्तर ऐसा है । ११८

जैसा समुद्र, मेघ के मुख से एक ओर से उठाता रहता है और दूसरी ओर नदीरूप में भरता रहता है । ११९

वहाँ वह बढ़ता भी नहीं और कम भी नहीं होता; ऐसा परिपूर्ण दीखता है । किन्तु वह, मेघ और नदी का यह रहस्य जब तक खुला नही तब तक ही । १२०

ऐसा ही इस वृक्ष का होना जाना । इसका तर्क नही कर सकते क्योंकि यह ऐसा बहुत तेजी से हो जाता है । इसलिये लोग इसे अव्यय कहते हैं । १२१

नहीं तो दानशील पुरुष, उसके दानृत्व से ही, संचय करने वाला लगता है । उसी तरह से यह वृक्ष नाशवन्तता से ही अविनाशी लगता है । १२२

जब किसी वस्तु को प्रचंड वेग आ जाता है, तब वह जमीन में फँसीहुई-सी स्थिर दीखती है जैसा रथचक्र । १२३

इसी तरह से समय के कारण इस वृक्ष की भूताशाखा जहाँ सूखकर गिरती रहती है, वहाँ अनेक नयी आती भी रहती हैं । १२४

आषाढ़मास के बादल, जैसे कब आए और कब गए, यह मालूम नही होता। उसी तरह से इस वृक्ष की एक टहनी कब गई, और दूसरी अनेक टहनियाँ कब आईं यह समझ नही आता। १२५

किन्तु महाकल्प के आखिर मे, फिर उदय होने के बाद, अनेक सृष्टियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इसी तरह से इस वृक्ष पर और अनेक शाखाओ का जगल फैलता है। १२६

सहार समय की प्रचड वायु के कारण उसकी प्रलयसमय की खाल गलने लगती है और फिर कल्प के आरंभ मे इनकी जमघट पुन. प्रगट होनी शुरु होती है। १२७

गन्ना जैसा कांड-कांड से बलवान होता रहता है. उसी तरह से मन्वंतर जाते हैं, मनु के वंश पर वंश उत्पन्न होते हैं। १२८

कलियुग के आखिर मे चार युगों की सूखी खाल गल जाती है, और कृतयुग के आरम्भ मे अनेक गुणा उत्पन्न होती हैं। १२९

चलता हुआ वर्ष जाता है और तुरन्त दूसरे का आरम्भ होता है। जैसा दिन जाता है कब और आता है कब, यह निश्चित कर नहीं सकते। १३०

जैसे वायु की लहरो का जोड नहीं दिखता। उसी तरह से कितनी शाखा गिर जातीं है और कितनी नई आती हैं पता नही लगता। १३१

एक देह की टहनी टूटती न टूटती, उसी समय अनेक देहांकुर फूटने लगते हैं। इसी तरह से यह भवतरू अव्यय ऐसा प्रतीत होने लगता है। १३२

जैसे बहता हुआ पानी वेग से जाता है किन्तु उसके साथ ही और पानी पीछे से आकर मिलता रहता है। इसलिये यह जग, अस्थिर होते हुए भी. इसे स्थिर समझा जाता है। १३३

आँखों की खुलबंदी में कितने ही तरंग उठते हैं और जाते हैं। किन्तु यह न समझने के कारण तरंग नित्य लगते हैं। १३४

कौवा एक ही पुतली से दोनों ओर अनेक बार दृष्टि घुमाते हुए, उसकी दो आँखें हैं ऐसा जग को भास होता है। १३५

लट्टू जब भूमि पर गिर जाता है तो तेजी से फिरते हुए, भूमि को चिपका हुआ दीखता है। १३६

यह शोधन अब छोड़ देते हैं। अन्धेरे में जली हुई ज्योत घुमाते रहे तो वह चक्राकार दीखने लगती है। १३७

इसी तरह से यह संसारवृक्ष सतत टूटता बनता रहता है। किन्तु यह न दीखने के कारण, लोग पागल जैसे, उसे अव्यय मानते हैं। १३८

जो यह वृक्ष क्षणभंगुर ऐसा लगता है; किन्तु उसका वेग देखो, एक क्षण में वह कितनी ही बार होता और जाता है। १३९

अज्ञान के सिवाय उसकी दूसरी अन्य कोई जड़ नहीं। उसका अस्तित्व, यही झूठा है। ऐसा यह वृक्ष असत्य है, ऐसा जो समझता है, १४०

हे अर्जुन, मैं सर्वज्ञ होकर भी उसको ज्ञानी मानता हूँ। और वेद सिद्धांतों को भी वह ही वन्द्य होता है। १४१

योगशास्त्र की सिद्धि उस अकेले को उपयोग में आती है। इतना ही नहीं ज्ञान भी उसके कारण ही जीवित है। १४२

यह अधिक बोलना अब बन्द करता हूँ। यह भवतरू, जिसको क्षणभंगुर, ऐसा समझ में आया, उसका वर्णन कौन करे। १४३

गीता २

नीचे की ओर बढ़ी हुई प्रपंचरूप शाखा के इस वृक्ष की, अनेक शाखाएँ ऊपर की ओर भी होती है। १४४

नीचे फैली हुई शाखाएं, आगे जड बन जाती हैं, और उनको भी नीचे की ओर टहनियाँ व पत्ते फूटने शुरु होते है। १४५

ऐसा जो मैंने शुरु मे कहा था, उसके सम्बन्ध में अब, सरल भाषा मे कहता हूं। १४६

तो अज्ञान की दृढ जडे, महदादिकों की सत्ता, और वेदों की अपार अरण्य, ऐसी सामर्थ्य लेकर, १४७

प्रथम स्वेदज, जारज, उद्भिज्ज और योगज ऐसी चार महाभुजायें तल से उठती हैं। १४८

इन एक-एक के कन्द मे से चौरासी लक्ष टहनियां जब फूटनी शुरु होती हैं, उस समय अनेक जीवशाखा मे यह बढने लगता है। १४९

सीधे स्वरूप की इन टहनियों मे से अलग-अलग सृष्टिशाखाएं माला के आकार मे सब ओर फैलती है। १५०

स्त्री, पुरुष और नपुंसक, ऐसे व्यक्तिभेद के गुच्छे अपने अंग के विकारभार से लटकते रहते हैं। १५१

जैसे आकाश में वर्षाकाल नए बादलों के रूप में प्रगट होने लगता है। उसी तरह से आकार की बेलियाँ फैलने लगती हैं। १५२

जब गुणों की तेज हवा चलती है, तो शाखाएं अपने भार से झुककर एकमेक में फँस जाती हैं। १५३

उन अपार गुणों की फड़फड़ाहट से यह ऊर्ध्वमूल वृक्ष तीन विभागों में फटता है । १५४

रजोगुण की हवा से जो अलग हलचल होती है, उसमं से मानवजाति की शाखाएं बढ़ने लगती हैं । १५५

वे ना उपर वाली न नीचे वाली । ऐसी मध्य अवस्था मे फँसी हुई शाखा में से, चातुरवर्ण की टहनियां फूटती हैं । १५६

वहाँ विधिनिषेध के पत्ते, वेद-वाक्यों की अनोखी पल्लवी डोलती हुई उस वृक्ष को अच्छी शोभा लाती है । १५७

अर्थ, काम, फैल जाता है । और भी कई भोगों के क्षणभर रहने वाले अनेक प्रकार के अंकुर प्रगट होने शुरु होते हैं । १५८

वहाँ कर्म की हवस बढ़ने के कारण, शुभ-अशुभ ऐसे अलग-अलग कर्मो की कितनी ही टहनियाँ फूटती हैं, कौन जाने ! १५९

पिछले भोग समाप्त होने के बाद देहो की सूखी हुई डंठले गल जातीं न जातीं, इतने में, नवीन देहो की बाढ़ शुरु होती है । १६०

और स्वाभाविक आकर्षण से शोभने वाली शब्दादिक विषयरूप पल्लवी नई और एक के पीछे एक, ऐसी आती रहती है । १६१

ऐसे प्रचण्ड रजो गुण के वातावरण में मुनप्य शाखा के डंडे बढते रहते हैं । उसको यहाँ मुनष्यलोक, ऐसा कहते हैं । १६२

बाद में वह रज की हवा क्षणभर रुक जाती है और फिर तमोगुण की गड़गड़ाहट बजने लगती है । १६३

तब इन्हीं मुनष्य शाखाओं को नीचे बढ़ने वाले कुकर्म की, बुरी और वासनारूप टहनी फूटना शुरु होती है । १६४

निषिद्ध कर्म के खोखले और सीधे लम्बे डंडे, बुरे आचरण की टहनियाँ और पत्ते लेकर, बढ़ते हैं। १६५

ऋक्, यजु, साम, इन तीनों वेदों ने कहे हुए त्याज्य नियम, ये पत्ते, इन टहनियों की नोक में आवाज करने लगते हैं। १६६

दुराचार का प्रतिपादन करने वाले, जो हिंसक शास्त्र हैं, वह वासना-बेल पत्तों सहित बढ़ने लगती है। १६७

वासना बेलियाँ जब तक बढ़ती रहती हैं, तब तक अकर्म की नीचे वाली जड़ें मजबूत होती रहती है। और इसी कारण जन्म शाखा आगे-आगे बढ़ती रहती है। १६८

वहाँ चाण्डाल आदि नीच बुरे आचरण की जातियाँ जो होती हैं, उन टहनियों के जाल में कर्मभ्रष्ट भूल से फँस जाते हैं। १६९

और इसी कारण पशु, पक्षी, सूअर, बाघ, बिच्छु, सांप, ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी शाखाएं बढ़ती रहती हैं। १७०

किन्तु अर्जुन, ऐसी शाखा के सर्वांग के ऊपर नए-नए नरक भोग, फलरूप से प्राप्त होते हैं। १७१

और, हिंसा, विषय वासना, ऐसी प्रमुख कुकर्मसंग की तीव्र इच्छाएँ जन्म-जन्म नोक-जैसी बढ़ती रहती हैं। १७२

ऐसी परिस्थिति में घास, झाड़, लोहा, मिट्टी, पत्थर, ऐसी टहनियाँ और उनके ऊपर उसी प्रकार के फल, आते रहते हैं। १७३

यह देखो अर्जुन, मनुष्य से लेकर इन स्थावर अवस्था तक सब अधोशाखा की बाढ़ होती रहती है। १७४

इसीलिये मुनष्यशाखा, यही इन सब की प्रथमजड़ है। यहाँ से ही यह संसारवृक्ष बढ़ता रहता है। १७५

अर्जुन, ऊर्ध्व की प्रारम्भजड़ का विचार किया तो ये सब टहनियाँ, नीचे वालीं, मध्य वालीं, ऐसी समझी जाती हैं। १७६

किन्तु, तामसी, सात्विक ऐसी सुकृत व दुष्कृत जो शाखाएं बढ़ती हैं, वे नीचे और ऊपर वाली समझनी चाहिएँ। १७७

अर्जुन, तीनों वेदों के पान अन्य किसी भी टहनी को लगते नही. ऐसा कहने में, मुनष्य की टहनी, यही कहना है। १७८

इसीलिये मनुष्यदेह, यह ऊर्ध्वजड से निकली हुई टहनी होते हुए भी, कर्मवृद्धि को जड़ होजाती है। १७९

और, सामान्य वृक्ष का भी ऐसा ही है। शाखा बढ़े तो जड भी बढ़ते हैं, और जड़ बढ़ें तो शाखा बढती हैं। १८०

इस शरीरका भी ऐसा ही हैं। कर्म जब तक है, तब तक ही देह का संसार। इसीलिये जब तक देह है, कर्म को नकारना नहीं चाहिये। १८१

और इसीलिये ही, मनुष्यदेह को जड़ होना छूटता नहीं। ऐसा जगतपिता श्री कृष्ण बोले। १८२

फिर जब तमोगुण का अत्यंत कष्टदायक हवा का जोर रुक जाता है, तब सत्व की उपयुक्त आँधी उठती है। १८३

तब इन मुनष्याकारजड़ों में से सद्वासना की नोकें निकलकर उनमें से सुकृतों के अंकुर फूटने लगते हैं। १८४

विकसित हुए ज्ञान से बुद्धिकौशल की नोकदार टहनियाँ क्षणभर में विस्तृत होकर निकलती हैं। १८५

स्फूर्ति की शक्ति से बुद्धि के डंडे बढ़ने लगते हैं। उस समय विवेकरूप बुद्धिप्रकाश बाहर तेजी से प्रगट होता है। १८६

वहाँ बुद्धिरस से भरे हुए, आस्थापानों से सुशोभित, ऐसे सद्वर्तन के अंकुर फूटने लगते हैं। १८७

सामान्यत: सदाचार के बहुत पत्ते प्रगट होते हैं, और वे वेदपदों के घोष से निनादते हैं। १८८

श्रेष्ठपुरुषों के उपदेश, विविध यज्ञकर्म, ऐसे पानों के बाद पान प्रसारने लगते हैं। १८९

और तपों की टहनियों पर यमदम के गुच्छे लटकने लगते हैं। और वैराग्यशाखा उन्हें प्रेम से आलिगन देती है। १९०

अलग-अलग व्रत की टहनियाँ और धैर्य की तीक्ष्ण अनुगाठियाँ, तेजी से जन्म लेती हैं और ऊर्ध्वमुख बढ़ने लगती हैं। १९१

उसमें से खचा-खच उगेहुए वेदों के पानें सुविद्या की फड़फड़ाहट करते हैं, जब सत्वगुण की हवा जोर से चलने लगती है। १९२

वहाँ धर्म की शाखाएं बढ़कर उनमें से सीधी जन्मशाखाए उत्पन्न होती दीखती हैं, और वे स्वर्गादिफल से भरजाती हैं। १९३

फिर उपरति की लाल रंग की शाखाओं के ऊपर धर्म-मोक्ष की नित्य नई-नई पल्लवी चमकती हुई बढ़ती रहती है। १९४

सूर्य-चन्द्र इन जैसे श्रेष्ठ ग्रह, पित्रु ऋषि व विद्वान की, आढ़ी शाखाएं फैलने लगती हैं। १९५

उनके ऊपर काफी ऊँचाई पर चिपके हुए फल के गुच्छे जिन पर होते हैं, ऐसे इन्द्रादिक, ये बड़ी शाखाओं की उपशाखा हैं। १९६

फिर, उसके ही ऊपर जो शाखाएं होतीं हैं वे, तप, ज्ञान, से बढ़ी हुई, मरीचि काश्यप आदि शाखाएं, ऊपर बढ़ती हैं। १९७

संक्षिप्त में, माला प्रकार लगातार एक के पीछे एक बढ़ने वाला ऊर्ध्वशाखा का फैलाव, फल-भार के कारण जड़ में छोटा व नोकों में बड़ा लगता है। १९८

अर्जुन, इन ऊपरवाली शाखाओं के बाद में इसको जो फलभार आते हैं, वे ब्रह्मदेव, शंकर, ऐसे महत्वपूर्ण होते हैं। १९९

फलभार के कारण ऊर्ध्व में झुकाव आजाता है। फिर उनका अस्तित्व मूल की ओर ही हो जाता है। २००

सामान्य वृक्षों का भी ऐसा ही होता है। जब टहनी पर बहुतसे फल आते हैं तब झुककर जड़ की ओर आई हुई दीखती है। २०१

अर्जुन, जहाँ से इस सम्पूर्ण संसारतरू की बाढ़ होती है, उस मूलस्थिति को, वे सब, ज्ञान बढ़ने के कारण वापस आते हैं। २०२

इसीलिये जीव को ब्रह्मदेव, शंकर, इससे अधिक बढ़ना नही होता है। क्योंकि इसके आगे केवल परब्रह्म ही है। २०३

किन्तु अब यह भी छोड़दो। इस वृक्ष के ब्रह्मादिक, ये भाग, ऊर्ध्वमूल की तुलना के नहीं होते। २०४

और भी सनकादिक नाम की प्रसिद्ध ऊपरवाली शाखाएं फल व मूल में अटककर न रहते हुए, सीधे परब्रह्म को मिलती हैं। २०५

मनुष्य से ब्रह्मा तक यह विस्तार, ऊर्ध्व का ही जानो। ऐसी शाखाएं बढ़कर, यह वृक्ष ऊंचा होता है। २०६

अर्जुन, ऊर्ध्वस्थान के ब्रह्मादिकों को मनुष्यत्व यही आद्यस्थिति है, इसीलिये हम भी उसे नीचेवाली जड़ कहें। २०७

इसी तरह से तुझे यह अलौकिक, ऐसा अध-ऊर्ध्व शाखावाला, ऊर्ध्वमूल संसारवृक्ष कहा। २०८

और, इन नीचे वाली जड़ों के सम्बन्ध में भी तुझे विस्तार से कहा। अब यह कैसे गिर पड़ेगा, यह तुझे बताता हूँ। सुनो। २०९

गीता ३

अर्जुन, तेरे मन में सचमुच ऐसा विचार आता हो कि यह इतना बड़ा वृक्ष उखड़ेगा, ऐसा कुछ है क्या। २१०

क्योंकि ब्रह्म के आखिर तक जिसकी ऊर्ध्वशाखा की बाढ़ हुई है, और जिसका मूल तो निराकार, ऐसे उर्ध्व में है। २११

यह नीचे वाली डालियों से स्थावर के नीचे तक बढ़ता है, और बीच में दूसरे मनुष्यरूपीजड़ से भी बढ़ता रहता है। २१२

ऐसा मजबूत और प्रचंड बढ़ा हुआ यह वृक्ष; इसको कौन काट सके ? ऐसा कमजोर भाव तुम रखो नहीं। २१३

अरे, यह दोष के समेत उखड़ने में क्या कष्ट ! बच्चे का, काल्पनिक राक्षस, किसी अन्य देश को सचमुच भगाना पड़ता है क्या ? २१४

गंधर्वदुर्ग क्या गिराने होते हैं ? या खरगोश का सींग तोड़ना होता है ? या आकाश-पुष्प खिल गया, अब तोड़ो; ऐसा कुछ है ? २१५

इसी तरह से हे वीरपुरुष, यह संसार-वृक्ष सच्चा तो है नहीं, फिर उखाड़कर फेंकने का डर क्यों। २१६

अरे मैंने, इसकी शाखा, जड़, इनकी बाढ़, ऐसा जो कहा; वह सब बांझ के घर के बच्चे, ऐसा समझो। २१७

जागने के बाद स्वप्न के बोल का क्या अर्थ। इसी तरह से ऐसी यह कहानी झूठी समझो। २१८

नहीं तो मैंने जैसा कहा कि इसका मूल बडा मजबूत है, ऐसा सचमुच अगर वह होगा, २१९

तो. किसकी ताकत है कि जो उसे उखाड़ सके ? क्या फूंकने से आकाश उड़ जाएगा। २२०

इसीलिये हे अर्जुन, मैंने जिस स्वरूप का वर्णन किया, वह केवल माया। कछुवी के घी से राजा को भोजन देना, ऐसा यह है। २२१

मृगजल के तालाब, दृष्टि दूर रखकर ही देखने चाहिये। नही तो, क्या उस पानी से खेती करना होता है ? २२२

पहले तो अज्ञान ही झूठा। फिर उसका कार्य क्या होगा ? इसीलिये यह संसारवृक्ष सत्य कहाँ का ! झूठा ही है। २२३

और इसे अंत नहीं, ऐसा जो कहा जाता है, वह भी एक प्रकार से सत्य ही है। २२४

क्योंकि जब तक जागृति नहीं, तब तक निद्रा को कुछ अन्त है क्या ? या जब तक रात्र का अन्त नहीं हुआ, तब तक उस प्रकाश का दर्शन होने वाला नहीं। २२५

इसी तरह से अर्जुन, जब तक विवेक सिर नहीं उठाता तब तक इस संसारस्वरूप अश्वत्थ को अन्त नहीं। २२६

या बहती हवा जब तक शान्त नहीं हुई, तब तक तरंग को अनन्त, ऐसा कहना ही पड़ेगा । २२७

इसीलिये सूर्यास्त होने के बाद मृगजलभास नष्ट होता है । या दीप बुझाने के बाद प्रकाश जाता है । २२८

इसी तरह से इस वृक्ष की अज्ञानजड़ खाकर, ज्ञान जब खड़ा हो जाएगा, तब ही इसका अंत सम्भव है । अन्यथा नहीं । २२९

और यह अनादि है, ऐसा जो शब्दप्रयोग है, वह भी इसके थोड़ा ही विरुद्ध नहीं । २३०

कारण, इस संसारवृक्ष में जब सच्चापन नहीं, तब जो नहीं, उसको आदि कैसा और कौन हो सकता है । इसीलिये अनादि है । २३१

जो सच्चा जहाँ से उत्पन्न होता है, उसको आदि कहना ठीक होता है । अब जो नहीं है उसको आदि कैसे कहें । २३२

जिसने जन्म ही लिया नहीं उसकी माता किसको कहें । इसीलिये नहीं पन से ही यह अनादि है । २३३

बांझ के बच्चे की जन्मपत्री कैसे बनाएँ । आसमान में नीली जमीन की कल्पना कैसे करें । २३४

अर्जुन, आकाश-पुष्प का डण्ठल कौन तोड़ेगा । इसीलिये जो नहीं है ऐसे इस भववृक्ष को आदि कैसा ? २३५

मटका न बने, तो उसका नहींपन है ही । ऐसा ही यह समूल वृक्ष अनादि समझलो । २३६

अर्जुन, इसी कारण से ही इसको आदि और अन्त नहीं । केवल बीच में कुछ स्थिति का भास होता है, किन्तु वह भी झूठ ही है । २३७

ब्रह्मगिरि से निकलता नहीं और समुद्र में भी विलीन नहीं होता, बीच में केवल दीखता है; जैसा मृगजल। २३८

वह आदि-अन्त में सच्चा तो नहीं, और खरापन भी कहीं नहीं, फिरभी झूठेपन का कौतुक भासमान होता है। २३९

अनेक रंगों से जैसा इन्द्रधनुष चमकता दीखता है। उसी तरह से ज्ञान न होने वाले को यह 'है', ऐसा भासता है। २४०

ऐसे अस्तित्व के समय, यह अज्ञानी आँखों को भुलाता है। जैसे जादूगर, सामान्यजनों को अपने वेष से भुलाता है। २४१

आसमान में, जो नहीं है वह श्यामाकृति दिखने में आई, तो आने दो। किन्तु वह दिखना भी क्षण में होता है क्षण में जाता है। २४२

इसे स्वप्न जैसा झूठा भी मान लिया, तब भी, उतना भी टिकने वाला है क्या? यह आभास क्षणिक ही है। २४३

देखे, तो है, और अच्छा भी लगता है। किन्तु लेने जाए तो टूट जाता है। जैसे पानी में बन्दर चेष्टा करता है। २४४

इसका होना-जाना केवल आभास ही है, जैसे तरंग का उठना-भंगहोना। यहाँ बिजली का चमकना भी तुलना में नही आता। २४५

ग्रीष्म के आखिर में हवा आगे से आती है या पीछे से आती है, यह मालूम नहीं पड़ता। वैसी ही स्थिति इस झूठे भवरूप वृक्ष की है। २४६

संक्षिप्त में, इसको आदि व अन्तस्थिति नही, रूप भी नहीं। फिर उखाड़ने में कैसा कष्ट? २४७

अर्जुन, अपने अज्ञान के कारण से यह झूठा वृक्ष बढ़ा हुआ था; अब आत्मज्ञान के शस्त्र से उसको तोड़दो। २४८

इस एक ज्ञान के सिवाय जितने दूसरे [illegible] करोगे वे सब इस वृक्ष में अधिकाधिक फँसाएंगे। २४९

फिर कितनी टहनियों पर ऊपर-नीचे घूमते रहना ! इसीलिये श्रेष्ठ, ऐसे ज्ञान से, इसका अज्ञानमूल ही काटदो। २५०

नहीं तो रस्से के सांप को मारने के लिये डंडे इकट्ठे कर लिये तो सब बेकार कष्ट किया, ऐसा ही होगा। २५१

मृगजल की गंगा तरकर जाने के लिये नाव के वास्ते जंगल की ओर दौड़कर गए, तो वहाँ सचमुच किसी अकस्मात् प्रवाह में ही डूबने का डर है। २५२

इसी प्रकार इस असत् संसारवृक्ष का नाश करने की उलझन में फँसे हुए वीर की, अपनी शान्तता बिगड़ जाएगी। २५३

इसीलिए अर्जुन, स्वप्नभय को जागृति, यही जैसे औषध है। उसी तरह से अज्ञानमूलक इस वृक्ष को ज्ञान, यही शस्त्र है। २५४

किन्तु यह शस्त्र आसानी से तीक्ष्ण करके ले सकें, ऐसा वैराग्य का नित्यनूतन भंग न होने वाला बल, बुद्धि को मिलना चाहिये। २५५

वैराग्यप्राप्ति के बाद स्वर्ग, भूमि, पाताल, यह त्रिवर्ग ऐसा त्याज्य होता है जैसा कुत्ता अभी उल्टी करके चला गया हो। २५६

अर्जुन, इस वैराग्य का श्रेष्ठपन ऐसा चाहिये कि सर्व पदार्थजाति के बारे में मन में घृणा उत्पन्न होजाए। २५७

फिर देह-अहंकार की म्यान से ज्ञान-खड्ग एकदम बाहर निकालकर, सिद्धबुद्धि के हाथ में पकड़ रखो। २५८

विवेक के सिल पर घिसकर, ब्रह्मास्मि, ऐसे बोध की धार आने के बाद, उसपर पूर्णबोध का उबटन लगाकर रखे। २५९

फिर निश्चय की कलाई-शक्ति एक-दो बार आजमाकर, मनन तक अच्छी हो गई, ऐसा देखो। २६०

बाद में निदिध्यास से, शस्त्र में व अपने में एकरूपता आने के बाद, आगे घाव करने के लिए दूसरा कोई रहेगा नहीं। २६१

वह आत्मज्ञान का, अद्वैततेज से चमकने वाला शस्त्र, इस भवतरु को थोड़ा भी शेष छोड़ेगा नहीं। २६२

शरदऋतु के आरम्भ की हवा जैसे आकाश स्वच्छ करके रखती है। या उगा हुआ सूर्य जैसे अन्धेरे का घूँट करलेता है। २६३

या पूर्णजागृति की भेंट जैसे स्वप्नसमभ्रम का ठाठठिकाना नष्ट करदेती है। उसी तरह से आत्मानुभव की धार का घाव, भवतरु की यही अवस्था करदेगा। २६४

तब ऊर्ध्व या ऊर्ध्व के मूल या आदिशाखाएं, इनमें से कुछभी रहेगा नहीं। जैसे चादनी में मृगजल। २६५

इसी प्रकार हे वीरश्रेष्ठ, आत्मज्ञान के शस्त्र से. ऊर्ध्वमूल, ऐसे इस संसार अश्वत्थ को तोड़कर, २६६

गीता ४

फिर जिसमें इदम नष्ट होगया: मैंपन चलागया; ऐसा खिला हुआ अपना शुद्ध आत्मस्वरूप देखो। २६७

किन्तु सामान्यजन, दर्पण के आधार से अपना मुख्य मुख दूसरा करके देखते हैं, ऐसा यह न हो। २६८

अर्जुन, यह देखना ऐसा होता है जैसे कुएं का अस्तित्व होते हुए, पानी के स्त्रोत को उसके उगमस्थान पर पूरा भरा हुआ जानना। २६९

या पानी सूख जाने के बाद, प्रतिबिम्ब जैसे अपने मूलबिम्ब में विलीन होता है। या घड़ा टूटने के बाद जैसे आकाश में आकाश मिल जाता है। २७०

सब तरह का ईन्धन समाप्त होने के बाद अग्नि जैसे अपने में वापस जाती है। उसी प्रकार अर्जुन. हमें अपने को अपने में ही देखना चाहिये। २७१

जिव्हा ने अपना ही स्वाद लेना है: आँखों ने अपनी ही पुतली देखनी है; यह आत्मस्वरूप का देखना ऐसा है। २७२

या प्रकाश, प्रकाश में मिल जाना; आकाश का आकाश के ऊपर लुढ़कना या पानी के ही खोल में पानी भरना। २७३

अद्वैतभाव से स्वयं ही अपने को देखना, यह सचमुच ऐसे ही स्वरूप का होता है. ऐसा कहते हैं। २७४

देखनापन के बिना ही जिसे देखना होना है; केवल न जानने वाला ही जान सकता है; या जिसको आद्यपुरुष, ऐसा जहाँ बोलते हैं। २७५

वहाँ भी उपाधि का आधार लेकर ही वेद जिव्हा उठाते हैं, और फिर नामरूप का व्यर्थ आडम्बर बढ़ाते हैं। २७६

किन्तु संसार और स्वर्ग इनकी उबक जिनको आती है, ऐसे जो मुमुक्ष, निश्चित वापस नही आना, ऐसे दृढ़भाव से योगज्ञान की ओर चले गये; २७७

संसार को पीछे छोड़कर निष्कामता की रुकावट पारकर. सत्यलोक प्राप्ति की कर्म-खाई दौड़कर पार करते हैं; २७८

सब अहंकारभाव अपने से दूर करते हैं; और जिस अपने मूलस्वरूप के घर की ओर जाने के लिये ज्ञानीलोग योग्यता-पत्र प्राप्त करते है । २७९

जिस वस्तु का अज्ञान, इस जग में बड़ा अन्यथाज्ञान लाया, और मै और तू यह न होता हुआ भाव, जिसने इस जग में स्थिर किया; २८०

और जहाँ से यह इतनी बड़ी विश्वपरम्परा बेली दुर्दैवी मनुष्य की व्यर्थ आशा की तरह बढ़ती है; २८१

हे पार्थ, वह वस्तु हमें प्रथम अपने मूलस्वरूप में ही देखनी चाहिये । जैसे ठंडक से ही ठंड ठंडी होजाए । २८२

अर्जुन, उसको जानने का और एक चिन्ह है । वह ऐसा, कि जिसको मिलने के बाद वापस आना ही नही । २८३

किन्तु उस वस्तु की भेंट उनको होती है, कि जिनको ज्ञान के कारण सर्वत्र एक ही दीखता हो; जैसे महाप्रयल का भराहुआ पानी । २८४

गीता ५

वर्षाऋतु के बाद मेघ जैसे आकाश छोडकर चले जाते हैं । उसी तरह से जिस पुरुष का मन, मोह और मान छोड़कर गया हो । २८५

द्रव्यहीन या निष्ठुर ऐसे मनुष्य को उसके सम्बन्धी जैसे उबक से छोड़ जाते हैं । वैसे जो ग्रासने वाले विकार को पास आने नही देता । २८६

केले का झाड़ एकबार फलने के बाद जैसा ढलता जाता है । उसी तरह से प्रबल आत्मलाभ होने के कारण जिनकी क्रिया धीरे-धीरे नष्ट होती जाती है । २८७

वृक्ष को आग लगी देखकर, पक्षी जैसे इधर-उधर भाग जाते हैं । उसी प्रकार सर्व विकल्प जिसको छोड़ जाते हैं । २८८

अर्जुन सुनो, जो भूमि सब तरह की अच्छी-बुरी घास उगाती है: उस समान जिसे भेदबुद्धि का भाव नहीं है। २८९

सूर्योदय होते ही रात जैसे स्वयं ही भाग जाती है। उसी तरह से अज्ञान के साथ जिसका देहाभिमान चला जाता है। २९०

आयुष्य समाप्त हुए जीव को जैसे शरीर एकदम छोड़ देता है। उसी तरह से अज्ञानात्मक द्वैत जिनको छोड़कर जाता है। २९१

पारस को जैसे लोहे का सहवास असंम्भव है। जैसे सूर्य, अंधेर जोड़ नही सकता। उसी तरह से जिसमें द्वैतभाव का दुष्काल रहता है। २९२

सुख-दुःखाकार ऐसी द्वन्द्व जिनमें दीखती है वे उसके सामने भी आ नही सकते। २९३

स्वप्न का राज्य या मरण, यह जैसा जाग आने बाद हर्ष-शोक का कारण नहीं रहता। २९४

गरुड जैसे सर्प का भय नही रखता। उसी प्रकार सुख-दुःख, पाप पुण्य, ऐसे द्वन्द्वों का जिसे भय नही होता। २९५

और अनात्म गोष्ठी का नीर छोड़कर, आत्म-रस की क्षीर प्राशन करने वाले वे, सुविचारी राजहंस है। २९६

जैसा पृथ्वी पर वर्षा करके सूर्य अपना रस किरणों के जाल में पकड़, वापस अपने स्वरूप में खींचकर लाता है। २९७

आत्मभ्रान्ति के कारण जो तत्व चारों ओर तितर-बितर हुआ होता है, वह अखण्ड ज्ञानदृष्टि से जो एकत्रकर लाते है। २९८

गंगा का प्रवाह जैसा समुद्र में विलीन हुआ होता है, इसी तरह से जिनका विवेक आत्मा के निश्चय में विलीन हुआ हो। २९९

सर्वात्मक होने के कारण जिसको कोई अभिलाषा रहित नहीं। जैसा यहाँ से अन्य स्थान जाना, यह अवस्था आकाश को नहीं। ३००

जैसे आग लगे हुए पहाड़ पर कोई बीज अंकुरता नहीं। इसी तरह से जिसके मन में कोई भी विकार उत्पन्न नहीं होता। ३०१

मन्द्राचल, क्षीर समुद्र से निकालने के बाद, वह जैसा शान्त होता है। उसी तरह से जिसमें कर्म इच्छा का छल उत्पन्न नहीं होता। ३०२

सर्वकला से पूर्ण चन्द्रमा जैसे कहीं से भी अधूरा नहीं दीखता। उसी तरह से जिसको अपेक्षा की आवश्यकता नहीं होती। ३०३

ऐसा व्यर्थ कितना बोलूँ। जैसे तेज हवा के सामने धूलिकण का ठिकाना नहीं। उसी तरह से जिसको विषयों का नाम भी अच्छा नहीं लगता। ३०४

संक्षिप्त में, जो-जो कोई आत्मज्ञान, ऐसी प्रसिद्ध अग्नि में शुद्ध किये हुए होते हैं, उनकी भेंट वहाँ होती है। जैसे सोना सोने में मिलता है। ३०५

वहाँ माने कहाँ ? ऐसा तुम पूछोगे तो, वहाँ माने जिस ठिकाने को कोई भी कमीपन नहीं। ३०६

दृश्यपन से जो देखे, या ज्ञेयपन से जिसको जाने, या अमूक, एक ऐसा निर्देश जिसके बारे में हो नहीं सकता: वहाँ। ३०७

गीता ६

दीप की जगमगाहट से जो दीखता है, या चन्द्र जिसको उजालता है, इतना ही नहीं, सूर्य ही जो प्रकाशित करता है, ३०८

वह सब दीखना माने ही जिसको न देखना। जो छुपने से ही, विश्व भासमान होता है। ३०९

जबतक सीपपन लुप्त रहता है तबतक चांदी सच लगती है । या रस्सीपन छुपा होगा तभी तो सर्पाभास बढता है । ३१०

उसी तरह चन्द्र-सूर्य आदि जो महातेज, अनंतकाल से हैं, वे जिसके अधेर से प्रकाशित होते है । ३११

जो वस्तु, या तेज की रास समझलो, विश्वात्मक और एकही, ऐसी है । जो चन्द्र-सूर्य के मन मे प्रकाशती है । ३१२

इसीलिये चन्द्र-सूर्य, ये उस वस्तु के प्रकाशबिन्दु है । तो तेजस्वी का तेज, उस वस्तु का अंग है । ३१३

और जिस वस्तु के प्रकाश मे चन्द्र-सूर्य के साथ सब जग लुप्त होता है । जैसे दिन खुलने के बाद, चन्द्र समेत नक्षत्र लोप हो जाते है । ३१४

या जागृति आने के बाद, वह स्वप्न का फैलाव जैसे लोप होता है । अथवा सायंकाल होने बाद, मृगजल रहता नही । ३१५

इसी तरह से जिस वस्तु मे किसी तरह का आभास नही होता वह मेरा अपना श्रेष्ठ निजधाम है, ऐसा समझलो । ३१६

फिर, वहाँ जो गए, वे वापस नही आते । जैसे जल-प्रवाह समुद्र को मिलने के बाद वही रहता है । ३१७

या नमक की हथिनी क्षार समुद्र में जाए, तो वह जैसे वापस नही आ सकती । ३१८

या जैसे अन्तराल में गई हुई अग्नि-ज्वाला वापस नहीं आती । या तपे हुए लोहे से पानी की वापसी नहीं । ३१९

उसी तरह से शुद्धज्ञान से जो मेरे साथ एकरूप हो गए, उन्होंने पुनरावृत्ति का मार्ग छोड़ दिया । ३२०

यह सुनकर बुद्धिजग का राजा अर्जुन कहने लगा: महाराज, आपकी अपार कृपा है। किन्तु भगवान को मेरी एक विनती है, उसकी ओर ध्यान दें। ३२१

तो, जो ब्रह्म के साथ एकरूप होते हैं, और जो वापस नहीं आते, वे परमेश्वर में भिन्नत्व से रहते हैं, या अभिन्नत्व से। ३२२

जब भिन्न ही अनादिसिद्ध होगा, तो आते नहीं कहना असम्बद्ध-सा दीखता है। जो भम्रर फूल की ओर जाते हैं, वे क्या फूल ही हो जाते हैं। ३२३

देखो, जो लक्ष्य से भिन्न, ऐसे बाण, लक्ष्य को स्पर्श करके, बाद में जैसे गिर जाते हैं। उसी प्रकार वे एक तरह से वापस आते ही हैं। ३२४

नही [illegible] जब तू ही होंगे तो फिर किसने किसको मिलना है। शस्त्र अपने [illegible] कैसे मार सकता है। ३२५

इसीलिये तुम्हारे से अभिन्न रहने वाले जीव को तुम्हारा संयोग या वियोग, यह भाषा ठीक नहीं। अवयवों को शरीर से संयोग वियोग नहीं होता। ३२६

और जो तुम्हारे से सदैव अलग होंगे, उनका तुम्हारे साथ मिलन कभी होने वाला नहीं। फिर, आते न आते, यह व्यर्थ कल्पना क्यों। ३२७

तो, तुम्हारी प्राप्ति होकर वापसी न आने वाले वे कौन होते हैं, यह सब हे विश्वतोमुख, मुझे समझाओ। ३२८

इस अर्जुन के आक्षेप से वे सर्वज्ञों के शिरोमणि श्री कृष्ण, अपने शिष्य का ज्ञान देखकर सन्तुष्ट हो गए। ३२९

और कहने लगे: हे बुद्धिवन्त, मुझे मिलकर जो वापसी नहीं होते, वे भिन्न और अभिन्न ऐसे दोनों प्रकार के होते हैं। ३३०

गहरे विचार से देखा जाए तो सहज ही वे मैं ही होते हैं। और ऊपर की दृष्टि से वे अलग, ऐसे भी लगते हैं। ३३१

जैसे तरंग उत्पन्न हो गए तो वे पानी से अलग दीखते हैं। नहीं तो केवल पानी है। ३३२

या, अलंकार सोने से अलग दीखते हैं, किन्तु विचार करें तो वे सब सोना ही हैं। ३३३

वैसे ज्ञान-दृष्टि को वे मुझसे अभिन्न ही हैं। भिन्नपन जो उत्पन्न होता है वह केवल अज्ञान के कारण। ३३४

सत्यवस्तु के विचार में मुझ अद्वैत को दूसरापन कैसे होगा, जो भिन्न-अभिन्न व्यवहार से ही उत्पन्न होता है। ३३५

सर्वाकाश पेट में डालकर जब सूर्यबिम्ब दीखना बन्द होता है, उस समय प्रतिबिम्ब कैसे दिखेगा, और किरण कहाँ जाएगी। ३३६

या, कल्पांत के पानी से अर्जुन, क्या झील भरने होते हैं? इसीलिये, एकात्म ऐसे मुझे, अंश का व्यवहार कैसे हो। ३३७

प्रवाह की चाल के कारण सीधा होता हुआ पानी टेढ़ा दीखता है। सूर्य को दूजापन आया, तो पानी के कारण। ३३८

आकाश गोल या चौरस, यह किससे पता लगेगा। किन्तु घट से और मठ से व्याप्त हुआ, वैसा भी होता है। ३३९

निद्रा के आधार से क्या अकेले से ही जग नहीं भरता, जब उसे स्वप्न में राजापन आता है। ३४०

या जैसा खोट मिलने के कारण सोने का परिमाण भिन्नत्व को आता है; वैसे स्वमाया, शुद्ध, ऐसे मुझे, वेष्टित करती है। ३४१

तब, एक अज्ञान ही रूढ़ होता है; फिर, कोहम्, ऐसा विकल्प उत्पन्न होता है, और उससे 'देह ही मैं' ऐसा विचार सत्य लगने लगता है। ३४२

गीता ७

आत्मा का ज्ञान शरीर के संदर्भ में अलग होता है और अल्पता के कारण, मेरा अंश, ऐसा लगने लगता है। ३४३

जब हवा के कारण समुद्र तरंगाकार होकर उठता है, तब वह जैसे छोटा-सा समुद्रांश लगता है। ३४४

उसी तरह से अर्जुन, जड़ को चैतन्य देने वाला, देहाहंकार उत्पन्न करने वाला, इस जीवलोक में मैं जीव, ऐसा लगता हूँ। ३४५

किन्तु जीवलोक, ऐसा कहने का अर्थ इतना ही है कि जीव के ही ज्ञान से यह सर्व फैलाव दीखता है। ३४६

अरे, उत्पन्न होना और नाश होना, यह जहाँ सच्चा माना जाता है उसी को ही मैं जीवलोक कहता हूँ। और सच कहें, तो यही संसार है। ३४७

संक्षिप्त में, इस सब जीवलोक में तुम मुझे ऐसे तरीके से देखो जैसे पानी के बाहर का चन्द्र पानी में दीखता है। ३४८

या, कुमकुम के ऊपर रखा हुआ स्फटिक का टुकड़ा, औरों को तप्त लोहे जैसा दीखता है, जो वह है नहीं। ३४९

इसी तरह से मेरा अनादिपन टूटता नहीं, मेरा अकर्तापन भंग नहीं होता, किन्तु मैं करता-भोगता हूँ, ऐसा जो लगता है वह केवल भ्रम है। ३५०

संक्षिप्त में, आत्मा निर्मल है, किन्तु वह प्रकृति के साथ संयोग होकर प्रकृतिधर्म के व्यवहार में अपने को फँसाती है। ३५१

मन समेत श्रोतादिक इन्द्रियों के जो स्वाभाविक कार्य हैं. वे सब मेरे हैं, इसी भाव में उनके व्यापार में माना जाता हूँ। ३५२

जैसा किसी संन्यासी ने स्वप्न में स्वयं ही अपनी पत्नी होना और फिर उसके मोह से चारों ओर दौड़ना, ३५३

उसी तरह से आत्मा अपनी विस्मृति के कारण अपने को प्रकृति जैसा मानकर उसके साथ संयोग करती है। ३५४

मन के रथ में बैठकर भ्रमण करती है। श्रवण के द्वार से निकलकर शब्दों के रान में प्रवेश करती है। ३५५

वह ही, प्रकृतिधर्म त्वचा के सामने खड़ा करती है और स्पर्श के घोर अरण्य में जाती है। ३५६

एकाध समय आँखों के द्वार में घुसकर, रूप के पहाड़ पर इधर-उधर भटकती रहती है। ३५७

या अर्जुन, रसने के रास्ते से निकल कर रस के घड़े भरने लगती है। ३५८

या नासिका के द्वार से वह देह का स्वामी निकलने लगता है। तब गन्ध की कठिन अरण्य पार करने लगता है। ३५९

इसी तरह से देह, इन्द्रिय, इनका वह स्वामी, मन को साथ लेकर शब्दादिक विषयों का भोग भोगने लगता है। ३६०

गीता ८

किन्तु, कर्ता, भोक्ता, ऐसे जीवकार्य तभी दीखते हैं जब वह किसी शरीर में व्याप्त रहता है। ३६१

अर्जुन, कोई सम्भावित और विलासी तब ही पहचानने में आता है, जब वह रजोगुण में रहने के लिये आया हो। ३६२

उसी तरह से अहंकर्तृत्व की बाढ़; या विषय और इन्द्रिय, इनका दंगल; तब स्पष्ट हो जाएगा जब उसे देहप्राप्ती हो। ३६३

या वह शरीर छोड़ते समय, इन्द्रियों का समुदाय बाहर निकालकर, अपने साथ ले जाता है। ३६४

जैसे अपमानित अतिथि सत्कर्म की संपदा, जो पुण्य, वह लेकर जाता है। या, कठपुतलियों की हलचल जैसे उनको बँधी हुई डोरी दे जाती है। ३६५

या जैसे अस्तमान होने वाला प्रकाश, लोगो का दर्शन ले जाता है। या जैसे हवा, गन्ध को अपने साथ ले जाती है। ३६६

उसी तरह से देह छोड़कर जाते समय, यह देहराज अपने साथ मनादि षस्ठ इन्द्रियाँ ले जाता है। ३६७

गीता ९

फिर पृथ्वी पर या स्वर्ग में जहाँ जो देह वह स्वीकार करता है, वहाँ वही मनादिकों की पंगत फिर मिल जाती है। ३६८

अर्जुन, जिस तरह से दिया बुझाने के बाद, प्रकाश जाता है। और फिर जलाया, तो वैसा ही फैलता है। ३६९

किन्तु अर्जुन, अविवेकी लोगों की दृष्टि से, ऐसे-ऐसे व्यवहार में वह फँसा हुआ दीखता है । ३७०

आत्मा ने जन्म लिया, उसी ने विषय भोगे, या वह देह छोड़कर गया, ये सब बातें सच लगने लगती हैं । ३७१

वैसे देखा जाए तो आना व जाना, या करना और भोगना, यह सब प्रकृति के कार्य, उसने माने हुए होते हैं । ३७२

गीता १०

गीता ११

देह का छोटा-सा रूप उत्पन्न हुआ और वहाँ चैतन्य प्राप्त होगया, कि उन हलचल के कारण 'आया' ऐसा कहते हैं । ३७३

और, उसके साथ आई हुई इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में रममाण होने लगीं, कि हे अर्जुन, उसी को ही उसका 'भोगना' समझते हैं । ३७४

बाद में, भोग क्षीण होने पर, सहज देहत्याग के समय वह चैतन्य दीखता नहीं । उस समय 'गया-गया' ऐसा चिल्लाने लगते हैं । ३७५

अर्जुन, वृक्ष डोलता हुआ देखें तो हवा चल रही है, ऐसा मानते हैं । किन्तु जहाँ वृक्ष न हो, वहाँ वह हवा नहीं है ऐसा मानना है क्या ? ३७६

या दर्पण सामने रखें और उसमें हम अपने को देखें, तब हम हैं, उसके पहले नहीं थे ऐसा मानना है क्या ? ३७७

और दर्पण परे हटाने पर, वह दीखना समाप्त हो गया, तो हम नष्ट हो गए, ऐसा समझना है क्या ३७८

ध्वनि, यह तो आकाश का गुण । किन्तु उसका श्रेय मेघ के सिरपर मारते हैं । या मेघ का वेग चन्द्र पर लगाते हैं । ३७९

उसी तरह से होना, जाना, यह देह का । किन्तु अन्धेजन, मोह के कारण, वह आत्मा की अवक्रिया, ऐसा निश्चय करते हैं । ३८०

उस समय आत्मा अपनी आत्मस्थिति में रहकर, देह का धर्म देह में देखती है; ऐसा मानने वाले जो लोग हैं, वे अलग होते हैं । ३८१

ज्ञान के कारण जिनकी आँखें सब देखने के बाद भी देह की खोलमें अटककर नहीं रहतीं । जैसे तीक्ष्ण सूर्य-किरण, धूप, इस भावना में अटकती नहीं । ३८२

विवेक के विस्तार से जिनकी स्फूर्ति, स्वरूप में स्थिर हुई है; ऐसे ज्ञानीपुरुष आत्मा को ऐसा देखते हैं । ३८३

जैसे तारों से भरा हुआ आकाश, समुद्र में प्रतिबिम्बित होता है, किन्तु वहँ समुद्र में टूटकर पड़ा नहीं है । ऐसा उनका निश्चय होता है । ३८४

आकाश तो आकाश में ही है । समुद्र में जो दीखता है, वह झूठा । ऐसा, वे आत्मा को देह में देखते हैं । ३८५

पानी की खलखलाहट से बंटने के बाद भी, चन्द्र में जैसे चान्दनी शान्त व स्थिर होती है । ३८६

जैसे पानी का एक डबका पानी से भर जाता है, या सूख जाता है, किन्तु सूर्य केवल जैसा का जैसा ही होता है । उसी तरह से देह आने-जाने के सम्बन्ध में ज्ञानीलोग मुझे देखते हैं । ३८७

घट, मट, तैयार हो गए या बाद में टूट गए । फिर भी जो आकाश उनमें समाया था, वह वैसा का वैसा ही होता है । ३८८

उसी तरह से आत्मसत्ता अखण्ड है । देह के रूप में आना-जाना अज्ञानदृष्टि की कल्पना का खेल है । ऐसा, ज्ञानीलोग पक्का समझते हैं । ३८९

चैतन्य बढ़ता नहीं या कम नहीं होता । हिलता नहीं और हिलाता भी नहीं । ऐसा ज्ञान के कारण वे अच्छी तरह से जानते हैं । ३९०

और, ज्ञान भी अपना हो जाएगा । बुद्धि, परमाणु का भी उगम दिखाएगी । सर्व शास्त्रों का सर्वस्व हाथ आएगा । ३९१

परन्तु इसका अर्थ मात्र ऐसा है, कि अगर मन में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ, तो मुझ सर्वात्मक से भेंट होगी नही । ३९२

अरे, विचार से मुँह भरा हुआ हो, किन्तु अन्तःकरण में विषयों का स्थान हो, तो हे अर्जुन, निश्चित ही मैं मिलने वाला नहीं । ३९३

केवल बड़-बड़ करने वालों के ग्रंथों से संसार की गुत्थी सुलझ जाएगी क्या ? या ग्रंथ साथ रखने से, पढ लिया, ऐसा होता है क्या ? ३९४

या ऑखें बन्द करके मोतियों को सूँधकर देखा, तो क्या उनका मोल-माप हो जाएगा ? ३९५

इसी तरह से अन्तःकरण में अहंकार का अस्तित्व और जिव्हा पर सकल शास्त्रों का पठन, ऐसी अवस्था में अनेक जन्म निकल गए, तब भी मेरी प्राप्ति होने वाली नही । ३९६

जो मैं इस सम्पूर्ण भूतजात को व्याप्तकर रहता हूँ, उस व्याप्ति का स्वरूप मैं तुझे कहता हूँ, सुनो । ३९७

गीता १२

यह विश्वरचना दिखाने वाला, सूर्य समेत जो प्रकाश है, वह मेरा है ऐसा समझो । और वह, विश्व के आरम्भ से अन्त तक ऐसा ही रहेगा । ३९८

पानी का शोषण करके सूर्य निकल जाने के बाद; जो फिर सृष्टि को रस प्रदान करती है, वह चन्द्र की चॉदनी, हे अर्जुन, मेरी है । ३९९

और जिससे यह दहन पचन क्रिया, अखण्ड होती रहती है, वह अग्नि की तेजसम्पदा मेरी ही है। ४००

गीता १३

मेरे भूमि के नीचे प्रवेशित होने के कारण, समुद्र के महाजल में भी पृथ्वीरूपी मिट्टी का ढेला घुलता नहीं। ४०१

और इस चराचर के अनंत प्राणीमात्र को जो धारण करती है, उस धरती को मैं ही उसमें जाकर धारण करता हूँ। ४०२

हे अर्जुन, आसमान में चन्द्र के बहाने, अमृत का भरा हुआ चलता सरोवर मैं ही हो गया। ४०३

वहाँ से जो किरण निकलती हैं उनकी लम्बी नहर बना करके सब औषधि का उद्यान मैं अमृत से भर देता। ४०४

और सब फसल को मैं धान्यों का सुकाल करता हूँ। और अन्न के रूप से सर्व भूतमात्र को मैं जीवन देता हूँ। ४०५

अन्न उत्पन्न किया। फिर भी उसका पचन कैसा होगा, कि जिससे वह शरीर में स्थिर होकर प्राणीमात्र को समाधान मिले। ४०६

गीता १४

इसीलिये प्राणीमात्र के शरीर में नाभिस्थान पर अंगीठी तैयार करके, अर्जुन, पेट में अग्नि मैं ही हो गया। ४०७

प्राण और अपान वायु की संयुक्त धौंकनी से दिन-रात फूँक-फूँककर पेट में मैं कितना अन्न पचाता हूँ, कौन जाने। ४०८

सूखा, स्निग्ध, पका हुआ, जला हुआ, ऐसे जो चार प्रकार का अन्न होता है, वह सब मैं ही पचाता हूँ। ४०९

संक्षिप्त में, सर्व प्राणियों को जीवित रखने वाला जीवन मैं हूँ। उनके जीवन को मुख्य साधन, जो अग्नि, वह मैं ही। ४१०

अब इसके ऊपर मेरी व्याप्ति की नवीनता क्या कहूँ। यहाँ तू दूसरा कुछ भी न देख, सर्वत्र केवल मैं ही हूँ। ४११

फिर भी किससे देखो, कोई सदैव सुखी और कई दु:ख से पीड़ित होते हैं। ४१२

जैसे सर्व शहर में, एक ही दीये से, 'दीये लगाना' होने के बाद; कुछ, न-दिखनेवाले रहते हैं। ४१३

ऐसे तर्क-वितर्क अगर तू मन में करता हो, तो सुनो यही तेरी शंका का मैं निरसन करता हूँ। ४१४

ये सब मैं ही हूँ, इसमें सचमुच कुछ गलत नहीं। किन्तु प्राणीमात्र की बुद्धि के अनुरूप मैं प्रगट होता हूँ। ४१५

जैसे एक ही आकाश-ध्वनि अलग-अलग वाद्यों के विशेषत्व के कारण भिन्न-भिन्न नादांतर में बजने लगती है। ४१६

या एक ही सूर्य उदय हो जाता है किन्तु अलग-अलग लोक व्यवहार में अलग-अलग प्रकार से उपयोगी होता है। ४१७

अलग-अलग बीज-धर्मानुसार, पानी पौधे उत्पन्न करता है। उसी प्रकार प्राणीमात्र पर मेरे स्वरूप का परिणाम होता है। ४१८

अरे, अज्ञानी और चतुर ऐसे दोनों के सामने नील मणियों का दो लड़ी वाला हार, अज्ञानी को सर्प दिखा है और दूसरे को सुखकारी हो गया। ४१९

यह भी रहने दो, स्वाति का पानी, सीप में मोती व सर्प में विष हो जाता है। उसी तरह से जानने वाले को मैं सुख, और अज्ञानी को दु:ख हो जाता हूँ। ४२०

गीता १५

वैसे भी, सबके हृदय में 'मैं कोई एक हूँ', ऐसी जो कल्पना निरंतर चलती रहती है, वह वस्तु भी मैं ही हूँ। ४२१

किन्तु संतो की संगति में योग-ज्ञानियों के साथ विचरते हुए, गुरुचरणों की उपासना करते हुए और वैराग्य का अंगीकार करके, ४२२

ऐसे सत्कर्मों में जिनका अज्ञान सम्पूर्ण नष्ट हुआ हो और जिनका अहंकार आत्म-स्वरूप में विश्राम करता हो, ४२३

उनको सहज ही मेरा दर्शन हो जाता है। मैं ही उनको आत्मा होने के कारण वे सदैव सुखी रहते हैं। उनको मेरे सिवाय अन्य कुछ इच्छा होगी क्या, बताओ। ४२४

अरे, अर्जुन! सूर्योदय होने के बाद सूर्य से ही सूर्य दिखेगा। उसी तरह से मुझे मेरा ज्ञान होने के लिये, मैं ही हेतु होता हूँ। ४२५

नहीं तो, केवल शरीर की सेवा करने से, इस संसार की महती सुनने में फँसने से, जिनका अहंकार देह में ही डूबा हुआ हो। ४२६

वे स्वर्ग-संसार की आशा से कर्ममार्ग पर दौड़ते हुए, दु:ख के बड़े भागीदार होते हैं। ४२७

किन्तु अर्जुन, यह दु:ख का भागीदार होना, उन अज्ञानीलोगों को मेरी वजह से ही होता है। जैसे जागृत अवस्था ही स्वप्न को, निद्रा को, कारणीभूत होती है। ४२८

देखो, बादल आने से प्रकाश कम हुआ । किन्तु वह भी इस प्रकाश से ही तो समझ में आया । उसी तरह से मुझे न जानने के कारण जो विषय देखा, वह भी मेरे ही कारण । ४२९

इसीलिये निद्रा और जागृति इन अवस्था को, जागनापन, यही कारण है । उसी तरह से लोगों को ज्ञान व अज्ञान, इन अवस्था का मूल, मैं ही हूँ । ४३०

जैसे सर्पत्व या डोरी, इनको हे अर्जुन, डोरी ही मूल होती है । वैसे, ज्ञान-अज्ञान के संसार में मैं ही सिद्ध होता हूँ । ४३१

इसीलिये अर्जुन, मैं जैसा हूँ वैसा मुझे न जानने के कारण जब वेद जानने के लिए गए, तब उनकी अनेक शाखाएं तैयार हो गईं । ४३२

फिर भी उन अलग-अलग शाखाओं से सचमुच मेरा ही ज्ञान होता है । जैसे सर्व नदियों को समुद्र का ही आश्रय होता है । ४३३

ऐसे महासिद्धान्तों में शब्द के साथ वेद लुप्त हो जाते हैं । जैसे गन्धयुक्त वायु-लहरी आसमान में लुप्त हो जाती है । ४३४

इसी तरह से सर्व वेद जब लज्जित होकर चुप हो जाते हैं, तब मैं ही योग्यसमय प्रगट होकर उनको पूर्णावस्था में लाता हूँ । ४३५

बाद में जिस आत्मज्ञान के कारण वेदों सहित सम्पूर्ण जग लोप हो जाता है, वह आत्मज्ञान अच्छी तरह से जानने वाला मैं ही होता हूँ । ४३६

जैसे निद्रा से जाग आने के बाद स्वप्न का दूजापन सचमुच समाप्त हो जाता है, किन्तु उस समय अपना एकत्व भी अपने को ही तो दीखता है ।४३७

उसी तरह से मेरा अद्वैतपन मैं दूसरे के बिना ही जानता हूँ । और इस ज्ञान का कारण भी मैं ही हूँ । ४३८

फिर हे वीरपुरुष, कपूर को आग लगने के बाद जैसे काजली या अग्नि, ये रहते नहीं। ४३९

इसी तरह से जिससे समूल अविधा नष्ट हो जाती है, वह ज्ञान ही जब डूब जाता है; तब जो नहीं है वह तो नहीं है ही, किन्तु 'है' ऐसा भी होता नहीं। ४४०

जो, मार्ग समेत, विश्व लेकर गया; उस चोर को कौन कैसे ढूँढ़े। ऐसी जो एक शुद्धदशा है, वह मैं हूँ। ४४१

इसी प्रकार कैवल्यपति श्रीकृष्ण ने अपना जड़ाजड़ व्याप्ति का वर्णन करते-करते, अपने ही निरूपाधिक स्वरूप में वह भाषण समाप्त किया। ४४२

वह सर्व उपदेश अर्जुन में कैसा प्रगट हुआ ? तो, आकाश का चन्द्रोदय क्षीर-सागर में जैसा दिखे, वैसा। ४४३

या चमकती हुई दीवार पर सामने वाला चित्र जैसा प्रतिचित्रित होता है, उस स्वरूप में अर्जुन और श्री कृष्ण, इनमें वह ज्ञान वास करता था। ४४४

क्या उस वस्तु का स्वभाव है देखो। जैसे-जैसे उसका अनुभव हो, वैसे-वैसे उसकी मिठास बढती रहती है। ऐसी अवस्था मे, अनुभवियों का राजा, अर्जुन, कहने लगा: ४४५

भगवान, अपना व्यापकपन कहते हुए प्रसंग से आपने अपना निरूपाधिक स्वरूप, ऐसा जो बोला, ४४६

वह फिर एक बार मुझे अच्छी तरह से कहो। तब द्वारकानाथ श्री कृष्ण बोले: तूने पूछा, यह अच्छा किया। ४४७

क्योंकि अर्जुन, हमको बड़े कौतुक से सतत बोलना अच्छा लगता है। किन्तु क्या करें, पूछने वाला कोई मिलता ही नहीं। ४४८

आज मेरा मनोरथ फलरूप हो गया, क्योंकि तू ही एक मुझे मिला जो मुँह भरकर खुलेपन से विचारने लगा है । ४४९

अद्वैत के पार जो सुख भोगना होता है वह अनुभव तूने दृढ़ किया, और प्रश्न पूछकर मेरा सुख ही तू मुझे दे रहा है । ४५०

जैसे दर्पण पास आने के बाद अपनी ही आखों से हम अपने को देखते हैं । ऐसा निर्मल, संवादशिरोमणि तू मुझे मिल गया । ४५१

हे जिवलग, ना समझने के कारण तू पूछे और बाद में मैं सुनाता रहूँ, ऐसा यह संबंध नहीं । ४५२

ऐसा कहकर श्री कृष्ण ने अर्जुन को आलिंगन दिया । कृपादृष्टि से उसकी ओर देखा, ओर फिर अर्जुन को क्या बोले; ४५३

यह देखो, दोनों होठों से बोलना एक ही । दोनों पावों से चलना एक ही । ऐसा ही है तेरा पूछना और मेरा कहना । ४५४

संक्षिप्त में तू और मैं यहॉ एक ही अर्थ देखते हैं । यहाँ कहना व पूछना दोनों एक ही हैं । ४५५

ऐसे मोह से भगवान भूल गए और अर्जुन के आलिंगन में ही रह गए । किन्तु तुरन्त चौंक गए और सोचने लगे, यह प्रेम ठीक नहीं । ४५६

गुड़ का ढेला भी हो, तो भी यहाँ नमक लगाना ठीक नहीं । क्योंकि संवाद सुख का रसालपन बिगड़ जाएगा । ४५७

पहले ही मुझमें और उसमें नर-नारायण का भेद नहीं । किन्तु मेरा यह आवेग मेरे में ही लोप होने दो । ४५८

ऐसे विचारसे सहज श्रीकृष्ण बोले: अर्जुन, तुमने क्या प्रश्न पूछा ? ४५९

किन्तु उस समय जो अर्जुन, कृष्णस्वरूप में विलीन हो रहा था, वह फिर अलग होकर प्रश्नावली की कथा सुनने लगा। ४६०

वहाँ सद्गतित अन्तःकरण से अर्जुन ने कहा: हाँ महाराज, आपका निरूपाधिक रूप मुझे कहो। ४६१

यह बोल सुनकर श्री कृष्ण वह रूप कहने के लिये पहले, उपाधि, दोनों भाग में कहने लगे। ४६२

निरूपाधिक पूछते समय उपाधि क्यों कहते हैं, ऐसा अगर यहाँ किसी को लगे, ४६३

तो, छाछ का स्निग्धांश निकालना, माने मक्खन निकालना। निर्मल वस्तु शुद्ध करना, माने अशुद्धता दूर करना। ४६४

काई एक ओर की, तो पानी तो अन्दर होता ही है ना ! बादल गया तो स्वच्छ आकाश सिद्ध है ही। ४६५

ऊपर का भूसे का आवरण झाड़कर अलग किया, कि धान्यकण प्राप्ति मे क्या देर ! ४६६

इसी तरह से उपाधि का त्याग किया तो क्या होगा ? ऐसा जहाँ विचार किया जाता है, वहाँ किसी को न पूछते निरूपाधिक, ऐसा ही समझना। ४६७

जैसे न कहते, नव वधू संकेत से पति दिखाती है। उसी तरह से मौन से ही परमात्म का वर्णन होता है। ४६८

जो कहा नही जाता, उसके सम्बन्ध में कहना यह ऐसे स्वरूप का होता है। इसलिये लक्ष्मीकान्त ने प्रथम उपाधि कही। ४६९

प्रथमा की चन्द्रकोर, जैसे शाखा का आधार लेकर दिखाते हैं। वैसी ही यह उपाधि की गोष्ठी है। ४७०

गीता १६

बाद में श्री कृष्ण बोले: अर्जुन, इस संसारनगरी की बस्ती बहुत थोड़ी है। केवल दो की। ४७१

जैसे सम्पूर्ण आकाश में दिन और रात, ऐसे दो ही रहते हैं। उसी तरह से इन दोनों की, संसार, यह राजधानी है। ४७२

और एक तीसरा भी पुरुष है। वह इन दोनों का नाम भी सहन नहीं करता। वह जब उगेगा तब इस नगर के साथ दोनों को खालेगा। ४७३

किन्तु अभी तुम्हारी बात छोड़ता हूँ। पहले इस संसार-ग्राम में रहने के लिये आए हुए इन दोनों की कथा सुनो। ४७४

उनमें से एक अन्धा, पंगु, पागल; और दूसरा, मात्र सर्वांग से पूर्ण और अच्छा। इस ग्राम के कारण इन दोनों की संगति हो गई। ४७५

उसमें से एक का नाम क्षर और दूसरे को कहते है अक्षर। इन दोनों ने ही इस संसार को भर लिया है। ४७६

अब क्षर, वह कौन। अक्षर का लक्षण क्या। यह सम्पूर्ण विचार तुझे कहता हूँ। ४७७

तो अर्जुन, आरम्भ के महदंकार से एक तृण के पत्ते तक, ४७८

जो कुछ छोटा-बड़ा, चलता हुआ या स्थिर, इतना ही नहीं जो-जो मन-बुद्धि गोचर है। ४७९

जितना पंचमहाभूतों से घड़ता है । जो नाम, रूप, इनमें फँसा हुआ है । और त्रिगुण की कैंची में अटका हुआ है । ४८०

जिस स्वर्ण से यह भूताकृति का सिक्का बना । या, जिन पासों से काल के साथ जुआ खेलते हैं । ४८१

विपरीत ज्ञान से जो-जो कुछ जाना जाता है और जो प्रतिक्षण में नाश होता रहता है । ४८२

या, अर्जुन, भ्रांति का जंगल काटकर, उससे यह जो सृष्टिरचना की । अधिक क्या बोलूँ, जिसको जग. ऐसा नाम है । ४८३

प्रकृति के कारण आठ भिन्न-भिन्न प्रकार में जो दिखाया गया और क्षेत्र के रूप में छत्तीस भाग में जो बाँटा । ४८४

यह पिछला क्यों कहूँ । अभी जो वृक्षाकार के रूप से निरूपण किया । ४८५

यह सब साकार जगत अपने लिये योग्यस्थल है, ऐसी कल्पना करके, चैतन्य वहाँ वास करने लगा । ४८६

कुएँ में सिह स्वयं प्रतिबिम्बित होने के कारण, उसे दूसरा सिह समझ, क्रोध करता है; और कुएँ में कूद पड़ता है । ४८७

पानी में के आकाश के ऊपर, आकाश प्रतिबिम्बित होने के कारण, वह अद्वैत होते हुए भी द्वैत दीखता है । ४८८

अर्जुन, इसी तरह से साकार को नगर समझकर, आत्मा वहाँ विस्मृति की नींद लेता है । ४८९

किन्तु स्वप्न में बिछौना देखकर, जैसे वहाँ लेटे । ऐसी ही आत्मा की इस नगर में निद्रा है, ऐसा समझो । ४९०

बाद में उस निद्रा के भर में, 'मैं सुखी' या 'मैं दुःखी' ऐसा खराँटा शुरु होता है। और अंहकार की गहरी समाधि में जोर से बड़बड़ करने लगता है। ४९१

यह मैं पिता, यह मैं माता, यह मैं गोरा, यह मैं हीन, मैं पूर्ण, पुत्रधनी, पत्नी, यह सब मेरा ही है ना। ४९२

ऐसे स्वप्न से घायल होकर जो चैतन्य भव और स्वर्ग, ऐसे रान में दौड़ता रहता है; उस चैतन्य का नाम, हे अर्जुन, क्षरपुरुष है। ४९३

और सुनो, 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से जिसके बारे में बोलते हैं, या जग जिस दशा को जीव कहता हैं। ४९४

और जो अपने विस्मरण के कारण सर्वभूतों के रूप में प्रगट होता है, उस आत्मा को क्षरपुरुष कहते हैं। ४९५

क्योंकि वह वस्तुस्थिति से पूर्ण है, इसलिये उसे पुरुषता प्राप्त हुई। और देह की नगरी में वह पुरुष नाम से सोया हुआ होता है। ४९६

और, क्षरपन का न होता हुआ आरोप उसके ऊपर इसी कारण आया कि वह उपाधि से ढका हुआ होता है, इसलिये। ४९७

जल की खलखलाहट के कारण, चन्द्र भी उछलता हुआ दीखता है। उसी तरह से विकारों की उपाधि के कारण वह ऐसा लगता है। ४९८

या, खलखलाहट जब रुक जाती है, तब चन्द्र का प्रतिबिम्ब जैसा है वैसा ही दीखता है। उसी तरह से उपाधि का नाश होने के बाद, वह आत्मा निरूपाधिक दीखता है। ४९९

इसी तरह से उपाधि लगने के कारण इसको क्षणिकत्व प्राप्त होता है, और उस नाशवन्तपन से उसको 'क्षर' यह नाम मिलता है। ५००

संक्षिप्त में, चैतन्यरूप-जीव यह सब क्षरपुरुष का स्वरूप है। अब अक्षरपुरुष का रूप तुझे स्पष्ट करके कहता हूँ। ५०१

हे अर्जुन, अक्षर, ऐसा जो दूसरा पुरुष है, वह मध्यस्थ है। मेरु पर्वत, जैसे सर्व पर्वतों में मध्यस्थ है, वैसा। ५०२

मेरुपर्वत जैसे पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग, ऐसे तीन भागों में बाँटा नहीं जाता। उसी तरह से अक्षरपुरुष, ज्ञान और अज्ञान, इन विभागों में नहीं पड़ता। ५०३

या जहाँ यथार्थज्ञान से एक होना, या अनेकत्व से दूजापन आना; ऐसा केवल न जानना ही, उसका रूप है। ५०४

जिसका सूखापन पूर्ण नष्ट हुआ है, और घट या बर्तन जिसका नहीं बन गया, ऐसे मिट्टी के गोले जैसा वह मध्यस्थ है। ५०५

या समुद्र सूखने के बाद, तरंग नहीं और पानी भी नहीं। ऐसी आकार रहित जो अवस्था, वह जिसकी है। ५०६

अर्जुन, जागतापन तो चला गया है, स्वप्न की रचना हुई नहीं। ऐसा केवल निद्रा-जैसा उसको देखो। ५०७

विश्वाभास नष्ट हुआ, और आत्मबोध हुआ नहीं। उस केवल न जानने की अवस्था को 'अक्षर' यह नाम है। ५०८

वह अज होने के कारण उसे जन्म नहीं, फिर उसका नाश कैसे होगा। इसीलिये उस गहरे अज्ञान को अक्षर कहा जाता है। ५०८अ

सर्व कला जिसकी समाप्त हो गई, ऐसा अमावस्या के दिन जो चन्द्रपन रह जाता है, वह उस अक्षर का रूप समझो। ५०९

फल पाक सहित वृक्ष जैसा बीज में स्थित होता है। वैसे, उपाधिरहित अवस्था में जीवदशा जहाँ वास करती है। ५१०

किसी प्रकार की उपाधि नहीं, ऐसी अवस्था में जो दृढ़ खड़ा है, जिसको 'अव्यक्त' ऐसा कहते हैं। ५११

जिसका बीजभाव, ऐसी वेदान्त में महती गाई है। वह उस अक्षरपुरुष का स्थान है। ५१२

जहाँ से अन्यथाज्ञान फैलकर, जागृति, स्वप्न, ऐसा विविध बुद्धि का रान उत्पन्न होता है। ५१३

अर्जुन, जहाँ से विश्व उठते ही जीवत्व ही उठता है: वह उन दोनों अवस्था का संगम, यह अक्षरपुरुष है। ५१४

दूसरा जो क्षरपुरुष इस लोक में है, और जागृति और स्वप्न इस अवस्था में जो खेलता रहता है, वे दोनों ही अवस्था जिससे उत्पन्न हुईं। ५१५

'अज्ञानघनसुषुप्ति' ऐसी जो प्रसिद्ध अवस्था है, वही परब्रह्मप्राप्ति में एक प्रकार का कमीपन है। ५१६

सचमुच अर्जुन, यह अक्षरपुरुष जा स्वप्न, जागृति इन अवस्था में न आता, तो उसी को ही सच्चा परब्रह्मभाव कह सकते थे। ५१७

प्रकृति, पुरुष, ये दो मेघ जिस गगन में आए। या जिसने क्षेत्र व क्षेत्रज्ञ, इनको स्वप्न में देखा हो। ५१८

यह छोड़ो, संसाररूप वृक्ष की जो अधो शाखाएं होती हैं, उनका मूल माने ही यह अक्षर पुरुष। ५१९

यह पूर्णपन से सोया हुआ होता है, इसीलिये इसको 'पुरुष' ऐसा कहते हैं। और मायानगरी में लेटा हुआ होता है, इसीलिये भी वही नाम। ५२०

और विकारों का आना-जाना, यह जो एक विपरीतज्ञान का प्रकार है, वह जिस अवस्था में जाना जाता नहीं। वह सुषुप्ति यह है। ५२१

इसीलिये इसको स्वभाविकपन से क्षरता नहीं। और ज्ञान के अभाव में जिसका नाश नहीं होता। ५२२

इसलिये 'अक्षर' ऐसे महा सिद्धांत का मान वेदान्त में इसको दिया हुआ तुम देखोगे। ५२३

मायासंघ यह जिसका लक्षण है, ऐसा जीवकार्य का कारण, यह अक्षरपुरुष है; उसी को चैतन्य कहते हैं। ५२४

गीता १७

अब अन्यथाज्ञान से उत्पन्न जो दो अवस्था इस जीवलोक में हैं, वे, घनअज्ञानतत्व ने लोप हो जाती हैं। ५२५

जैसे अग्नि, लकड़ी को जलाकर स्वत: जल जाती है। वैसे ही ज्ञान, अज्ञान को नष्ट करके, स्वयं लुप्त होकर, सार्थकता प्राप्त करता है। ५२६

तो ज्ञान, अज्ञान नष्ट करके, स्वयं वस्तु दिखाकर निकल जाता है। इसी तरह से ज्ञेयातीत, ऐसा जो केवल ज्ञान रहजाता है, ५२७

वह ही यह उत्तमपुरुष, जिसको तृतीयपुरुष, ऐसा कहा। दो के बाद का जो और एक, इसीलिये वह तीसरा। ५२८

अर्जुन, जैसे सुषुप्ति व स्वप्न इन अवस्था से अलग केवल बोध की जागृत अवस्था है। ५२९

या, किरण और मृगजल इन दोनों से सूर्य-मंडल जैसा अलग और विस्तृत होता है । वैसा यह उत्तमपुरुष अलग है । ५३०

इतना ही नहीं, तो लकड़ी के अन्दर की अग्नि जैसे लकड़ी से अलग ही होती है । उसी तरह से क्षर और अक्षर इनसे वह अलग है । ५३१

जैसे समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर नदी या नद, इन्हें एकरूप करता हुआ, कल्पांत में एकार्णव का जयजयकार करता उठता है । ५३२

उसी तरह से न स्वप्न, न सुषुप्ति, और जागृतपन की अवस्था भी नहीं । जैसे कोई प्रलय तेज ने, दिन और रात का घूँट ले लिया हो । ५३३

फिर एकपन नही और दूजेपन भी नहीं । ऐसा नहींपन भी जहाँ समझ में नहीं आता. और अनुभूति भी जहाँ सम्पूर्ण नष्ट हो जाती है । ५३४

ऐसा जो कुछ है, वह ही उत्तम पुरुष; ऐसा समझो । जिसको 'परमात्मा' इस नाम से भी बोला जाता है । ५३५

अर्जुन, तद्‌रूप न होते हुए, जीवत्व से ही ऐसा बोला जाता है । जैसे कोई डूब गया, यह वार्ता तीर पर खड़ा हुआ मनुष्य ही कह सकता है । ५३६

उसी तरह से अर्जुन, विवेक के किनारे पर खड़े रहकर ही वेद यह मर्यादित गोष्ठी बोल सके । ५३७

इसीलिये क्षर और अक्षर, ये दोनों पुरुष इस ओर के होने के कारण; उसको पार का आत्मरूप, ऐसा कहते हैं । ५३८

अर्जुन, इसी तरह से परमात्मा शब्द से यह पुरुषोत्तम सूचित किया जाता है, यह ध्यान में रखो । ५३९

नहीं तो, जिस वस्तु के संबंध में न बोलना ही बोलना होता है । जहाँ का सर्व न जानने से ही जाना जाता है । और कुछ भी न होना, यही जिस वस्तु का होना है । ५४०

जहाँ सोहम्, इसका भी अस्त हो जाता है । कहने वाला, कहना हो जाता है । और देखने के साथ, दृश्य ही जाता है । ५४१

अब बिम्ब और प्रतिबिम्ब, इन दोनों के बीच में प्रभा नहीं, ऐसा कैसे बोलें । जब किसी ही उपाय से वह सिद्ध करना संभव नहीं । ५४२

या नाक और फूल, इन दोनों के बीच में जो सुगंध होती है, वह न दीखते हुए भी, नहीं, ऐसा नहीं कहना । ५४३

इसी तरह से देखने वाला और दृश्य, ये दोनों ही जाने के बाद, कौन कहेगा क्या था ? इसी का ही अनुभव लेना, यह ही इसके रूप का दर्शन है । ५४४

जो प्रकाश के बिना प्रकाशने वाला है । ईश्यता के बिना ईश है । और, स्वयं से ही जो अवकाश फैलाता है । ५४५

वह नाद ने ही सुनने वाला नाद है । स्वाद ने चाखने वाला स्वाद है । या, आनंद ही जिसका आनन्द लेता है । ५४६

सुख को सुख प्राप्त हो गया । तेज को तेज मिल गया । शून्य ही जिस महा शून्य में डूब गया । ५४७

जो पूर्णता का प्रमाण है । वह पुरुष सर्वोत्तम ऐसा है । विश्रांति का भी विश्राम जहाँ विलीन हो जाता है । ५४८

जो पूर्ण विकास होकर भी बचा रहजाता है । ग्रास को ग्रास करके, जो पूर्ण रहता है । जो बड़ेपन की तुलना में बड़े से ही बड़ा है । ५४९

न जानने वाले को, चांदी न होते हुए भी चांदीपन की प्रतीति, जैसे सीप दिखाती है। ५५०

या अलग-अलग अलंकार के रूप में स्वर्ण न छुपते हुए भी छुपा हुआ होता है। उसी तरह से विश्व न होते हुए, जो विश्व को धारण करता है। ५५१

यह रहने दो। पानी की तरंगों को जैसे निरालापन नहीं होता। उसी तरह से जग दिखाने वाला प्रकाश जो स्वयं ही है। ५५२

जो हे अर्जुन, अपने संकोच का और विकास का, स्वयं ही रूप है। वह ही इस जग में दीखने वाला चन्द्र है और सदा परिपूर्ण है। ५५३

वैसे ही जो विश्वरूप से कुछ होता है, किन्तु विश्वलोप के बाद कहीं भी जाता नहीं। जैसे दिनमें और रात्रिमें सूर्य दोप्रकार का नहीं होता। ५५४

उसी तरह से उसको कभी भी, कहीं भी, किसी कारण ही कमीपन नहीं आता, और जिसके समान वह स्वयं ही है। ५५५

गीता १८

अर्जुन, वह स्वयं ही अपने को प्रकाशित करता रहता है। अधिक क्या कहूँ, जिसको दूजा नही। ५५६

वह मैं, उपाधि रहित हूँ। क्षर और अक्षर इनसे उत्तम ऐसा एक हूँ। इसीलिये लोक और वेद, पुरुषोत्तम कहते हैं। ५५७

गीता १९

किन्तु यह छोड़दो। ज्ञानसूर्य का उदय होकर, उपाधिरहित ऐसे मुझ पुरुषोत्तम को हे अर्जुन, जिसने देखा। ५५८

जागृत होने के बाद, जैसा स्वप्न नष्ट हो जाता है। उसी तरह से यह भासमान होने वाला त्रिभुवन जिसको अपने ज्ञान के कारण असत् हो जाता है। ५५९

या माला हाथ में लेने के बाद जैसे सर्पाभास का त्रास समाप्त हो जाता है। उसी तरह से मेरा बोध होने के बाद, जो इस नटखट जग के फेरे में फँसता नहीं। ५६०

अलंकार माने ही स्वर्ण, ऐसा जो जानता है। वह, अलंकार-पन झूठा, ऐसा मानता है। इसी तरह से मुझे जानकर जिन्होंने भेद छोड़ दिया। ५६१

जो अपने में का ही भेद नष्ट करके मुझे जानता है, वह बाद में कहता है, मैं ही एक स्वयंसिद्ध सर्वत्र भरा हुआ सत् चित् आनंद हूँ। ५६२

उसी में ही सब कुछ जाना, ऐसा कहना भी अधूरा है। क्योंकि वह द्वैतातीत हो जाता है। ५६३

इसीलिये अर्जुन, मेरे भजन के लिये वह ही योग्य है। जैसे गगन को आलिंगन देने के लिये गगन ही होता है। ५६४

क्षीर सागर को दावत क्षीरसागर-पन ने ही देनी चाहिये। या, अमृत होकर ही जैसे अमृत में मिले। ५६५

स्वर्ण में मिलने के लिये स्वर्ण ही होना पड़ता है। उसी तरह से मत्स्वरूप को ही मेरी भक्ति शक्य है। ५६६

यह देखो, समुद्र से अलग होती तो गंगा उसमें कैसे मिल जाती। इसीलिये मैं हुए बिना मेरी भक्ति असम्भव है। ५६७

लहरें जैसी सर्वप्रकार से समुद्र से अनन्य होती हैं। वैसा अनन्य होकर जो मेरी भक्ति करता है। ५६८

सूर्य और प्रभा जिस लोभ से एकत्र होते हैं। वह महत्व, हम उस भक्ति को देते हैं। ५६९

गीता २०

संक्षिप्त में, गीता कहना आरम्भ किया जब से अब तक जो कुछ शास्त्र से प्राप्त होने वाला, उपनिषद का अंतरंग, मैंने कमल के दल समान खोल कर दिखा दिया। ५७०

यह शब्दब्रह्म का सार, ऐसा मक्खन, व्यास की बुद्धि के हाथों से मंथन करके, निकला हुआ तैयार, मैं दे रहा हूँ। ५७१

यह ज्ञानामृत की गंगा है। आनंदचन्द्र की सतरहवीं कला है। और विचाररूपी क्षीरसागर की नई लक्ष्मी है। ५७२

इसीलिये यह गीता-लक्ष्मी अपने पद से, वर्ण से, अर्थ के जीव प्राण से, मेरे सिवाय अन्य कुछ भी होना नहीं जानती। ५७३

क्षर-अक्षर रूप से जो पुरुष सामने आए, उनका इसने त्यागकर, फिर अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तम को अर्पण किया। ५७४

इसीलिये इस जग में जो यह गीता तू इस समय सुन रहा है, वह मैंने अपनी पतिव्रता मानी है। ५७५

सचमुच, गीता, यह बोलने का शास्त्र नहीं। यह संसार जीतने का शस्त्र है। ये शब्द, माने आत्मा के मंत्रावतार हैं। ५७६

किन्तु अर्जुन, तुम्हारे सामने जो यह मैंने कहा, वह मेरा गौप्यधन आज तेरे सामने प्रकट कर दिया, ऐसा हो गया। ५७७

अर्जुन, मेरे चैतन्यशंकर के माथेपर जो गुप्तस्वरूप में था, उस गौप्यधन की गंगा को बाहर निकालने वाला, तू आस्था निधि गौतम हो गया। ५७८

अपना निर्मल स्वरूप सामने देखने के लिये, अर्जुन, दर्पण-जैसा तूने मुझे किया। ५७९

चन्द्रतारांगण से भरा हुआ आकाश, जैसे समुद्र अपने में लाता है। वैसा गीता सहित, तुमने मुझे अपने अन्त:करण में बैठा लिया। ५८०

अर्जुन, तुम त्रिविद्धदोष से मुक्त हो; इसीलिये तुम मुझे, गीता के साथ रहने का ठिकाना हो गए। ५८१

किन्तु यह क्या बताऊँ। गीता ही मेरी ज्ञानबेली है, ऐसा जो जानता है वह सर्व मोह से मुक्त होता है। ५८२

अर्जुन, यह अमृत-सरिता सेवन करने पर, सर्व दोष नष्ट होकर, यह उस योग्यपुरुष को अमरपन देकर, संतुष्ट हो जाती है। ५८३

वैसा इस गीता का ज्ञान होने के बाद मोह नष्ट हो जाएगा, इसमें क्या आश्चर्य। इतना ही नहीं, तो आत्मज्ञान होकर आत्मस्वरूप में मिलन भी हो जाता है। ५८४

और फिर इसी आत्मज्ञान में, कर्म, जीवनमुक्त होकर विलीन हो जाता है। ५८५

या खोई हुई वस्तु दिखाकर शोध जैसे समाप्त हो जाता है। उसी तरह से हे वीरविलास अर्जुन, अपने कर्मप्रासाद पर ज्ञान ही कलश बनकर रहता है। ५८६

इसीलिये ज्ञानीपुरुष को कर्म करना समाप्त हो जाता है। यह ध्यान में रखो। ऐसा अनाथों का सखा श्रीकृष्ण बोला। ५८७

वह श्रीकृष्णवचनामृत, अर्जुन में भरकर उभर रहा था। फिर संजय को व्यास की कृपा प्राप्त होने के कारण, ५८८

वह श्रीकृष्णवचनामृत, उन्होंने राजा धृतराष्ट्र को प्राशन करने के लिए दिया। इसीलिये उसको जीवन के अन्त के दिन भारी नहीं हुए। ५८९

वैसे कहा जाए तो अधिकार न होते हुए भी जो गीता सुनने का चाव हो, तो उसको भी अन्त में यही श्रेष्ठता प्राप्त होती है। ५९०

जब अंगूर के रस में दूध डाला जाएगा, तब वह व्यर्थ गया ऐसा लगेगा। किन्तु फलपाक होने के बाद उसका स्वाद बढ़ा हुआ दीखता है। ५९१

उसी तरह से हरिमुख के बोल संजय ने धृतराष्ट्र को आदर से कह दिये। इसी कारण वह अन्ध भी उस समय सुखी हो गया। ५९२

वे ही बोल मैं मराठीस्वरूप में मेरे टूटे-फूटे ज्ञान को जैसे समझ में आए या न आए, वैसे मैंने कहे हुए हैं। ५९३

अरसिक को यह गुलदावरी का पेड़ देखकर कुछ विशेष, ऐसा नहीं लगा, तब भी उसको सुगन्ध ले जाने वाले भ्रमर जानते हैं। ५९४

इसीलिये जो सिद्धांत स्पष्ट लगे वह लो। जो कम लगे वह मुझे दो। देखो, अजानपन, यही बालक का सहजरूप नहीं क्या। ५९५

किन्तु वह अजान होते हुए भी, उसकी ओर देखकर, माता-पिता हर्ष न समाते हुए, उसका कौतुक करते हैं। ५९६

वैसे आप संतजन मेरे मायहर हैं। आप को मिलने के बाद मेरे लाड़ होते हैं। यह इस ग्रंथ से मैंने जानलिया। ५९७

अब विश्वात्मक, ऐसे मेरे स्वामी निवृत्तिनाथ, यह मेरी शब्द-पूजा स्वीकार करें। ऐसा ज्ञानदेव बोले। ५९८

—इति—

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय १५

श्रीभगवानुवाच
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

श्रीभगवान बोले :

ऊपर मूल, नीचे शाखाएं ऐसे इस अश्वत्थ को अक्षर कहते हैं। वेद जिसकी पल्लवी है। इसको जानने वाले को ही सचमुच वेद-ज्ञानी कहते हैं।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२ ॥
गुणों से बढ़ी हुई, विषयरूपी पल्लवी से युक्त, इस वृक्ष की अनेक शाखाएं नीचे, और उपर भी फैली हुई हैं। नीचे वाली, जड़ समान कर्मबन्धनरूप से मनुष्यलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३ ॥
और इस प्रकार का इसका रूप दिखने में नहीं आता। इसे अन्त नहीं है, न ही आदि है। और इसको सुस्थिति भी नहीं । अत्यन्त दृढ़मूल, ऐसे इस अश्वत्थ वृक्ष को बलवान असङ्गरूपी शस्त्र से काट कर।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४ ॥
उस तत् पद को ढूंढो जहाँ जाने के बाद फिर वापस आना नहीं होता और जिससे यह पुरातन प्रवृत्ति विस्तृत हुई। ऐसे उस आद्यपुरुष की शरण हो।

निर्मानमोहा जितसङ्ग दोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५ ॥
जो मान-मोह रहित, संगरूपीदोषों पर विजयी, नित्य अध्यात्मवृत्ति, कामरहित, सुख दुःख द्वन्द्व से नित्यमुक्त, ऐसे ज्ञानी इस अमरपद को प्राप्त करते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६ ॥

उस पद को सूर्य प्रकाशित नहीं करता । चन्द्र भी नहीं, अग्नि भी नहीं । और जहाँ जाने के बाद, वापस आना नहीं होता, वह मेरा परमधाम है ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७ ॥

मेरा ही अंश इस जीवलोक में सनातन, ऐसा जीवरूप होता है । वह प्रकृति में स्थित मनादि छः इन्द्रियों को आकर्षित करता है ।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८ ॥

वायु जैसे गन्ध को, उसके आश्रय से उठा लेता है । वैसे ही जीवात्मा जिस देह को त्यागता है, उससे इन्हे लेकर; फिर जिस देह को प्राप्त होता है, उसमें जाता है ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९ ॥

कान, आँखें, त्वचा, जिव्हा, नासिका और मन, इनमें अधिष्ठित होकर यह जीवात्मा विषयों का उपभोग लेता है ।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१० ॥

देह छोड़ते समय या देह में होते हुए, उपभोग करते हुए या गुणों से युक्त हुए, इसको अज्ञानीलोग देख सकते नही । किन्तु ज्ञान-चक्षु वाले देखते हैं ।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११ ॥

प्रयत्नशील योगी इसे अपने में स्थित देखते हैं । किन्तु असंस्कृत अज्ञानीजन, यत्न करने उपरान्त भी इसे देख नहीं सकते ।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२ ॥

जो तेज सूर्य में है जिससे यह सर्व विश्व प्रकाशित होता है, जो चन्द्र में है, अग्नि में है, वह तेज मेरा है ऐसा जानो ।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३ ॥

मैं पृथ्वी में प्रवेश करके, मेरे सामर्थ्य से भूतों को धारण करता हूँ । और रसात्मक, ऐसा सोम होकर मैं सर्व औषधियों को पुष्ट करता हूँ ।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४ ॥

मैं अग्नि होकर, प्राणीमात्र के देह में रहता हूँ । और प्राणापान के आधार से चार प्रकार के अन्न पचन करता हूँ ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५ ॥

सर्व प्राणीमात्र के हृदय में मैं रहता हूँ । स्मृति, ज्ञान, विचारशक्ति, मुझसे ही उत्पन्न होते हैं । सर्व वेदों से मैं ही जानने योग्य हूँ । वेदान्त ने कहा हुआ मैं ही हूँ । तथा वेदों को जानने वाला भी मैं ही हूँ ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६ ॥

इस चराचर में क्षर व अक्षर, ऐसे दो पुरुष हैं । सर्व भूतमात्र क्षर है और अव्यक्त स्वरूप में रहने वाले को अक्षर कहते हैं ।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७ ॥

किन्तु उत्तमपुरुष तो अलग ही है । उसको परमात्मा कहते हैं । जो इस त्रैलोक्य को व्याप्त करके धारण करता है । जो अविनाशी और ईश्वर है ।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८ ॥

मैं क्षर के पार हूँ, अक्षर से भी उत्तम हूँ, इसीलिए जग में व वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९ ॥

हे भारत, जो ज्ञानी इसी प्रकार में मुझे पुरुषोत्तम करके जानता है, वही सर्वज्ञ है, और सर्व भाव से मुझे भजता है ।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

इसी तरह से हे पाप-रहित, यह अत्यन्त गुह्य ऐसा शास्त्र मैंने तुझे कहा । हे भारत, इसको जानकर, मनुष्य बुद्धिमान व कृथार्थ हो जाता है ।

—इति—

अध्याय १८

मोक्षसंन्यासयोग

निर्मल परमेश्वर का जयजयकार हो। वह भक्तजनों का सर्व मंगल करने वाला है। जन्म और जरा, इन बादलों को वह दूर करता है। १

प्रबल परमेश्वर का जयजयकार हो। वह सर्व अमंगल का नाश कर; वेद-वृक्ष का फल प्राप्त करवाता है। २

सर्वात्मक परमेश्वर का जयजयकार हो। वह वासनारहितों का साथी है। वह कलिकाल की कला-कौतुक के पार है। ३

उपाधिरहित परमेश्वर का जयजयकार हो। वह शान्तस्वरूप आनंद का बहता स्त्रोत है। वह सर्वदोषमुक्त मूलस्वरूप में रहता है। ४

आत्मतेजरूप परमेश्वर का जयजयकार हो। वह जगरूपी मेघ धारण करने वाला गगन है। त्रिभुवन का आरम्भस्तंभ है। भवनाशक है। ५

निश्चल परभश्वर का जयजयकार हो। वह भक्तों का चंचलचित्त प्राशन कर, मोटा हो गया है। उसको जगत-विकास का खेल सतत खेलते रहने का छंद है। ६

विशुद्धरूप परमेश्वर का जयजयकार हो। वह ज्ञानरूप उद्यान का भृंग है। शम, दम, में विघ्न डालने वाले मदन का मद वह नष्ट करता है। वह दया-सागर है। ७

एकमात्ररूप परमेश्वर का जयजयकार हो। वह कंदर्पसर्प का दर्प पूर्ण नष्ट करता है। वह भक्तिभाव-भवन का दीप है। सर्व ताप नष्ट करने वाला है। ८

अद्वय परमेश्वर का जयजयकार हो। परिणत हुई परम एकता उसको प्रिय है। भक्तजन के वह अंकित है। वह भजनिय है। वह मायागम्य है। ९

ऐसे श्री गुरूदेव का जयजयकार हो। वह अकल्पना नाम का कल्पतरू है। आत्मज्ञान के वृक्ष का बीज उस भूमि में अंकुरित होता है। १०

हे निर्विशेषा, इसी तरह से एक-एक अलग-अलग परिभाषा में तुम्हारा क्या-क्या वर्णन करूँ ! ११

जिन विशेषणों से तुम्हारा रूप वर्णन करें, वे तुम्हारा रूप दर्शाते ही नहीं। यह मैं जानता हूँ। इसीलिये इस वर्णन से मैं लज्जित हूँ। १२

किन्तु समुद्र मर्यादावान होता है। यह उसका गौरव तब तक ही रहता है, जब तक उसने उगा हुआ चन्द्र देखा नही। १३

सोमकान्त स्वयं पिघलकर चन्द्र को अर्घ्यदान न करता हो। किन्तु देखो, चन्द्र उससे वह करवाता ही है। १४

वसन्त आते ही वृक्ष के अंग एकदम कैसे अंकुरित होने लगते हैं, न जाने। किन्तु उसे रोकना, वृक्षों के हाथ में नहीं होता। १५

कमल को सूर्य-किरणों का स्पर्श होते ही वह किससे शर्माये ! या पानी का स्पर्श होते ही नमक अपने को जैसे भूल जाता है। १६

वैसे ही, जहाँ मैंने तुम्हारा स्मरण किया, तहाँ मैं, मैं-पन भूल जाता हूँ। फिर, तुझे जानने पर, तृप्त होकर ढकार आ जाती है। १७

आपने मुझे ऐसा किया कि मेरा मैं-पन दूर भगा दिया, और केवल स्तुति के लिए मेरी वाचा पर पंच पागलपन बांध लिया। १८

नहीं तो शुद्धि की अवस्था में जब मैं तुम्हारी स्तुति करूँ, तब गुणों को और गुणवन्त को एक ही माना ऐसा ही तो होगा ना ? १९

तू तो एक-रस का लिंग है । तेरे गुण-गुण में मैं भेद कैसे करूँ । मोती तोड़ कर जोड़ना अच्छा, या जैसा है वैसा ही ठीक ? २०

तू ही पिता और तू ही माता; ऐसे कहने में स्तुति होती नहीं । यहाँ ढोंग की उपाधी का मल ही है । २१

महाराज, चाकर रखने से जो स्वामित्व आता है; वह आपके बारे में कैसे कहूँ ? आपके सम्बन्ध में ऐसा, उपाधि से झूठा हुआ स्वामित्व, क्या मैं वर्णन करूँ ? २२

सर्व को व्याप्त करने वाला तू आत्मा है । ऐसा कहने में भी, हे उदारा, अन्दर का तू बाहर जाता है । २३

इसीलिये सचमुच तुम्हारी स्तुति करने के लिये इस जग में कुछ भी नहीं दिखता । तो मौन के सिवाए अन्य आभूषण मैं चढ़ाता नही । २४

तुम्हारे बारे में स्तुति, माने कुछ न बोलना । पूजा, माने कुछ न करना । और तुम्हारा सम्बन्ध, माने कुछ न होना । २५

फिर पागल, जैसा न समझते, बड़बड़ करता है; वैसी ही, हे माता, तू मेरी यह स्तुति, सहन कर ले । २६

अब सज्जनों की सभा में जो मान्य होगा ऐसा गीतार्थ कहने की अनुमति आप मेरे शब्दविस्तार को दें । २७

वहाँ निवृत्तिनाथ कहने लगे : यह फिर-फिर बोलना छोड़ो । पारस और लोहा, इनका घर्षण कितनी बार करते हैं बोलो ! २८

यहाँ ज्ञानदेव ने प्रार्थना की : महाराज, आप प्रसन्न हो गए ना ? फिर अब ग्रन्थ की ओर ध्यान दो। २९

महाराज, यह अध्याय गीतारत्नमंदिर का कलश है। वह अर्थरूपी चिन्तामणि से चमकता है। और सम्पूर्ण गीता का दर्शन करवाने वाला सच्चा मित्र है। ३०

समाज में भी यही प्रकार रहता है। दूर से कलश देखा, तो उस देवता का दर्शन जैसा ही हो जाता है। ३१

ऐसा ही यहाँ होता है, कि इस एक अध्याय से सर्व गीताशास्त्र दिखने लगता है। ३२

इसीलिये मैंने इस अठारवे अध्याय को कलश कहा, और वैसा ही सम्बन्ध जोड़कर, गीता-मंदिर पर उसको चढ़ाया। ३३

कलश के सिवाय अब कुछ मंदिर का कार्य रहा नही, ऐसा ही आखिर में गीता कह रही है। ३४

व्यास तो स्वयं ही निष्णात सूत्रधार। उन्होंने वेदरत्नपर्वत पर, जो उपनिषद के पठार हैं वहाँ खोदना प्रारम्भ किया। ३५

वहाँ धर्म. अर्थ, काम ऐसी बहुत-सी जो कंकड़ियाँ खोदते समय निकलीं उनका चारों ओर महाभारत का किला बना दिया। ३६

उसके मध्य भाग मे आत्म-ज्ञान का सपाट आंगन झाड़कर साफ किया और उसके ऊपर कृष्णार्जुन संवाद का नक्काशीदार कार्य आरम्भ किया। ३७

निवृत्ति सूत्र की रेखाओं में सर्व शास्त्रों की सामग्री लेकर, मोक्ष-रेखा लगाकर, उस प्रासाद का आकार बना दियां। ३८

इसी तरह से उठाते-उठाते पंद्रह अध्यायों में, पंद्रहखंड भूमि आक्रमण करके, प्रासाद तैयार हो गया। ३९

बाद में सोलहवां अध्याय, यह शिखर का गले तक का आकार। और सतरहवां, शिखर की बैठक का भाग। ४०

उसके ऊपर अठारहवां अध्याय, यह अपने आप ही कलश का भाग हो गया। अन्त में उसके ऊपर गीता नामक, व्यास-ध्वज लग गया। ४१

पिछले जो अध्याय हैं, वे भूमि के ऊपर बढ़ते हुए आकार। और अठारहवां अध्याय अपने अंग से उस प्रासाद की पूर्णता दिखा रहा है। ४२

बने हुए कार्य में कुछ कमी रही नहीं, यह कलश से ही स्पष्ट होता है। इसीलिये अठारहवां अध्याय 'सम्पूर्ण गीता' कहलाता है। ४३

इसी तरह से प्रथित-यश व्यास ने, गीता प्रासाद पूर्ण कर, प्राणी जनों का बहुत प्रकार मे रक्षण किया। ४४

कई इसको बाहर से जप की परिक्रमा करते हैं। कई श्रवण के निमित्त से इसकी छाँव का आनंद लेते हैं। ४५

कई सम्पूर्ण अवधान की पान-दक्षिणा देकर इसके अर्थज्ञान के गर्भ-गृह में प्रवेश करते हैं। ४६

वे आत्मज्ञान से तत्काल, आत्मा, श्री हरि, का दर्शन करते है। किन्तु मोक्ष-प्रसाद की योग्यता सबको होती है। ४७

किसी श्रेष्ठ की पंगत में बैठकर भोजन करते हुए, सब स्तर के लोगों को एकजैसा ही पक्वान्न मिलता है। उसी तरह, श्रवण से, अर्थ से, पठन से, मोक्ष प्राप्ति ही होती है। ४८

इसीलिये, यह सब जानकर मैंने अठारहवां अध्याय उस गीतावैष्णवमंदिर का मंगलकलश, ऐसा कहा। ४९

अब सत्रह तक अध्याय कैसे बढ़ते गए, वह सम्बन्ध मुझे जैसा दिखता है, मैं बताता हूँ। ५०

दोनों ही आकार विभाजन न होते हुए, शरीर एक ही रहता है। यह बात अर्धनारीनटेश्वर के रूप में प्रगट होती है। ५१

या गंगा-यमुना का पानी प्रवाह के कारण अलग-अलग दिखता है, किन्तु पानी-पन से एक ही होता है। ५२

नहीं तो जैसे दिन बढ़ते हैं वैसे चन्द्रबिम्ब में कलाएँ फैलती हैं। किन्तु वे जैसे चन्द्रबिम्ब के ऊपर अलग-अलग पड़तें नही होती हैं। ५३

इसी तरह से जैसे श्लोक के चार अलग-अलग चरण श्लोक के रूप से हो गए। वैसे ही अध्याय के विभाग के कारण अध्याय अलग-अलग हो गए, ऐसा प्रतीत होगा। ५४

किन्तु प्रमेयों का प्रकाश अलग-अलग नहीं होता। जैसे अलग-अलग रत्नों को गूँथने वाली डोरी एक ही होती है। ५५

अनेक मोती मिलकर ही माला का महत्व होता है। किन्तु वहाँ शोभा का रूप तो एक ही होता है। ५६

फूलों की माला में, फूल गिन सकते हैं। किन्तु उन्हीं उंगलियों से सुगंध अलग नहीं कर सकते। गीता के श्लोक और अध्याय; इनका स्वरूप ऐसा ही समझना चाहिए। ५७

सात सौ श्लोक, और अठारहवें अध्याय का लेखन। किन्तु भगवान ने जो कुछ कहा, वह मात्र एक ही है, दूसरा नहीं। ५८

और मैंने भी यही विचार न छोड़ते हुए, ग्रंथ का स्वरूप बताया है । अब उस पद्धति का स्पष्टिकरण सुनो । ५९

तो, सत्रहवें अध्याय के आखिर के श्लोक में भगवान ऐसा बोले : ६०

इस ब्रह्मनाम के सम्बन्ध में आस्तिक बुद्धि छोड़कर, जितने कर्म होते है, वे सब असंतकर्म होते हैं । ६१

ये भगवान के शब्द सुन, अर्जुन डोलने लगा और कहा : यहाँ कर्मनिष्ठावान लोगों को दोष दिया हुआ है । ६२

वे बेचारे अज्ञान से अंधे हुए लोग, इतना सर्वव्यापी ईश्वर जिन्हें नही दीखता, तो उन्हें क्या एक नाम की महती समझ आएगी ? ६३

और रज और तम, ये दोनों निकल जाने बिना श्रद्धा अधूरी होती है । फिर वह क्या इस ब्रह्मनाम के व्यवहार में उपयुक्त होगी ? ६४

फिर शस्त्र को आलिंगन देना, डोरी के ऊपर दौड़ना, या नागिन के साथ क्रीड़ा करना, यह भी उनकी तुलना में कम पड़े; ६५

कर्में इतनी कष्टदायक होती हैं । और उन्हें जन्मजन्मान्तर छुटती नहीं । कर्म में इतने दुरयोग होते हैं । ६६

या भूल से ही कभी ये सतकर्म हो जाएँ, तो उसे ज्ञान की श्रेष्ठता मिलेगी । नहीं तो इससे ही नरक प्राप्त होगा । ६७

कर्म में ऐसे ही प्रसंग बहुत आते हैं । फिर कर्मठ लोगों को मोक्ष-मार्ग कैसे मिलेगा ! ६८

इसीलिये कर्म का स्मरण भी नहीं चाहिये । सबका त्यागकर, निर्दोष संन्यास स्वीकारे । ६९

वहाँ कर्मबाधा होने का डर नहीं, और उससे आत्मलाभ ही होगा। ७०

जो ज्ञानप्राप्ति के मंत्र हैं, जो ज्ञान उगाने वाले सुक्षेत्र हैं, जो ज्ञान को खींचने वाले डोर हैं। ७१

ऐसे ये दोनों, संन्यास और त्याग, इनका अंगीकार कर, जग मुक्त होने दो। तो इस सम्बन्ध में अब स्पष्ट पूछूँगा। ७२

ऐसा कहकर अर्जुन ने त्याग और संन्यास, इन दो मार्गों का स्वरूप समझने के लिये प्रश्न किया। ७३

उसके उत्तर में श्री कृष्ण ने जो बातें बताई वे इस अठारहवें अध्याय में व्यक्त हुई हैं। ७४

इसी तरह से, एक उत्पन्न होने वाला और एक उत्पन्न करने वाला; इस न्याय से, एक अध्याय से दूसरा अध्याय उत्पन्न हो गया। अब अर्जुन ने क्या पूछा यह सुनो। ७५

तो, भगवान का पिछला भाषण सुनकर उस अर्जुन के अन्तःकरण मे एक सशय पैदा हो गया। ७६

नहीं तो तत्व के बारे में वह निश्चित था; किन्तु भगवान चुप हो गए, यह उसे अच्छा नही लगा। ७७

बछड़ा तृप्त होने के बाद भी, उसे माता का दूर जाना अच्छा नही लगता। अनन्य प्रेम का प्रकार ऐसा ही होता है। ७८

उस प्रेम में बिना कारण बोलना अच्छा लगता है। देखा हो, फिर भी देखने की इच्छा होती है। बहुत में उपभोग से इच्छा दुगुनी होती है। ७९

प्रेम का प्रकार ऐसा होता है। और, अर्जुन तो उसकी मूर्ति ! इसीलिये भगवान का चुप रहना उसे अच्छा नही लगा। ८०

और जिस वस्तु के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं होता, वह वस्तु सम्वाद के निमित्त से समझ में आती है। जैसे, दर्पण में दिखने वाला रूप। ८१

फिर जब सम्वाद ही दूर हो जाए तो भोग भोगना रुक जाता है। यह, सम्वाद-सुख के स्वाद-लगे-हुए अर्जुन को, आसानी से कैसे सहन होगा ? ८२

इसीलिये त्याग और संन्यास पूछने के बहाने से उसने गीता का स्वरूप पलटा दिया। ८३

यह अठारहवाँ अध्याय नहीं, यह एकाध्यायी गीता ही है। जब बछडा ही थन को लगता है, तो देर कैसी ! ८४

इसी तरह से गीता पूर्ण होने की अवस्था में, उसने फिर प्रारम्भ करवाया। गुरु-शिष्य के सम्वाद में क्या नहीं होगा ! ८५

किन्तु यह अभी रहने दो। अर्जुन पूछता है : हे विश्वेश्वर मेरी विनती सुनो। ८६

गीता १

महाराज, संन्यास और त्याग, ये दोनों एक अर्थ से ही जाने जाते हैं। जैसे संघात और संघ को, संघात ही कहते हैं। ८७

त्याग और संन्यास में त्याग ही बोला जाता है। मेरे मन को तो ऐसा ही समझ में आता है। ८८

या कुछ अर्थ भेद हो, तो भगवान स्वयं स्पष्ट करें। इसके ऊपर श्री कृष्ण बोले : अरे, वे अलग हैं। ८९

किन्तु अर्जुन, तुम्हारे मन में त्याग और संन्यास, ये दोनों एक अर्थ के लगे, यह भी मैं ठीक ही समझता हूँ। ९०

इन दोनों शब्दों में सचमुच त्याग ही बोला जाता है, यह त्रिवार सत्य है। किन्तु उसमें भेद इतना ही है, ९१

कि जब पूर्ण कर्म छोड़दें तो उसको संयास कहते हैं। और केवल फल का त्याग करना, इसे त्याग कहते हैं। ९२

तो कौन कर्म का फल छोड़ता है और कौन कर्म छोड़ता है यही स्पष्ट करता हूँ, ध्यानदो। ९३

यह देखो, वन में या पहाड़ पर जैसे वृक्ष अनियंत्रित आप ही उग जाते हैं। वैसे, उद्यान या फल-बाग अपने आप नहीं उगते। ९४

न बोते हुए, घास बहुत उग जाती है। किन्तु चावल के खेत का वैसा नहीं। उसके लिये परिश्रम करना पड़ता है। ९५

या शरीर सहज बन गया पर अलकार प्रयत्न से करने पड़ते हैं। नदी अपने आप होती है, कुआँ खोदना पड़ता है। ९६

इसी तरह से नित्यनैमित्यिक कर्म होता ही रहता है। किन्तु काम्यकर्म, कामना बिना होता नहीं। ९७

गीता २

वासना की सेना से ही जो उठते हैं, ऐसे जो प्रसिद्ध अश्वमेधादिक यज्ञ होते हैं। ९८

कुआँ, हौद, उद्यान, महा-ग्राम, धर्मशाला, और अनेक व्रत के समारम्भ; ९९

ऐसा इच्छा-पूर्ति के लिये किया हुआ सब, जिसका मूल एक कामना ही होती है, और जो करने के बाद फल भोगना ही पड़ता है। १००

अर्जुन, जैसे देह के गाँव में आने के बाद जन्म-मृत्यु के उत्सव को 'ना' कह नहीं सकते। १०१

या माथे पर लिखा हुआ जैसे कभी भी मिटा नहीं सकते। या कालापन और गोरापन धो नहीं सकते। १०२

इसी तरह से किया हुआ काम्यकर्म, फल भोगने के लिये धरणा देकर बैठता है। जैसा न वापस किया हुआ ऋण पीछा नहीं छोड़ता। १०३

या कामना न करते हुए सहज जो काम्यकर्म होगा, वह हे अर्जुन, न झूझते हुए कभी बांण लग जाए, ऐसा होगा। १०४

न जानते हुए गुड़ मुँह में गया तो मीठा लगता ही है। राख समझकर आग दबाई जाए तो जलाएगी हो। १०५

काम्यकर्म में ऐसा एक स्वभाविक सामर्थ्य होता है। इसीलिये जो मुमुक्षु है उसे इनका कौतुक करना नहीं चाहिये। १०६

इतना ही नहीं अर्जुन, ऐसा जो काम्यकर्म होगा उसे गरल समझकर, उल्टवाना ही चाहिये। १०७

फिर उस त्याग को इस जग में आत्मानंदी द्रष्टा लोग संन्यास-क्षेत्र में डालते हैं। १०८

यह काम्यकर्म छोड़ना, माने कामना ही उखाड़कर फेंक देने जैसा है। जैसे, धन का त्याग होते ही, भय नष्ट हो जाता है। १०९

अब चन्द्र-सूर्य के ग्रहण आकर जो पुण्यकर्म करवाते हैं। या माता-पिता, इनकी मृत्यु के जो श्राद्धदिवस होते हैं। ११०

या कभी अतिथि आकर खड़ा हो गया, ऐसे समय में जो करना पड़ता है। वह नैमित्यकर्म समझो। १११

बरसात के दिनों में आकाश क्षुब्ध होता है। वसंत से वन-शोभा बढ़ती है। या यौवन अवस्था जैसे शरीर को शोभा लाती है। ११२

चन्द्र के कारण सोमकान्त पिघलने लगता है। सूर्य के कारण कमल फूलता है। यह उन्हीं का ही आत्म अविष्कार होता है। बाहर से कुछ नहीं आता। ११३

इसी तरह से जो कर्म सदैव करना ही पड़ता है, उसे निमित्त का बन्धन होता है। अत: इसको नैमित्यिक नाम की श्रेष्ठता आती है। ११४

और, सुबह, दोपहर, शाम को, ऐसा प्रतिदिन जो करना होता ही है वह, जैसा आँखों में दृष्टि बढ़ती नहीं, ऐसा निश्चित होता है। ११५

या पाँव में गति लानी नहीं पड़ती, स्वभाविक होती है। या दीप-गोल में प्रकाश जैसा स्वभाविक होता है। ११६

सुगंध न लगाते हुए, चंदन में जैसा सुवास होता है। यह जैसा उसके अधिकार का ही रूप है। ११७

नित्यकर्म, ऐसा जो जग में कहते हैं, उसे ऐसा ही समझलो। इसी तरह से नित्य और नैमित्य ऐसे दोनों तुझे बता दिये। ११८

यह नित्य और नैमित्यिक अवश्य स्वीकारना चाहिये। कई लोग इसीलिये उसको निष्फल और बांझ ऐसा मानते हैं। ११९

किन्तु खाना खाने के बाद जैसा होता है : तृप्ति हो जाती है, भूख नष्ट हो जाती है। ऐसा ही नित्य-नैमित्यकर्म के सर्वांग में ही फल है। १२०

मिलावटी सोना अंगीठी में डाल दिया, तो मल जाता है और शोभा बढ़ती है । इस नित्य-नैमित्यकर्म में ऐसा ही फल समझो । १२१

क्योंकि दोष तो निकल जाते हैं, और अपना अधिकार बढ़ता है । फिर सहज ही सद्‌गति प्राप्त होती है । १२२

इतना बड़ा फल नित्य-नैमित्यकर्मों में है । किन्तु वह भी, मूल नक्षत्र में जन्म लिए हुए के समान, अवहेलना चाहिये । १२३

बेली फल से भरती है, आम का पेड जैसे मौहरता है, किन्तु वसन्त उन्हे स्पर्श न करते हुए निकल जाता है । १२४

उसी तरह से मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए, नित्य-नैमित्य कर्मो की ओर देखो; और बाद में फल की ओर, उल्टी जैसा दुर्लक्ष करो । १२५

इस कर्मफलत्याग को लोग 'त्याग' कहते हैं । इसी तरह से तुझे संन्यास और त्याग कह दिया । १२६

जब संन्यास हो जाता है तब काम्यकर्म बाधक नही होता । और निषिद्धकर्म, वह तो निषेध के कारण, अपने आप गया ही । १२७

और जो नित्यादिक कर्म होता है, वह फल के त्याग से नही-सा हो जाता है । जैसे मस्तक गया तो शरीर गया । १२८

धान पकना, माने ही पौधा सूखना । उसी तरह कर्मजात समाप्त हुई, तो आत्मज्ञान स्वय ही ढूँढता आएगा । १२९

ऐसे दोनों प्रकार से त्याग और संन्यास आचरण में आ गये, तो उनको आत्मज्ञान का यश मिलता है । १३०

नही तो यह युक्ति जब छूट जाएगी तब त्याग फँसाएगा, और त्याग तो होगा ही नहीं अपितु कर्म में अधिक ही फँसा देगा । १३१

रोग न समझते दिया हुआ औषध. दोष वापस लाता है । या अन्न का आदर न किया तो भूख मारेगी कि नहीं ? १३२

इसलिये जो त्याज्य नहीं है. वहाँ त्याग का उपयोग नहीं करना चाहिये । त्याग का लोभ न धरे । १३३

त्याग का विधि-तंत्र नहीं समझ में आया तो किया हुआ सर्व त्याग केवल बोझा बनकर ही रहेगा । इसीलिये झूझने वाले वैराग्यशील पुरुष उस ओर ध्यान नही देते । १३४

गीता ३

कई लोगों की फल की अभिलाषा छूटती नही और कर्म को बन्धनकारक मानते हैं । जैसे स्वयं नग्न रहना और लोगों को 'झगड़े वाले' कहकर दोष देना । १३५

जिव्हा का अंकित रोगी, अर्जुन, अन्न को दोष देता है । कुष्टरोगी अपने शरीर से नहीं रूठता, किन्तु मक्खियों पर गुस्सा करता है । १३६

फल की इच्छा छोड़ने में जो दुर्बल होते हैं, वे कर्म को ही बुरा मानते हैं; और कर्म त्याग करने का सोचते हैं । १३७

कई कहते हैं यज्ञ इत्यादि अवश्य करना चाहिये क्योंकि उनके जैसा शुद्ध करने वाला अन्य कोई नही । १३८

मन-बुद्धि के मार्गों पर जब शीघ्र विजय पानी हो तो कर्म-सामर्थ्य के लिये आलस नहीं करना । १३९

स्वर्ण जो शुद्ध करना हो, तो अग्नि का तिरस्कार नहीं करना चाहिये । या दर्पण के लिये स्वच्छ करने की पिष्टि अवश्य रखनी चाहिये । १४०

या कपड़ा स्वच्छ रहना चाहिये, ऐसा जो मन हो, तो धोने की हांडी गन्दी नहीं समझनी चाहिये। १४१

इसी तरह से कर्म कष्टकारी है, ऐसा समझकर उसकी अवहेलना न करो। खाना पकाए बिना रुचिकर अन्न कैसे मिलेगा ? १४२

ऐसे-ऐसे शब्दों में कई, कर्म करने की प्रवृत्ति बढाते हैं। और त्याग के बारे में मतभेद हो जाता है। १४३

किन्तु अब यह मतभेद नष्ट हो, और त्याग का स्वरूप निश्चित हो, ऐसा सब अच्छी रीति से मैं कहूँगा, ध्यानदो। १४४

गीता ४

अर्जुन, त्याग भी त्रिविध होता है, यह समझलो। अब उस त्रिविध का अच्छा विभाग कहता हूं। १४५

त्याग के तीनों ही प्रकार कहे गए, फिर भी तू इस विभाग का ही सार ध्यान में रख। १४६

मेरे जैसे सर्वज्ञ की बुद्धि को जो सचमुच स्वीकार्य लगता है, वह मेरा निश्चित तत्व पहले सुनो। १४७

इसीलिये जो मुमुक्षु अपनी मुक्ति के लिये, जागृत रहना चाहता है; उसे सर्वस्वी इस एक का ही आचरण करना चाहिये। १४८

गीता ५

यज्ञ, दान, तप आदि जो आवश्यक व्यवहार है, वे कभी भी छोडने नही चाहियें। जैसे, प्रवासी को अपने पैर आगे बढ़ाने ही चाहिये। १४९

खोई हुई वस्तु जब तक दिखने में नही आई, तब तक ढूँढना छोड़ना नही चाहिये। या जब तक तृप्ति नहीं हुई, भोजन की थाली दूर नहीं करनी चाहिये। १५०

नाव किनारे पर लगे बिना, केली को फल आए बिना, उनका त्याग नहीं करते। या रखी हुई वस्तु दिखे बिना जैसे दिया नहीं छोड़ना चाहिये। १५१

उसी तरह से जब तक आत्मज्ञान के विपय मे पूरी समझ नही आई तब तक यज्ञादिक के लिये उदासीन न हो। १५२

अपने अधिकार के अनुरूप यज्ञ, दान, तप, जितने हो जाएँ, इतने अवश्य करते रहना चाहिये। १५३

जब चलने का वेग बढ़ता है, तो वह शीघ्र विश्रांति मिल जाए, इसीलिए होता है। इसी तरह से कर्म की वृद्धि, यह नैष्कर्म के लिये ही होती है। १५४

जितना अधिक औषधि लेने का निश्चय हो जाए, इतनी व्याधि से मुक्तता शीघ्र होगी। १५५

इसी तरह से ये कर्मे जितनी शीघ्र शास्त्रोक्त रीति से की जाएँ, इतना शीघ्र ये रजो गुण, तमो गुण, पूर्ण निकल जाएँगे। १५६

स्वर्ण को क्षार का उपचार देना जितना शीघ्र समाप्त हो जाएगा, इतना शीघ्र दोष निकल जाएँगे और सोना स्वच्छ हो जाएगा। १५७

उसी तरह से रज, तम, का त्याग करके निष्ठापूर्वक जब कर्म किया जाएगा, तब सत्व शुद्धि का स्थान दिखने लगेगा। १५८

इसीलिये अर्जुन, अन्तःकरणशुद्धि का शोध करने वाले को यह कर्मे, तीर्थ जैसी होती हैं। १५९

तीर्थ बाहर का मल नष्ट करते हैं; कर्म से अन्तःकरण स्वच्छ होता है। इसीलिये सत्कर्म ही निर्मल तीर्थस्थान है, ऐसा समझो। १६०

प्यासे को रेगिस्थान में लू के साथ अमृत बहता आ जाए। या अन्धे को उसकी आँखों में ही सूर्य आ जाए। १६१

या डूबने वाले को बचाने के लिये नौका ही दौड़ने लग जाए। गिरने वाले की पृथ्वी ही करुणा करे। या मरने वाले को मृत्यु ही आयुष्य की वृद्धि करे। १६२

इसी तरह से अर्जुन. मुमुक्षु को कर्म ही कर्म बंधन से मुक्त करते हैं। जैसे विष औषधि के स्वरूप में प्रयोग किया जाए तो मरने वाला ही बच जाता है। १६३

इसी तरह से एक विशिष्ट पद्धति से कर्म करने के बाद, वे बन्धन करने वाले ही छुटकारा देने के लिये आगे बढ़ते हैं। १६४

अब वह ही विशिष्ट पद्धति तुझे अच्छी रीति से बताता हूँ। जिस रीति से कर्म ही कर्म को छोड़ जाता है। १६५

गीता ६

तो, महायज्ञ-जैसा प्रमुख कर्म निर्विघ्न सिद्ध होने के बाद भी, कर्तृत्व का अहंकार न आना। १६६

जो बहुत कष्ट से तीर्थ यात्रा को जाते हैं उन्हें, हम यात्रा कर रहे हैं, ऐसी वासना व विशेष आनंद ही, न होना। १६७

या हे राया, समर्थों की मुद्राएँ जिन अकेलों के हाथों में खेलती रहती हैं, वे 'मैं ही समर्थ' ऐसा गर्व नहीं करते। १६८

जो दूसरे की कमर में हाथ डालकर तैरता रहता है, उसे तैरने का अभिमान नहीं होता। पुरोहित अपने आप को दाता नहीं कहता। १६९

प्रसंग से भी कार्य-शक्ति का अहंकार न आने देते हुए, कार्य-सफलता का श्रेय दूर रखे। १७०

और किये हुए कर्म में जो फलप्राप्ति होती है, उसके आगे मनोरथ को खड़ा करना नहीं चाहिये। १७१

अर्जुन, आरम्भ में से ही, फल की इच्छा न करते हुए ही कर्म चालू रखना चाहिये। जैसे कोई दूसरे का बच्चा सम्भाल लिया हो। १७२

पीपल को पानी, पीपली के लिये नहीं डालते। वैसे, फल की निराशा से ही कर्में करनी चाहियें। १७३

दूध की ओर लक्ष्य न देकर, गौरक्षक गैया इकट्ठी करता रहता है। कर्म फल का सम्बन्ध ऐसा ही होना चाहिये। १७४

इस प्रकार का स्वीकार करके, जो कर्में की जाती हैं, उन्हीं से ही आत्मस्वरूप की भेंटी हो जाती है। १७५

इसीलिये फल की इच्छा छोड़कर और देह का अहंकार न रखते हुए कर्म करते रहने चाहियें, ऐसा मेरा महत्व का संदेश है। १७६

जो लोग जीवबंधन से त्रस्त हैं, और उसमें से छूटने की इच्छा करते हैं, उन्हें इन बोलों पर बार-बार ध्यान देना चाहिये। अन्य कुछ करने की आवश्यकता नहीं। १७७

गीता ७

अंधेरे पर क्रुद्ध होकर जैसे आखों में नाखून डालना। उसी तरह से कर्म के द्वेष से जो सर्व कर्म छोड़ता है। १७८

उसका वह कर्म-त्याग तामस है, ऐसा मैं मानता हूँ। फिर दर्द की बीमारी में अपने माथे का ही लेप लगाना, यह कृत्य मैं ऐसा ही समझता हूँ। १७९

अरे, मार्ग कठिन होगा फिर भी पैर ही उसके कष्ट सहन करेंगे। इस मार्ग के अपराध के लिये, उनको ही तोड़ा जाता है क्या ? १८०

भूखे के सामने अन्न, कितना भी गरम हो फिर भी उसे बुद्धि का उपयोग न करते हुए, थाली दूर करना; इसका माने भूखा रहना ही है ना ? १८१

इसी तरह से कर्म का बंधन कर्म करके ही छोड़ना होता है। यह गोष्ठ तामसी मनुष्य भ्रम के कारण जानता नही। १८२

स्वभाव से अपने भाग में आया हुआ कर्म ही वह छोड़ देता है। किन्तु इस तामसी के ऐसे त्याग की ओर तो कदापि ध्यान न दो। १८३

गीता ८

या, अपना अधिकार जो जानता है। अपना विहितकर्म भी समझता है। किन्तु कर्म के कष्टदायकपन का तिरस्कार करता है। १८४

कर्म का आरम्भ थोड़ा कष्टदायक होता ही है। खाद्य-सामग्री साथ ले जाने में, जैसे बोझा बढ़ना ही है। १८५

जिव्हा को नीम कड़वा लगता है। हरड़ा शुरु में तुरसी होता है। वैसे ही कर्म का प्रारम्भ कष्टदायक होता है। १८६

गैया, सींग होने के कारण, कठिन-सी लगती है। सहजन की फलियाँ प्राप्त करना कष्टदायी होता है। बनाना पड़ा, तो भोजन-सुख महँगा पड़ता है। १८७

इसी तरह से कर्म हरेक बार प्रारम्भ में कठिन होता है, इसीलिये वे कर्म को कष्टदायक मानते हैं । १८८

विहितकर्म विहित समझकर शुरु तो करते ही हैं । किन्तु आचरते हुए, त्रास समझकर, चालू हुआ कर्म भी 'हाथ जल गया' ऐसा छोड़ देते हैं ।१८९

कहते हैं : बड़ा भाग्य, इसीलिये देह जैसी वस्तु मुझे मिल गई । फिर पापी मनुष्य की तरह उसे कर्मादिक से क्यों छलूँ । १९०

किये हुए कर्म से जो मुझे मिलने वाला है वह मुझे मिलेगा ही । किन्तु जो आज भोगने को मिलता है, १९१

वह ही क्यों नही अच्छी तरह से भोगें । इसी प्रकार शरीर के दु:ख से डरकर, अर्जुन, जो कर्म का त्याग करता है, वह त्याग राजस है । १९२

वैसे देखा जाए तो वहाँ भी कर्मत्याग होता है, किन्तु वह त्याग सिद्ध नही होता । जैसा अग्नि में जो उफनकर गिरता है वह हवन नही होता ।१९३

या डूबकर मर गया तो उसने समाधि ली, ऐसा नही कहना चाहिये । वह 'डूबा' ही होता है । १९४

देह के लोभ से जिसने कर्मो के ऊपर उदक छोड़ा, उससे उसको त्याग का सच्चा फल नही मिलता । १९५

संक्षिप्त में, उजाला होते ही जैसे नक्षत्र लोप हो जाते हैं; वैसे, आत्मज्ञान का जब उदय होता है, १९६

तो अर्जुन, कारण सहित सब कार्य नहीं-से हो जाते हैं । उस कर्मत्याग से जो मोक्षफल मिलता है, १९७

वैसा मोक्षफल, अर्जुन, अज्ञान से त्याग करने वाले को नहीं मिलता। इसीलिये उस राजस त्याग को त्याग नहीं कहना चाहिये। १९८

तो यहाँ किस त्याग से वह मोक्षफल घर में आएगा, यह भी अभी कहा जाएगा। सुनो। १९९

गीता ९

तो, स्वाधिकाररूप से जो कर्म सहज अपने भाग में आया हो, उसका आचरण विधिपूर्वक समारम्भ से करे। २००

किन्तु 'यह मैं कर रहा हूँ', ऐसा भाव वह मन से निकाल दे, और फल पर भी उदक छोड़े। २०१

अर्जुन, माता के बारे में जैसे अवज्ञा और कामना ये दोनों ही, पतन को कारणीभूत होते हैं। २०२

इसीलिये इन दोनों का त्याग करके केवल माता समझकर उसका पूजन करना चाहिये। नहीं तो, मुँह देखकर क्या गाय तजी जाती है ? २०३

अपने प्रिय फल में छिलके, गुठलियाँ, ऐसी त्याज्य वस्तु होती ही हैं। उनके कारण, कोई भी फल का अवहेल करता है क्या ? २०४

अर्थात् कर्तृत्व का अहंकार और कर्मफल की लालसा, इस जोड़ी का नाम ही कर्मबंधन है। २०५

इसीलिये इन दोनों के बारे में तू ऐसा हो जा, कि जैसा पिता अपनी कन्या के बारे में शुद्ध-मन होता है। कारण, कर्म का त्याग करके कोई दुःखी नहीं होता। २०६

यहीं तो त्याग-वृक्ष, मोक्ष-फल से भर आता है। इस को ही इस जग में सात्विक, ऐसा मान है। २०७

बीज जलाकर जैसे वृक्ष निरवंश किया जाता है । उसी तरह से जिसने फल का त्यागकर. कर्म त्याग किया हो । २०८

पारस का स्पर्श होते ही जैसे लोहे का अशुद्ध कालापन निकल जाता है । उसी तरह से उसके रज-तम टूट जाते हैं । २०९

फिर उस निर्मल सत्व के योग से आत्मज्ञान की आँखें खुल जाती हैं, और फिर संध्यासमय-मृगजल जैसी अवस्था हो जाती है । २१०

उसी तरह से बुद्धि, मन आदि के सामने जो इतना प्रचंड विश्वाभास होता है. वह दिखना बन्द हो जाता है । जैसे, आकाश होते हुए भी कहीं भी नहीं दिखता । २११

गीता १०

इसीलिये अपने पूर्व कर्मो की शक्ति से जो अच्छे बुरे कर्म अपने सामने आते हैं, वे आकाश में बादल समान लोप हो जाते हैं । २१२

इसी तरह से अर्जुन, उसकी दृष्टि से कर्म शुद्ध होने के कारण, सुख-दु.ख अवस्था में उसका आना-जाना नहीं होता । २१३

ऐसे पुरुष ने कर्म शुभ जानकर आनंद से अंगीकार करना चाहिये । किन्तु अशुभ के बारे में द्वेष भावना करनी नहीं चाहिये । २१४

उस समय इस विषय के बारे में कोई भी संदेह नहीं रहता । जैसा जागृत रहने वालों को स्वप्न का संदेह नहीं होता । २१५

इसीलिये कर्म और कर्ता, ऐसे द्वैत भाव का संबन्ध जिसका नहीं होता, अर्जुन, वह सात्विक त्याग है । २१६

अर्जुन, इसी प्रकार कर्म त्याग किये जाएं तब ही उनका संपूर्ण त्याग होता है। नहीं तो, त्याग होते हुए भी वे कर्म अधिक बंधनकारक होते हैं। २१७

गीता ११

और यह देखो अर्जुन, एक बार देह की मूर्ति होने के बाद, फिर कर्म को [illegible] ानना, यह गंवारपना है। २१८

मिट्टी का उबक आकर, मटका क्या करेगा ? वस्त्र, तन्त को कहाँ तक छोड़ेगा ? २१९

अंग में अग्निपन है, फिर अग्नि को गरमाई की उबक कैसी ? दिया कभी प्रकाश का द्वेष करता है क्या ? २२०

हींग को उग्रपन का त्रास हो गया फिर भी वह सुगंध तो कैसे लाएगा ? पानी अपना द्रव्यपन छोड़कर कैसे रह सके ? २२१

इसी तरह से शरीर के आभास में जब तक हम रहते हैं तब तक कर्मत्याग का पागलपन क्यों ? २२२

हम चन्दन का तिलक लगाते हैं, इसीलिये वह जब चाहे मिटा सकते हैं। उसी प्रकार माथे का लेख, लिखना-मिटाना शक्य है क्या ? २२३

इसी तरह से अपने में विहितकर्म का स्वीकार किया इसीलिये वह छोड़ना हो तो छोड़ सकते हैं ; किन्तु देह का जड़ा हुआ कर्म कैसे छोड़ सकते हैं ? २२४

जो श्वासोश्वास के रूप से नींद में ही होता रहता है; और कुछ न किया ऐसा ही होता है। २२५

इस शरीर के कारण से वह कर्म ही जीव के पीछे लगा हुआ है । ऐसी कर्में, जीव जाए बिना रुकेंगी नहीं । २२६

ऐसे कर्मो को छोड़ने का एक ही प्रकार है, वह समझलो । वह यह, कि कर्म करके उसके फल की पकड़ में न फँसना । २२७

कर्मफल ईश्वर को अर्पण करने के बाद उसके प्रसाद से आत्मज्ञान उत्पन्न होता है । फिर डोरी के ज्ञान से सर्पभ्रम नष्ट होता है । २२८

उस आत्मज्ञान से अविद्या समेत कर्म का नाश होता है । अर्जुन, ऐसा त्याग करे तो ही त्याग जैसा है । २२९

इस प्रकार से दुनिया में कर्म करने वाले को मैं त्यागी ही समझता हूँ । नहीं तो मूर्छा को, रोगी का आराम समझने जैसा हो जाएगा । २३०

थकावट एक कर्म की, और वह निकालने के लिये दूसरे की ओर देखना । यह डंडे के प्रहार को मुट्ठी से प्रतिकार करने जैसा है । २३१

किन्तु अब यह फिर कहता हूँ । इन तीनों जग में वही त्यागी समझना चाहिये, जो फल त्याग करके, कर्म नैशकर्म अवस्था को लाया । २३२

गीता १२ --

अर्जुन, कर्म के जो तीन प्रकार के फल होते हैं, उनके भोग उन्हीं को ही भोगने आवश्यक होते हैं, जो फल की आशा छोड़ते नहीं । २३३

पुत्री को जन्म देकर पिता स्वयं ही "न मम्" कहकर छूट जाता है, किन्तु उसे स्वीकार करने वाला जंवांई अटकता है ना ? २३४

विष का खेत भी बढ़ेगा, वह बेचकर सुख का जीवन भी मिलेगा । किन्तु जो पैसा देकर उसे खरीदेगा, वह मरेगा । २३५

कर्ता वह जो कर्म करेगा। और अकर्ता वह जो फल की आशा छोड़ेगा। किन्तु ये दोनों ही कर्म को रोक नहीं सकेंगे। २३६

रास्ते पर बढ़े हुए वृक्ष से उसके फल की जैसे अपेक्षा करे; ऐसा मिलता है उनको सामान्य कर्म का फल। २३७

किन्तु कर्मकर, जो फल लेता नहीं; वह इस दुनिया के व्यवहार में फँसता नहीं। क्योंकि ये त्रिविध जग सब कर्मफल ही है। २३८

देव, मनुष्य, और पृथ्वी, इनको ही जगडंबर कहते हैं। यही तीन प्रकार का कर्मफल है। २३९

इनमें से एक अनिष्ट है, एक केवल इष्ट और एक इष्टानिष्ट। ऐसी त्रिविधता इसमें है। २४०

किन्तु विष्यासक्त बुद्धि का अंगीकार करके, अविधिपूर्वक, निशिद्ध बुरे व्यवहार में जो रहते हैं: २४१

और उसके कारण, कृमी, कीटक, कीचड़ में के ऐसे हल्के प्रकार के देह उनको मिलते है। उसी का नाम 'अनिष्ट' कर्मफल। २४२

या स्वधर्म को मान देकर; स्वाधिकार को आगे कर: विधिपूर्वक जो कर्म किया जाता है। २४३

उससे, अर्जुन, इन्द्रादिक देवों के देह प्राप्त होते हैं। उस कर्मफल को 'इष्ट', ऐसी प्रसिद्धि है। २४४

और मीठा व खट्टा, इन दोनों रस का नाश करके जो एक अलग ही रसांतर का रूप लेता है। २४५

योग के कारण रेचक वायु का, दोष-कारक स्तम्भक वायु बनता है; उसी तरह से सत्य-असत्य, इनके मिश्रण से असत्य उत्पन्न होता है। २४६

इसीलिये शुभ-अशुभ इनके सम्भाग मिश्रण से जो कर्माचरण होता है, उससे जो मनुष्य-लाभ होता है, उसे मिश्रफल कहते हैं। २४७

ऐसे इस जग में त्रिविधरूप में जो कर्मफल उत्पन्न होता है, उसका त्याग न करते हुए, जिनकी भोग इच्छा बढ़ती है। २४८

ऐसे समय जिव्हा का हाथ फट जाए, ऐसी, खाने में रुचि होती है। किन्तु उसका परिणाम आखिर में मरण ही होगा। २४९

जब तक अरण्य आया नहीं, तब तक ही समचोर की संगति अच्छी। वेश्या का अंग अच्छा, जब तक उसका स्पर्श न हुआ हो। २५०

उसी तरह से सचेतता से कर्म करते हुए जिनको बड़प्पन की प्रसिद्धि मिलती है। किन्तु उन्हें मृत्यु के बाद उसके फल भोगने पड़ते हैं। २५१

शक्तिवान साहूकार वायदा माँगने आया, तो वह वापस नही जाता। उसी तरह से प्राणीमात्र को वे भोग भोगने ही पड़ते हैं। २५२

बाली में से दाना झड़कर गिरता है। वह फिर उग जाता है, और फिर बाली के सिर पर चढ़ता है। फिर नीचे गिरता है. फिर उगता है। २५३

इसी तरह से भोग से जो फल प्राप्त होता है वह दूसरे फल को उत्पन्न करता रहता है। जैसे, चलते समय एक पाँव दूसरे को पीछे छोड़ता जाता है। २५४

जैसे जिस छिछले-पानी में नाव रुक जाती है वह सदैव ही उसका उरला किनारा होता है। उसी तरह से भोग की पकड़ से उनको कभी भी छुटकारा नहीं होता। २५५

या साध्य व साधन इस सतत परंपरा के अनुसार फलभोग फैलता ही रहता है। इसी तरह से जो अत्यागी होते हैं, वे संसार में सदैव फँसे हुए रहते हैं। २५६

जाई का फूल फूलना माने ही उसका सूखना होता है। उसी तरह से कर्म करके ही जिन्होंने न-किया-सा किया। २५७

बीज ही खाने में खर्च हो जाए तो बढ़ती खेती रुक जाती है। उसी तरह से फल का त्याग करके जिन्होंने कर्म का कार्य ही समाप्त कर दिया। २५८

उनकी, सत्व-शुद्धि के सहकार्य से, गुरुकृपामृत के सिचंन से, बढ़े हुए बोध से, द्वैत की दैन्यता नहीं-सी हो जाती है। २५९

उस समय जगत-आभास के रूप से जो उत्पन्न होता है, वह त्रिविधफल, नष्ट हो जाता है। और फिर भोक्ता व भोग्य ये दोनों सहज ही समाप्त हो जाते हैं। २६०

ऐसा यह ज्ञानप्रधान संन्यास जिन से होगा वे, हे अर्जुन, फल-भोग के त्रास से बच जाते हैं। २६१

और सचमुच इसी प्रकार के कर्मसंन्यास से जब आत्मस्वरूप तक दृष्टि विस्तारती है, तब 'कर्म' ऐसा कुछ दिखेगा क्या ? २६२

दीवार गिर जाने के बाद उसके ऊपर बनाये हुए चित्र की, केवल मिट्टी बन जाती है। या रात्र उजलने के बाद अन्धकार रहेगा क्या ? २६३

जहाँ रूप ही नहीं दिखता वहाँ छाया किसकी होगी। दर्पण के बिना, मुख कैसे प्रतिबिम्बित होगा ? २६४

नींद जाने के बाद, स्वप्न का आरम्भ कैसे होगा ? और फिर वह सच्चा या झूठा, यह कौन कहेगा ? २६५

अर्जुन, ऐसे संन्यास के कारण मूल अविद्या का ही अस्तित्व रहता नहीं। फिर वहाँ, कार्य किसने छोड़ा और किसने लिया ? २६६

इसीलिये जो संन्यासी होता है, वह कर्म की गोष्टि कैसे करेगा। किन्तु अपनी देह में जब तक अविद्या होगी, २६७

तब तक करतापन के जोर से आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों में दौड़ेगी ही, क्योंकि दृष्टि में भेद का राज्य बसा हुआ होता है। २६८

इसीलिये हे मर्मज्ञ अर्जुन, पूर्व और पश्चिम इनमें जैसा भेद है, वही सम्बन्ध आत्मा और कर्म का है। २६९

नहीं तो, आकाश और बादल, सूर्य व मृगजल, यह नामावली पृथ्वी और वायु जैसी होगी। २७०

नदी का जल ओढ़कर, नदी में ही पत्थर होता है। किन्तु उनके अलगपन का कौतुक तू जानता है कि नहीं ? २७१

पानी को चिपकी हो, फिर भी काई अलग ही होती है। चिपकी हुई होती है, इसीलिये काजली को क्या दीप कहेंगे ? २७२

चन्द्र में कलॅक दिखने में आया, फिर भी वह चन्द्र से एकरूप नहीं होता। दृष्टि और आँख, इनके विचार मे जैसा भेद है। २७३

अलग-अलग मार्ग और उनपर चलने वाला। प्रवाह और प्रवाह में बहने वाला। दर्पण और देखने वाला। इनमें जितना भेद है। २७४

अर्जुन, इतने प्रमाण में आत्मा से कर्म भिन्न है। किन्तु अज्ञान के कारण उसके ऊपर लादा जाता है, वह ऐसा, २७५

कि सरोवर की सुन्दर कमलिनी जैसी अपने विकास से सूर्य को प्रकट करेगी और भ्रवर से मकरंद का भोग करवालेगी। २७६

उसी तरह से आत्मा में दिखने वाली क्रिया, और ही कारण से होती है। यह तुझे फिर-फिर बता रहा हूं। उन पाँचों ही कारण का स्वरूप अब तुझे बताता हूं। २७७

गीता १३

वे पाँचो ही कारण तुझे समझ में आएंगे क्योंकि शास्त्रों ने हाथ बढ़ाकर, उनके सम्बन्ध में कहा हुआ है। २७८

वेद राया की राजधानी में सांख्य-वेदान्त के मंदिर में उस निरूपण की ध्वनि-पताका, लहरा रही है। २७९

सर्व कर्म की सिद्धि के लिये, यही कारणे इस जग में मूलधन होती हैं। वहाँ, अद्वैतस्वरूप अन्तर-आत्मा को मत फँसाओ। २८०

हे अर्जुन, ऐसे वर्णन का ढिंढोरा पीटने के कारण उनको प्रसिद्धि प्राप्त हो गई। वह तुम को भी सुननी आवश्यक है। २८१

और मेरे जैसा चिद्रत्न तेरे हाथ में होते हुए, क्या तुमको दूसरे के मुख से सुनना पड़ेगा ? ऐसा बोझा क्यो। २८२

दर्पण हाथ में होते हुए, अपना रूप अच्छा दिखने में आ जाए, इसलिये क्या दूसरे की दृष्टि के ऊपर अवलम्बित होना पड़ेगा ? २८३

भक्त जिस स्वरूप में जहाँ देखेगा वहाँ उसी रूप में जो प्रगट होता है, वह मैं, आज तेरे हाथ में खिलौना हो गया हूँ। २८४

ऐसे प्रेम-भर से भगवान लगातार बोल रहे थे, और अर्जुन उस आनँद मे खो रहा था। २८५

जैसा कोई चाँदनी की शोभा बढने के कारण सोमकान्त का पहाड़ पिघलकर सरोवर होने लगा हो। २८६

और सुख और अनुभूति इन भावों की दीवार तोड़कर, उसके पार अर्जुन के आकार में सुख ही केवल खड़ा था। २८७

फिर भी, भगवान समर्थ होने के कारण, उनको स्मरण का समय मिल गया, और उस आनॅंद में डूबने वाले अर्जुन की ओर. मन से दौड गए। २८८

और अर्जुन जैसा भारी, अपने ज्ञान-प्रसार समेत, आनॅंद की बाढ़ में डूब रहा था, उसको उन्होंने बाहर निकाला। २८९

और बाद में उसे कहने लगे: हे अर्जुन ! तू अपने को ठीक देख। तब सावधान होकर उसने भगवान को नमस्कार किया, २९०

और कहने लगा: हे दातारा ! तुम जानते ही हो कि मैं तुम्हारे पडोसीपन से तंग आया हूँ। इसीलिये मूल ऐक्यपद को आने का यत्न कर रहा हूँ। २९१

फिर भी आप ऐसे प्रेम से मेरी प्रबल इच्छा जब पूरी कर रहे हैं, तो मेरी इस अवस्था के बीच में आप अपने जीव को क्यों डाल रहे हैं। २९२

तब श्री कृष्ण बोले · बहुत अच्छे ! अरे अब तक तू जानता नहीं ? पागल, चन्द्र और चाँदनी. इनका न-मिलना कैसा ? २९३

और ऐसा भाव तुझे सुनाने में भी मुझे डर लगता है। क्योंकि अपना प्रेम ही ऐसा है कि उसमें कोई भी रूठ जाए तो वह अधिक दृढ़ हो जाता है। २९४

अरे, यहाँ हम दोनों के बारे में विसम्वाद है इसीलिये ही हम ऐसे जीवित हैं। अत: अब इस विषय पर बोलना बन्द। २९५

अर्जुन, सर्व कर्म आत्मा से अलग होते हैं इस सम्बन्ध में हम क्या-क्या बोल रहे थे, बताओ। २९६

तब अर्जुन ने कहा : भगवान, बिल्कुल मेरे मन का ही प्रश्न आपने छेड़ा. यह अच्छा किया । २९७

क्योंकि सर्व कर्म का बीज, ऐसा जो यह कारण पंचक है, वह 'तुझे कहूँगा,' ऐसी प्रतिज्ञा आपने की है ना ? २९८

और 'आत्मा का यहाँ कोई भी कभी भी सम्बन्ध नहीं,' ऐसा बाद में आपने बोला । अब वह मेरा इच्छित, आप मुझे देदो । २९९

अर्जुन के इस बोल पर सन्तुष्ट होकर, श्री कृष्ण मन में कहते हैं, इस विषय का धरणा देने वाला इसके जैसा और कौन मिलेगा ? ३००

तो, अर्जुन, अब जो कुछ मैं कहने वाला हूँ वह भाषा की मर्यादा में ही होगा । किन्तु हे धनवान, तुझे वह पसँद आएगा ऐसा ही होगा । ३०१

अर्जुन बोला : भगवान, आप पिछला भाव क्या भूल गये ? इन गोष्ठी में आप अभी तक, मैं, तू, यह भाव क्यों रखते हैं ? ३०२

तब श्री कृष्ण बोले : अच्छा ऐसा है क्या ! अब अपना ध्यान अच्छी तरह से विस्तृत करके, जो मैं आगे कहने वाला हूँ वह सुनो । ३०३

तो अर्जुन, यह सच है कि इन पॉच कारणों से ही सर्व कर्म का उभार बाहर-के-बाहर होता है । ३०४

इन पाँच कारणों का समुदाय जिस हेतु से कर्मकार्य आरम्भ करता है, वे हेतु भी सहज ही पाँच होते हैं । ३०५

किन्तु जो उदासीन. ऐसा आत्म-तत्व है. उसको कार्य का हेतु नहीं और आवश्यकता भी नहीं, और कार्य-सिद्धि की इच्छा ही उसमें नहीं होती । ३०६

वहाँ शुभ-अशुभ ऐसे गुणों का कर्म ऐसे सम्बन्ध से गढ़ता है कि आकाश का सम्बन्ध जैसा दिन और रात से होता है । ३०७

पानी, ऊष्णता और भाप, इनका हवा से संगम हो गया तो बादल दिखने लगते हैं । किन्तु आकाश वह नहीं जानता । ३०८

बहुत सी लकडियों की नाव बन जाती है । खेवटिया उसको चलाता रहता है । वायु से उसको गति आ जाती है । किन्तु पानी केवल साक्षी ही रहता है । ३०९

कोई मिट्टी का एकाध गोला लेता है, फिर इंडा घुमाने से चक्र भ्रमण करने लगता है, और उस मिट्टी का बर्तन बन जाता है । ३१०

इसमें कर्तृत्व, वह तो कुम्हार का ही होता है । विचार करो, वहाँ पृथ्वी केवल आधारभूत ही होती है । और क्या जाता है । ३११

यह भी छोड़दो । लोगों के सर्व व्यवहार होते हुए, उनमें सूर्य को क्या कार्य करना पड़ा ? ३१२

उसी तरह से पाँच हेतु मिलकर, इन पाँचों ही कारणों की वजह से, कर्मलता की बुआई की जाती है । आत्मा अलग ही रहती है । ३१३

अब वही पाँच कारण अलग-अलग करके अच्छी तरह से कहता हूँ । जैसे मोती तोल-मोलकर ही लेना होता है । ३१४

गीता १४

अब उन लक्षणों के साथ कर्म-कारण कहता हूँ, सुनो । यहाँ देह, यह पहला कारण । ३१५

इसको जो अधिष्ठान कहते हैं, वह इसी उद्देश्य से । क्योंकि यहाँ अपनी भोग्य वस्तु के साथ भोक्ता निवास करता है । ३१६

इन्द्रियों के दश हाथ से दिन-रात कष्ट करके प्रकृति के कारण जो सुख दुःख जोड़े जाते हैं, ३१७

वे भोगने के लिये पुरुष को अन्य स्थान ही नही, ऐसा दिखता है । इसीलिये देह को अधिष्ठान, इस वचन से ही बोला जाता है । ३१८

सब चौबीस तत्वों का जो एक परिवार है, उस परिवार का, देह, यही एक रहने का ठिकाना है । इस मकान में बन्ध और मोक्ष, इनकी उलझन सुलझाई जाती है । ३१९

वैसे तो अर्जुन, स्वप्न, सुषुप्ति, जागृति, इन तीनों अवस्था को यह देह ही अधिष्ठान है । इसीलिये इस देह को वही नाम मिल गया । ३२०

और कर्ता, यह कर्म का दूसरा कारण है ऐसा समझो । इसको चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहते हैं । ३२१

आकाश से वर्षा होती है, उसका नीचे तालाब बनता है । फिर वह आकाश ही प्रतिबिम्बित होकर उस तालाब का आकार लेता है । ३२२

या राजा गहरी नीद में भरा हुआ, अपने को भूल जाए और स्वप्न में रंक होकर घूमता रहे । ३२३

इसी तरह से, अपना ही विस्मरण होकर चैतन्य ही देहाकार के आभास से, देहपन में दिखने लगता है । ३२४

जिसको ऊपर के विचारों के देश में 'जीव', ऐसी प्रसिद्धि मिली हुई है । उस जीव ने, 'यह देह, यही सर्वस्व' ऐसा निश्चय किया । ३२५

प्रकृति कर्म करती है । वह भ्रम से, 'मैंने किया,' ऐसा यह जीव कहता है । इसीलिये इस जीव को, कर्ता, इस नाम से बोला जाता है । ३२६

फिर पलक के बाल के अंदर से दृष्टि जब बाहर उठती है, उस समय वह फटी हुई-सी मालूम पड़ती है। ३२७

या, घर के अंदर के एक दीपक का प्रकाश, खिड़कियों के कारण अनेक दिखता है। ३२८

उसी तरह से बुद्धि का जानना, कान आदि के भेद से, 'इन्द्रिय' इस स्वरूप से बाहर फैलता है। ३२९

वे अलग-अलग इन्द्रियाँ, जिनको करण कहते हैं, वे इस कर्म का तीसरा कारण हैं। ऐसा हे राज पुत्र, तुम समझलो। ३३०

पूर्व की ओर, और पश्चिम की ओर बहने वाली नदियाँ, प्रवाह-रूप से समुद्र में मिलने के बाद; नदी, नद, समुद्र, सारे जैसे एक हो जाते हैं। ३३१

या एक ही पुरुष, नवरस का अनुकरण करने के बाद, नौ प्रकार का भासने लगता है। ३३२

वैसे, प्राणवायु में जो क्रिया-शक्ति अखण्ड-सी होती है, वह अलग-अलग जगह अलग-अलग रूप में दिखने लगती है। ३३३

जब वाणी के हाथ में आती है, तब वह 'बोलना' बन जाती है। जब वह हाथ में आती है, तब 'देना-लेना' हो जाती है। ३३४

अरे, पाँव में वह ही 'गति' रूप से दिखती है। दोनो अधोद्वार से बाहर निकलना, यह क्रिया भी वह ही करती है। ३३५

नाभि स्थान से लेकर हृदय तक, ओंकार की प्रतिष्ठा करती हुई, उसी को इस शरीर में 'प्राण' कहा जाता है। ३३६

फिर ऊर्ध्वी के आने-जाने के कारण वही शक्ति 'उदान', इस नाम की पात्र होती है। ३३७

अधोद्वार से जब बहती है तब उसे 'अपान' नाम मिलता है। सर्व शरीर व्यापने के कारण वही 'व्यान' बन जाती है। ३३८

अन्न खाने के बाद वह पूरे शरीर में फैलता है और व्यर्थ न होते हुए, सब जोड़ों में स्थिर होता है। ३३९

इसी के कारण वही क्रिया बाद में 'समान' बोली जाती है। ३४०

और जम्हाई, छींक, ढकार, ऐसे-ऐसे जो व्यापार होते हैं उनको नाग, कूर्म, कूकर, ऐसे ही कहा जाता है। ३४१

अर्जुन, ऐसे सर्व व्यापार एक वायु के ही होते हैं, परन्तु उनके बरताव के कारण, नामों का भेद होता है। ३४२

इस वृत्ति-भेद के कारण अलग-अलग लगती हुई जो वायुशक्ति है, वह चौथा कर्म कारण है, ऐसा समझो। ३४३

और ऋतुओं में शरद ऋतु अच्छा। शरद ऋतु में चन्द्र। और चन्द्र में पूर्णमासी का सम्बन्ध। ३४४

वसंत में आराम। आराम में प्रिय व्यक्ति का संगम। और संगम में सुख साधन। ३४५

या अर्जुन, कमल में जैसा विकास अच्छा, और विकास में पराग का आगमन। ३४६

वाणी में कवित्व श्रेष्ठ। कवित्व में रसिकत्व श्रेष्ठ। और रसिकत्व में जैसे परतत्व का स्पर्श। ३४७

इसी तरह से सर्व वृत्ति वैभव में बुद्धि, यह एक ही अच्छी । और बुद्धि में भी नाविन्यपूर्ण अच्छापन, माने, जानकार इन्द्रियें । ३४८

इन्द्रियों के जानतेपन में, सौन्दर्य, यह एक ही निर्मल । क्योंकि वह इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओं का मिलने का ठिकाना है । ३४९

इसीलिये चक्शुरादि दशों इन्द्रियों के पीछे सूर्यादिक देवताओं का समुदाय अनुग्रह के लिये खड़ा रहता है । ३५०

अर्जुन, ये श्रेष्ठ देवगण, यह पाँचवा कर्म कारण । यह तू जान । ऐसा भगवान बोले । ३५१

इसी तरह से तेरी बुद्धि को मान्य हो, ऐसी रीति से इन पाँचों कर्म कारणों की खान तुझे सुनाई । ३५२

फिर यही खान बढ़कर, जो कर्म-सृष्टि उत्पन्न होती है, वह जिस कारण से होती है, वे कर्म के पाँच हेतु, अभी स्पष्ट कर दिखाता हूँ । ३५३

गीता १५

नियमानुसार वसंत आता है । वह वृक्षों को नए-नए पल्लव आने में हेतुरूप होता है । वे पल्लव, पुष्प पुंज दिखाते हैं । और पुष्प पुंज, फल को हेतुरूप होते हैं । ३५४

वर्षाऋतु बादल लाती है, बादल से वर्षा होती है, और उस वर्षा से धान्य-सुख भोगने को मिलता है । ३५५

या पूर्वदिशा अरुणोदय करती है । अरुणोदय से सूर्योदय होता है । और सूर्य के कारण जैसा सब दिन प्रकाशमान हो जाता है । ३५६

उसी तरह से अर्जुन, कर्मसंकल्प-भाव प्रगट होने के लिये मन हेतु होता है । वह संकल्प, वाचा का दीप जलाता है । ३५७

फिर वह वाचा का दिया सर्व कर्मों का मार्ग दिखाता है । उस समय कर्ता कर्तृत्व की इच्छा में फँस जाता है । ३५८

फिर शरीर की जो सेना है वह शारीरिक कर्म का हेतु होती है । जैसे लोहे का कार्य लोहे से ही सम्पन्न होता है । ३५९

तन्त के तानों में आढ़े तन्त डाल दिये कि वे तन्त ही वस्त्र का विचार करते हैं । ३६०

इसी तरह से मन, वाचा, देह, इनके कर्मों को मनादि-इन्द्रियें ही हेतुरूप होती हैं । जैसे रत्न से ही पहलूदार रत्न तैयार होते है । ३६१

यहाँ शरीरादिक जो कारण होते हैं, वे ही हेतु कैसे हो जाते हैं, यह किसी को समझने की इच्छा हो, तो वह लक्ष्य दे । ३६२

सुनो, सूर्य के प्रकाश को जैसा सूर्य ही हेतु होता है, और कारण भी वही होता है । या गन्ने का काण्ड जैसा गन्ने के बढ़ने का हेतु होता है ।३६३

या वाक्-देवताओं की स्तुति करनी हो तो वाचा ही काम पर लगानी पड़ेगी । या वेदों की प्रतिष्ठा वेद-पठन से ही दिखाई जाती है । ३६४

कर्म को शरीरादिक ही कारण है, ऐसा सचमुच मालूम होता ही है । किन्तु ये हेतु भी हैं, यह भूलो मत । ३६५

और देहादि कारणों में देहादि हेतु मिलने पर जो कार्य उठते हैं ३६६

वे, अर्जुन, शास्त्रोमान्य मार्ग से आवरज में आ जाएँ तो वह न्याय-मार्ग न्याय-कर्म का हेतु होता है । ३६७

जैसे वर्षाऋतु के पानी का प्रवाह सहज धान के खेत में समाकर नष्ट हो गया, फिर भी वह बड़ा उपयोगी होता है । ३६८

या, गुस्सा करके घर से निकला हुआ जब गलती से द्वारका के मार्ग पर लग जाए, तो वह थक तो जाएगा किन्तु बढ़े हुए पाँव बेकार नहीं होंगे। ३६९

इसी तरह से हेतु और कारण मिलकर जो कर्म होता है वह अन्धा भी हो, फिर भी अगर शास्त्र की आँखें उसे होंगी तो उसे न्याय-कर्म कहते हैं। ३७०

नहीं तो दूध भरते-भरते वह ऊपर तक भरने के बाद सहज बह जाएगा ही। वहाँ दूध खर्च तो होगा, किन्तु वह खर्च-किया जैसा नहीं होता। ३७१

इसी तरह से शास्त्रों के आधारके बिना किया हुआ कर्म जब निष्फल न होता हो; तो चोरी गया हुआ धन, दान-खाते में जमा करना चाहिये। ३७२

हे अर्जुन, बावन अक्षरों के पार क्या मंत्र है कहो ! और बावन अक्षर न उचारने वाला कोई मनुष्य होगा क्या ? ३७३

किन्तु, अर्जुन, मंत्र का अर्थ जब तक नहीं समझ में आएगा, तब तक वाणी को मंत्रोच्चार का फल नहीं मिलता। ३७४

उसी तरह से कारण और हेतु, इनके योग से जो कुछ कर्म होता है वह जब तक शास्त्राधार से नहीं हुआ, ३७५

उस समय भी कर्म होता ही है, किन्तु वह होना नहीं समझा जाता। वह अन्याय है और वह अन्यायी हेतु है, ऐसा समझो। ३७६

गीता १६

इसी तरह से कर्म के पाँचो कारणों को वे ही पाँच हेतु होते हैं। इसीलिये हे सुकीर्तिमान अर्जुन, अब देखो यहाँ आत्मा कहीं फँसी हुई दिखती है क्या ? ३७७

सूर्य, स्वयं दृश्य-रूपें न होते हुए भी, आँखों और रूपों, दोनों को ही जैसा प्रकाशित करता है। इसी तरह से आत्मा, कर्म न होते हुए, कर्म प्रगटता रहता है। ३७८

हे वीर श्रेष्ठ, उसी प्रकार, देखने वाला, दर्पण व प्रतिबिम्ब दोनों ही न होते हुए भी जैसे दोनों को प्रकाशित करता है। ३७९

या, हे अर्जुन, सूर्य को जैसे दिन-रात होते नहीं, किन्तु वह दिन-रात उत्पन्न करता है। उसी तरह से आत्मा, कर्म का कर्ता न होते हुए, उन्हें प्रकट करता रहता है। ३८०

किन्तु देहाभिमान की भूल से जिसकी बुद्धि देह के ऊपर ही स्थिर हुई हो, और आत्मा के ज्ञान के बारे में जिसको सम्पूर्ण मध्यरात्र ही हो। ३८१

जिसने चैतन्य, ईश्वर, ब्रह्म, इनको देह की मर्यादा में ही बैठाया हुआ हो, उसको, 'आत्मा कर्ता है,' ऐसी भावना दृढ़ हो जाती है। ३८२

'आत्मा कर्ता है' यह विचार भी तत्वतः निश्चित नहीं रहता। 'देह, यही मैं कर्म-कर्ता' ऐसा सचमुच वह मानता है। ३८३

क्योंकि 'मैं आत्मा कर्मातीत हूँ, केवल कर्म को साक्षीभूत होता हूँ' यह अपनी सच्ची महती वह सुनने के लिये भी तैयार नहीं होता। ३८४

इसीलिये अमाप, ऐसी आत्मा को, ऐसे मनुष्य ने देह में ही मर्यादित किया। इसमें क्या आश्चर्य। उल्लू, दिन को ही रात नहीं मानता क्या ? ३८५

जिसको आसमान का सच्चा सूर्य दिखा ही नहीं हो, वह तालाब में सूर्य का प्रतिबिम्ब, सूर्य ही समझकर मानता है कि नहीं। ३८६

तालाब पानी से भर गया कि उसको लगता है 'सूर्य आ गया'। और तालाब सूख गया, कि 'सूर्य गया'। पानी हिला तो, 'सूर्य हिल गया' ऐसा उस को लगता है। ३८७

अरे, सोया हुआ जब तक जागता नहीं, तब तक स्वप्न सच्चा ही मानेगा। डोरी है, यह न समझने के कारण उसे सर्प की भीति रहती है, इसमें क्या आश्चर्य। ३८८

जब तक आँखों में पीलिया है तब तक चन्द्र पीला दिखना ही है। मृग ने ही, मगृजल में फँसना नहीं क्या? ३८९

जो, शास्त्र, गुरु, इन नामों की हवा भी अपने को स्पर्श करने देगा नहीं, और जो केवल मूर्खपन से ही जीवन जीता हो, ३९०

उसकी दृष्टि केवल देहात्मक होने के कारण वह आत्मा को देह के जाल में फँसाता है। जैसे सियार, बादल चलता है तो चन्द्र चलता है, ऐसा मानता है। ३९१

और फिर अर्जुन, ऐसी भ्रमात्मक समझ के कारण देह के कारावास में कर्म की बेड़ियों से जकड़ा जाता है। ३९२

अर्जुन, यह देखो, बेचारा तोता पिंजरे में नली पर पंजे खुले होते हुए भी दृढ़ बन्द भाव से जकड़ता नहीं क्या? ३९३

इसीलिये निर्मल, ऐसे आत्मस्वरूप के ऊपर जो प्रकृति के कार्य लादता है, वह अनन्त काल के माप से कर्म नापता ही रहेगा। ३९४

अब कर्म में होते हुए भी जिसको कर्म स्पर्श नहीं करता। जैसे समुद्र का पानी बड़वानल को। ३९५

ऐसे अलगपन से जो कर्म में रहता है उसको सचमुच कौन पहचानेगा। फिर भी तुझे बताता हूँ। ३९६

जैसे दिया जलाकर देखने पर, अपनी वस्तु दिख जाती है। उसी तरह से जो मुक्त पुरुषों के आदर्श से अपनी मुक्तता कमा लेते हैं, ३९७

या दर्पण स्वच्छ हो तब ही अपने को हम देख सकते हैं। या पानी को मिलकर नमक जैसे पानी हो जाता है। ३९८

यह छोड़ो, जब प्रतिबिम्ब ही पलटकर बिम्ब को देखता है। तब देखना रहता नहीं, स्वयं बिम्ब ही हो जाता है। ३९९

उसी तरह से खोया हुआ अपने को मिलना चाहिये, ऐसा विचार हो, तो संतों को ही देखने से मिलेगा। इसीलिये हमेशा उनके बारे में ही बोले और उनके बारे में ही सुने! ४००

तो कर्म में रहकर, जो अच्छे-बुरे कर्म में लिप्त नही होता। जैसे चर्म चक्षु के चमड़े से दृष्टि मलिन नहीं होती। ४०१

इसी तरह से जो मुक्त हुआ हो उसका रूप अब देखो। उपपत्ति के बाहु उभारकर तुझे कहता हूँ। ४०२

गीता १७

हे प्रबुद्धा, अविद्या की नींद में विश्वस्वप्न का यह समारम्भ, अनादि ऐसा जो आत्मा, भोगता रहता था। ४०३

गुरूपदेश से, गुरूकृपा के सामर्थ्य से, जो मस्तक पर हाथ रखने के कारण, या चपट मारकर उठाया हुआ हो। ४०४

वैसा, जो इस विश्वस्वप्न समेत, माया की निद्रा जाकर, अर्जुन, अद्वयानंदस्वरूप में अच्छी तरह से जागृत हुआ हो। ४०५

उस समय सतत दिखने वाले मृगजल की बाढ़, चन्द्रकिरण फैलने के कारण जैसे नहीं-सी हो जाती है। ४०६

या बचपन जाने के बाद, जैसे डरावा का डर रहता नही। या ईंधन जलने के बाद खाना नहीं पकाया जाता। ४०७

या जाग आने के साथ-साथ दृष्टि को स्वप्न नहीं दिखता। उसी तरह से हे अर्जुन, उसका अहंकार नष्ट होता है। ४०८

फिर सूर्य, अंधेर को ढूंढने के लिये चाहे जिस गुफा में जाए, किन्तु वहॉं अन्धेर होगा ही नहीं। ४०९

इसी तरह से जो आत्मत्व से घिरा हुआ होने के कारण जिस-जिस दृश्य की ओर देखने लग जाएगा, वह दृश्य द्रष्टेपन के कारण उसका ही रूप हो जाता है। ४१०

जैसे, अग्नि जिसको लगती है वह स्वत: अग्नि ही बनने के कारण, जलने वाला व जलाने वाला, यह भेद रहता नहीं। ४११

इसी तरह से सर्व कर्म के अलगपन से आत्मा के ऊपर जो कर्तापन का आरोप आता है, वह जाने के बाद जो कुछ रह जाता है। ४१२

उस आत्मस्थिति का जो राजा होता है, वह 'अपना स्थान देह में हैं', ऐसा समझेगा क्या? क्या प्रलयकाल के पानी को प्रवाह कहना है? ४१३

उसी तरह से उसकी सर्वव्यापी अहंता क्या देह में मर्यादित रहेगी? क्या सूर्य अपने बिम्ब में पकड़ा रह जाएगा? ४१४

छाछ मथकर मक्खन निकालने के बाद जो वह फिर छाछ में डालें तो वह अलग होने के कारण, क्या फिर उसमें मिलेगा? ४१५

नहीं तो हे वीर श्रेष्ठ, काष्ठ-घर्षण से अलग की हुई अग्नि, लकड़ी की पेटी में बन्द कर, रह सकती है क्या ? ४१६

या रात्रि के पेट से निकला हुआ यह सूर्य, रात्र, ऐसी कोई बात सुनेगा क्या ? ४१७

उसी तरह से ज्ञाता समेत सम्पूर्ण ज्ञेय जिसने ग्रास किया हो, उसको 'देह माने मैं,' ऐसा अहम् भाव कैसे रहेगा ? ४१८

और जहाँ जाए वहाँ आकाश ने ही व्याप्त हुए होने के कारण, वह आकाश, स्वयं से ही घिरा हुआ जैसा होता है। ४१९

उसी तरह से वह जो-जो करता है, वह स्वभावतः स्वयं ही है। फिर वह कर्तापन से किस कर्म में लपेटा जाएगा ? ४२०

आकाश नहीं है, ऐसा कोई स्थान नहीं। समुद्र को प्रवाह नहीं। ध्रुव उठकर, कहीं नहीं जाता। ऐसी अवस्था उसकी होती है। ४२१

ऐसी अवस्था में बोध के कारण उसका अहम् भाव सम्पूर्ण नष्ट हुआ होता है। किन्तु जब तक देह का योगक्षेम चलने वाला है, तब तक कर्म करना ही पड़ेगा। ४२२

अरे, हवा बहकर रुक गई, फिर भी वृक्षों का डोलना चलता ही रहता है। या कपूर निकालने के बाद भी डिब्बी में सुगंध रहती है। ४२३

या गाने की सभा समाप्त हुई, फिर भी उसकी धुन्दी नहीं जाती। धरती पर से पानी बह गया, फिर भी गीलापन रह ही जाता है। ४२४

अरे, सूर्य डूबने के बाद संध्याकाल के समय, ज्योति-प्रकाश जैसा कौतुक से दिखता है। ४२५

या लक्ष्य को भेदने के बाद भी बाण के अंग में जब तक जोर भरा हुआ हो तब तक तो वह दौड़ता ही रहता है। ४२६

या चक्र के ऊपर मटका तैयार हो गया, और कुम्हार ने वह निकालकर एक ओर रखा, तब भी पहले ही घुमाने के कारण, चक्र घूमता ही रहता है। ४२७

इसी तरह से हे अर्जुन, देहाभिमान गया। फिर भी जिसके कारण देह प्राप्त हो गई, वह उस देह को नचवाएगा ही। ४२८

सकंल्प के बिना स्वप्न आता है। न लगाते हुए, वन में वृक्ष होते हैं। या रचना न करते हुए कल्पना के मकान बनते रहते हैं। ४२९

इसी तरह से आत्मा के उद्योग के सिवाय देहादि पाँच कारण स्वयं ही क्रियाजात होते हैं। ४३०

वैसे ही, पहले रहे हुए संस्कार, हेतु समेत, उन पाँचो कारणों को अनेक कर्म के रूप से, कार्य पर लगाते हैं। ४३१

फिर उन कर्मों में चाहे तो सब जग का संहार हो, या नया अच्छा उत्पन्न हो। ४३२

किन्तु कमल सूखा क्यों, या कैसा प्रफुल्लित हो गया, यह दोनों ही अवस्था जैसे सूर्य देखता नहीं। ४३३

या मेघ, बिजली वर्षाव करके पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े करे; या परजन्य वृष्टि करके पृथ्वी को समृद्ध करे; ४३४

फिर भी यह दोनों गोष्ठी जैसे आकाश नहीं जानता। उसी तरह से जो इस देह में रहकर विदेह दृष्टि से रहता है। ४३५

तो इस सृष्टि में जो देहादि चेष्ठाएं होती रहती हैं, वे उसे दिखती नहीं। जैसे जागा हुआ, स्वप्न नहीं देखता। ४३६

नहीं तो चर्म-चक्षु के कारण जो उसके देह कार्य दिखते हैं, वह सचमुच उन कार्यों को करता है, ऐसा ही मानते हैं। ४३७

या खेत में जो घास का पुतला रखते हैं, वह समचुम रक्षक है ऐसा सियार मानता है कि नही ? ४३८

पागल आदमी कुछ पहने हुए है या नंगा है, यह लोग चाहें तो आकर देखें। योद्धा को लगे हुए घाव, दूसरे ही गिनें। ४३९

महासति का श्रृंगार सब जग देखता है। किन्तु उसको, अग्नि, अपना देह, और यह लोक, यह कुछ दिखता नही। ४४०

इसी तरह से जो आत्मस्वरूप मे रहता है, उसको दृश्य के साथ द्रष्टा ही नष्ट हुआ होता है। उसको इन्द्रियों के गाँव में क्या चल रहा है, यह मालूम नहीं होता। ४४१

अरे, एक बड़ी लहर में छोटी लहर लोप होने के बाद किनारे के लोगों ने, एक ने दूसरी को खा लिया, ऐसा माना भी हो; ४४२

तब भी पानी की ओर देखो, किसने क्या खाया। यह जैसे नहीं मालूम होता। उसी तरह से उस पूर्ण पुरुष को ऐसा दूसरा कोई है ही नहीं कि जिसको वह मारेगा। ४४३

देखो, स्वर्ण की चण्डिका ने स्वर्ण के त्रिशूल से, स्वर्ण के महिषासुर का नाश किया। ४४४

पुजारी की दृष्टि ने यह सब सच्चा मान लिया हो, फिर भी वहाँ शूल, महिषासुर, चण्डिका, इनमें स्वर्ण के सिवाय कुछ भी नहीं। ४४५

जैसे चित्र का, पानी, अग्नि, यह केवल दृष्टि का आभास है। फलक में आग, पानी, दोनों ही नहीं हैं। ४४६

उसी तरह से मुक्त का देह केवल संस्कारों के कारण हिलता रहता है, उसको देखकर मूर्ख लोग उसे कर्ता कहते हैं। ४४७

और उस कर्तृत्व में भले ही त्रैलोक्य का नाश होता हो, किन्तु वह उसने किया, ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिये। ४४८

ऐसा बोलना माने सूर्य ने अन्धेरा देखा, ऐसा कहने जैसा होगा। फिर अंधार नष्ट हो गया ऐसा कौन कहेगा। जैसे ज्ञानी मनुष्य को दूसरा होता ही नहीं, उसको क्या करें। ४४९

इसीलिये उसकी बुद्धि, पाप, पुण्य, ऐसी गन्दगी जानती नही। नदी, गंगा को मिल गई, कि जैसे अपवित्रपन नहीं रहता। ४५०

अर्जुन, अग्नि को अग्नि लगने के बाद, कौन किसको जलाता है। या शस्त्र अपनेआप को ही मार सकेगा क्या ? ४५१

इसी तरह से जो अपने सिवाय अन्य क्रियाजात जानता ही नहीं, वहाँ कौन-सा कर्म उसकी बुद्धि को चिपकेगा। ४५२

इसीलिये कार्य, कर्ता और क्रिया, यह सब जिसका स्वरूप ही हो गया, उसको शारीरिक कर्मो से बाधा नहीं आती। ४५३

जो जीवात्मा पाँचों खान खोदकर दस इन्द्रियों के उपकरण बनाता है। ४५४

उनसे, न्याय-अन्याय इन दोनों को मेल करके, कर्म-भवन उभारने में उसको हस्त-स्पर्श नही करना पड़ता। ४५५

इन महान कार्यों में सचमुच आत्मा का सम्बन्ध नहीं होता। फिर तुम कहोगे कि उनका आरम्भ करने में वह हाथ लगाता है कि नहीं ? ४५६

वह केवल साक्षीभूत होता हुआ, चित्तस्वरूप परमात्मा, कर्म-प्रवृत्ति का संकल्प करना या न करना यह स्वयं करता है क्या ? ४५७

तो कर्म प्रवृत्ति के लिये उसमें इच्छा नहीं है, क्योंकि प्रवृत्ति के व्यवहार में लोग ही होते हैं। ४५८

इसीलिये जो कोई आत्मा का निर्मल स्वरूप ही हो गया हो, उसको यह कर्म का कारावास नहीं है। ४५९

किन्तु अज्ञान के परदे के ऊपर जो विपरीत ज्ञान का चित्र उठता है, उसकी चित्रणा यह प्रसिद्ध त्रिपुटी करती है। ४६०

गीता १८

ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय, ये त्रिपुटी इस जग का बीज है। और सचमुच कर्म की प्रवृत्ति इनके कारण ही होती है। ४६१

अर्जुन, अब इन अलग-अलग तीन व्यक्तियों का स्वरूप कहता हूँ, सुनो। ४६२

तो, जीवरूपी सूर्य बिम्ब के श्रोत्रादिक पाँच किरण दौड़कर विषय-कमल की कलियों को फूलाते हैं। ४६३

या इन्द्रियों के घुड़-सवार, जीवरूपी नृप के दौड़ने वाले घोड़े लेकर, विषय-देश से लूट लेकर आते हैं। ४६४

यह छोड़दो। इन इन्द्रियों में जिसका निवास है, जो सुख-दुःख के साथ जीव को भेंटता है, वह ज्ञान, सुषुप्ति के समय जहाँ विलीन हो जाता है। ४६५

उस जीव का नाम 'ज्ञाता'। और अर्जुन, अभी जो मैंने कहा वह 'ज्ञान' ऐसा समझो। ४६६

जो हे अर्जुन, इस प्रकृति के पेट से जन्म लेते ही अपने को तीन भाग में बाँटता है। ४६७

बाद में अपनी जितनी दौड़ है, वहाँ ज्ञेय की दीवार खड़ी करके अपने पीछे ज्ञातृत्व को खड़ा करता है। ४६८

फिर वह ज्ञान; ज्ञाता व ज्ञेय, इनके व्यवहार में मध्यस्थ होने के कारण, उन दोनों के चरितार्थ का बोझा उठाता है। ४६९

ज्ञेय की मर्यादा को पहुँचकर जिसकी दौड़ समाप्त हो जाती है। वहाँ के सर्व पदार्थों को वह नाम दे देता है। ४७०

इसको 'सामान्य ज्ञान', ऐसा बोलते हैं। इसमें कोई गलती नहीं। अब ज्ञेय का लक्षण सुनो। ४७१

तो, शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध, यह ज्ञेय का पाँच प्रकार का आभास है। ४७२

जैसे, एक ही आम्रफल, इन्द्रियों को स्वाद, रंग, सुगंध, स्पर्श, ऐसे अलग-अलग प्रकार से भेंटता है। ४७३

उसी तरह से ज्ञेय एक ही, किन्तु ज्ञान उसका स्वीकार इन्द्रियों के संयोग से करने के कारण, वह पाँच प्रकार का होता है। ४७४

समुद्र में नदियों का प्रवाह लुप्त हो जाता है। मुकाम पर पहुँच गए तो दौड़ना रुक जाता है। या फल आने पर, जैसे फसल की बाढ़ रुक जाती है। ४७५

उसी तरह से इन्द्रियों के साथ दौड़ने वाले ज्ञान का मार्ग जहाँ समाप्त हो जाता है, वह, हे अर्जुन, ज्ञेय या विषय होता है। ४७६

इसी तरह से अर्जुन, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय, इन तीनों का स्वरूप तुझे कह दिया। ये तीनों, सर्व क्रिया-प्रवृत्ति को कारणीभूत होते हैं, ऐसा समझो। ४७७

शब्दादि विषय अथवा यह पाँच प्रकार का ज्ञेय जो होता है, यह प्रिय या अप्रिय ऐसे किसी एक प्रकार का होता है। ४७८

ज्ञान, ज्ञाता को ज्ञेय का दर्शन करवाते ही, वह ज्ञाता उसका स्वीकार अथवा त्याग करने मे प्रवृत्त हो जाता है। ४७९

किन्तु मछली देखकर बगले को, धन देखकर निर्धन को, या स्त्री देखकर कामीपुरुष को, जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, ४८०

जैसे, उतार की [illegible] पानी दौड़ता है, फूल की सुगंध की ओर भ्रवर दौड़ता है, या छोडा हु[illegible] छड़ा दूध के लिये गाय की ओर दौड़ता है। ४८१

अरे, स्वर्ग की [illegible] के बारे में सुनकर जैसे मनुष्य आसमान को यज्ञ-याज्ञ की सीढ़ियाँ लगाता है। ४८२

या अर्जुन, आकाश की पीठ पर चढ़ा हुआ कबूतर जैसे कबूतरी को देखते ही अपना शरीर नीचे की ओर फेंकता है। ४८३

इतना ही नहीं तो मेघ गर्जना होते ही मयूर जैसे आकाश की ओर देखकर नाचने लगता है। उसी तरह से ज्ञाता, ज्ञेय देखते ही दौड़ने लगता है। ४८४

इसीलिये ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, यह त्रिकूट यहाँ सर्व कर्मों की प्रवृत्ति हो जाता है। ४८५

किन्तु वह ही ज्ञेय जब ज्ञाता को प्रिय होता है, तब, उसका उपभोग लेने के लिये उसको एक क्षण की और देर सहन नहीं होती। ४८६

नहीं तो कभी वह अप्रिय स्वरूप में आए, तो उसका त्याग करने में भी उसको एक क्षण युगान्तर जैसा मालूम होता है। ४८७

साँप या हार, मनुष्य के सामने आया तो वह भय या हर्ष एकदम उत्पन्न करता है। ४८८

ऐसी ही, प्रिय या अप्रिय देखते ही, ज्ञाता की अवस्था होती है। और वह स्वीकार या त्याग, यह व्यवहार करता है। ४८९

वहाँ सर्व सैन्य का स्वामी अपने प्रतिद्वन्द्वी के संताप से जैसा रथ से उतर कर नीचे खड़ा रहता है। ४९०

उसी तरह से ज्ञाता नाम का जो होता है, वह कर्ता, इस अवस्था को आता है। भोजन इच्छुक जैसे रसोई पकाने लगता है। ४९१

जैसा भ्रवर ही बगीचा लगाले। या अभियंता ही माप-पट्टी बन जाए। या देव ही मंदिर का काम शुरु करे। ४९२

उसी तरह से ज्ञेय की इच्छा लेकर ज्ञाता इन्द्रियों को काम पर लगवाए; तो उस समय, अर्जुन, वह कर्ता हो जाता है। ४९३

और स्वयं कर्ता होने के बाद ज्ञान को ही इन्द्रियों का रूप आ जाता है। और फिर अपनेआप ज्ञेय, यह कार्य हो जाता है। ४९४

इसी तरह से हे अर्जुन, ज्ञान का मूलस्वरूप बदल जाता है। आँखों की रोशनी जैसे रात्र में बदल जाती है। ४९५

या दैव उदास होने के बाद, श्रीमन्त का विलास जैसे बदल जाता है। पूर्णमासी के बाद चन्द्र जैसे बदलने लगता है। ४९६

इसी तरह से इन्द्रियों के साथ खेल खेलते हुए, ज्ञाता कर्म में लपेटा जाता है। उस समय का उसका लक्षण अब सुनो। ४९७

तो बुद्धि, मन, चेतना और चैतन्य, यही अन्तःकरण का चार प्रकार का चिन्ह है। ४९८

बाहर त्वचा, कान, आँखें, जिव्हा और नाक, यह पाँच प्रकार की इन्द्रियाँ हैं। ४९९

तो अन्तःकरणरूपी कर्ता जब कर्म की इच्छा धरता है, तब अगर वह सुखकारी हो, ५००

तो बाहर के चक्षु आदि दशों इन्द्रियों को उठाकर तुरन्त काम पर लगाता है। ५०१

फिर जब तक कर्मफल हाथ में नहीं आता, तब तक उन इन्द्रियों से काम करवाता है। ५०२

नहीं तो उस कर्म से दुःख होगा, ऐसा जो उसको लगे, तो उन दशों को त्यागमार्ग पर छोड़ता है। ५०३

दुःख का कारण समाप्त हो गया, कि फिर दिन-रात काम पर लगाता है। जैसे राजा, निर्धन को। ५०४

इसी तरह से त्याग, अथवा स्वीकार, इनका बोझा जब तक इन्द्रियाँ उठाती हैं, तब तक आत्मा को 'कर्ता', ऐसा कहते हैं। यह ध्यान में रखो।५०५

और कर्म के सर्व कार्य में औजारों समान कष्ट उठाती हैं, इसलिये इन्द्रियों को हम 'करण' कहते हैं। ५०६

और उन करणों के योग से कर्ता जो कार्य उभारता है उनको व्याप्त करने वाला यहाँ 'कर्म', ऐसा समझो। ५०७

सुनार की बुद्धि में जैसे अलंकार व्याप्त होता है। चन्द्रकिरण में जैसे चाँदनी व्याप्त रहती है। या, बेली जैसे विस्तार से व्याप्त होती है। ५०८

या, प्रकाश जैसे तेज से व्याप्त होता है। गन्ने का रस जैसे मिठास से व्याप्त होता है। यह भी छोड़दो, आकाश में जैसे अवकाश व्याप्त होता है। ५०९

इसी तरह से हे अर्जुन, कर्ता की क्रियाओं ने जिसको व्याप्त किया उसे कर्म कहना गलत नहीं। ५१०

इसी तरह से कर्ता, कर्म और करण, इन तीनों के लक्षण हे विचार-शिरोमणि अर्जुन, तुझे बता दिये। ५११

यहाँ ज्ञाता, ज्ञान, व ज्ञेय, यह जैसा कर्म का प्रवृत्ति त्रिकूट है, वैसे ही कर्ता, करण और कार्य, यह कर्म संचय है। ५१२

अग्नि जैसे धुएँ में होती ही है। बीज मे जैसे वृक्ष होता ही है। या काम जैसे मन से सदैव जुड़ा हुआ है। ५१३

इसी तरह से कर्ता, क्रिया व इन्द्रिय, ये कर्म का जीवन हैं। जैसे सोना, यह स्वर्ण की खान है। ५१४

इसीलिये अर्जुन, 'यह कार्य मैं कर रहा हूँ,' ऐसी जहाँ भावना होती है उस समय भी सर्व क्रिया से आत्मा दूर रहती है। ५१५

हे बुद्धिमान, मैं फिर कहता हूँ, आत्मा अलग ही है। ऐसा कितना कहता रहूँ, तू जानता ही है। ५१६

गीता १९

किन्तु ज्ञान, कर्म और कर्ता, ये जो मैंने तुझे कहे, वे तीनों तीन जगह भिन्न-भिन्न गुणों में होते हैं। ५१७

इसीलिये अर्जुन, उनमें से ज्ञान को, कर्ता को, कर्म को, बन्धनकारक जो दोष होते हैं, वे प्राप्त करने नहीं चाहियें। उनमें मुक्ति के लिये एक ही श्रेष्ठ है; ५१८

वह सात्विक, यह समझलो। अब सांख्य शास्त्र में जो स्पष्ट किया है, वह गुणभेद तुझे कहता हूँ, सुनो। ५१९

यह सांख्य शास्त्र, विचारों का क्षीर-सागर है। आत्मज्ञान-कमलिनी का चन्द्र है। ज्ञान की आँखे जिनको हैं, ऐसे शास्त्रों का वह नरेश है।५२०

या पुरुष व प्रकृति, मानो दिवस व रात, ये जो मिले हुए थे उनको अलग करने में इस त्रिभुवन में वह शास्त्र सूर्य है। ५२१

इन त्रिभुवन में अपार, ऐसी जो मोह-राशि है, उसका चौबीस तत्वों के नाप से समाधान करके जो परतत्व की श्रेष्ठावस्था में ले जाता है। ५२२

अर्जुन, वह सांख्य शास्त्र जिनका गुण वर्णन करता है, वह गुण भेद चरित्र ऐसा है। ५२३

इन्होंने अपने अंग के त्रिविधपन के जोर से सर्व दृश्य जगत अंकित किया है। ऐसी यह सत्व, रज व तम, इन तीनों की महिमा है। ५२४

जो त्रिविधता ब्रह्म से लेकर कीटक तक व्याप्त है। ५२५

जिनके कारण विश्व का सारा पसारा इन गुण भेदों में विभाजित हुआ है। उसीमें से ज्ञान के सम्बन्ध में मैं तुझे पहले कहता हूँ। ५२६

जब दृष्टि स्वच्छ हो तब सब कुछ अच्छा लगता है। इसी तरह से शुद्ध ज्ञान से सब ही शुद्ध मिलता है। ५२७

इसीलिये इस सात्विक ज्ञान के सम्बन्ध मे अब कहता हूँ, ध्यानदो। ऐसा मोक्षगुणनिधान श्री कृष्ण बोले। ५२८

गीता २०

तो, हे अर्जुन, वह सात्विक ज्ञान सचमुच निर्मल है, जिसका उदय होते ही ज्ञाता के साथ ज्ञेय नही-सा हो जाता है। ५२९

जैसे सूर्य को अधकार नही दिखता। सागर, नदियों को नही पहचानता। या अपनी छाँव पकड़ नही सकते। ५३०

उसी तरह से जिस ज्ञान को शिव मे लेकर घास के तिनके तक किसी मे भी भिन्नता दिखती नही। ५३१

उसी तरह से, हाथ से चित्र देखते समय जैसा होता है। पानी से नमक धोते समय जैसा होता है। या स्वप्न से जागने के बाद जैसा होता है। ५३२

जिस ज्ञान ने ज्ञेय की ओर दृष्टि की; तो ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय, इनमें से कोई भी नहीं रहता। ५३३

बुद्धिमान लोग, 'स्वर्ण चाहिये,' इसलिये जेवर पिघलवाते नही। या लहरें छानकर पानी नही लेते। ५३४

जिस ज्ञान के हाथ को कोई भी दृश्य वस्तु प्राप्त होती नही, वह ज्ञान पूर्णता से सात्विक, ऐसा जानो। ५३५

सहज भी दर्पण की ओर देखा तो जैसे देखने वाला ही आगे आता है। उसी तरह से ज्ञेय नष्ट होकर, ज्ञाता ही रह जाता है। ५३६

इसी को ही सात्विक ज्ञान कहते हैं, जो मोक्षलक्ष्मी का निवास स्थान है। अब राजस ज्ञान का चिन्ह सुनो। ५३७

गीता २१

हे अर्जुन, वह ज्ञान राजस होता है कि जो भेद की कमर पकड़कर चलता है। ५३८

प्राणीमात्र की विविधता के साथ, अपने भी टुकड़े करके ज्ञाता को भ्रमिष्टपन लाता है। ५३९

जैसे नींद, सत्यरूप को, विस्मृति के द्वार के पीछे रखकर, स्वप्न का पसारा आगे फैलाती है। ५४०

उसी तरह से यह, आत्मज्ञान के क्षेत्र के बाहर, असत्य के मैदान पर, स्वप्न, जागृति व सुषुप्ति, इन तीनों अवस्था का खेल दिखाता है। ५४१

अलंकार के रूप में ढका हुआ होने के कारण बच्चे को स्वर्ण दिखता नहीं। इसी तरह से नाम, रूप, इनके कारण जिसको अद्वैत दूर रहा। ५४२

मटका, घड़ा, इन स्वरूप में होने के कारण जैसे मूर्ख को पृथ्वी की पहचान नहीं होती। या, दीपरूप के कारण, अग्नि नहीं दिखती। ५४३

वस्त्रपन आने के कारण मूर्ख को तागा दिखता नहीं। या अजान को चित्र दीखता है, वस्त्र नहीं। ५४४

इसी तरह से जिस ज्ञान को, सर्व प्राणीमात्र अलग-अलग हैं, ऐसी जानकारी से, ऐक्यबोध की इच्छा नष्ट हुई होती है। ५४५

और फिर, ईंधन से अग्नि अलग दिखे। फूल व सुगंध अलग मालूम हो जाएँ। या पानी हिलने के कारण चन्द्र-प्रतिबिम्ब ठीक न दिखे। ५४६

इसी तरह से अनेक पदार्थ, छोटा-बड़ा व्यक्ति, यह सब अलग-अलग है, ऐसी जिसकी अंतर भावना होती है, वह ज्ञान राजस। ५४७

मातंग का घर टलाने के लिये, जैसे अच्छी तरह से रास्ता समझाना पड़ता है। वैसे अब, तामस का व्यक्तिमत्व कहूंगा। इसे ठीक जानकर रखो। ५४८

गीता २२

तो अर्जुन, जो ज्ञान, विधि का वस्त्र छोड़कर नगा घूमता है। इसीलिये वेदों ने जिसकी ओर पीठ की हुई होती है। ५४९

अन्य मार्गस्थ शास्त्रों ने भी, निंदा का दाग लग जाएगा इसीलिये, म्लेंछ धर्म के पहाड़ पर जिसको छोड़ दिया होता है। ५५०

जिसके गुण-ग्रह तामस हैं ऐसे मनुष्य ने जो यह ज्ञान लिया हो, तो वह पागल होकर भ्रमण करता रहता है। ५५१

जो नाती-गोत्री के सम्बन्ध नहीं मानता। पदार्थों में निषेधात्मक ऐसा कुछ नही मानता। जैसे कोई उजड़े हुए गाँव में खुला छोड़ा हुआ कुत्ता। ५५२

उसके मुँह में समायगा ही नहीं या खाते समय मुँह जल जाए, वह ही केवल छोड़ेगा। और सब खाएगा ही। ५५३

यह देखो, चूहे ने सोना चुरा लिया तो वह अच्छा-बुरा नहीं कहता। माँस भक्षक, काला-गोरा नहीं देखता। ५५४

या अरण्य को लगी हुई आग, जैसे कुछ विचार नहीं करती। या मक्खी, बैठने के लिये जीवित या मृत, यह विचार नही करती। ५५५

कौवे को, उल्टी का, या डाला हुआ अच्छा, या सड़ा हुआ, यह विचार नहीं होता। ५५६

इसी तरह से विषयों के बारे में निषिद्ध जो होगा, वह छोड़ना चाहिये; या आवश्यक का आदर से स्वीकार करना चाहिये; यह वह नहीं जानता। ५५७

जो कुछ आँखों के सामने आकर खड़ा रहेगा, उसको भोग के लिये ही स्वीकार करेगा। और, फिर वह स्त्री अथवा धन, सम्भोग अथवा पेट, इनमें बॉंट लेगा। ५५८

पानी के बारे में पवित्र-अपवित्र, ऐसी भाषा जो नहीं जानता। केवल प्यास मिटाना, इस सुख के अतिरिक्त और कुछ नहीं। ५५९

उसी तरह से खाद्य-अखाद्य, निंद्य-अनिन्द्य, ऐसा न कहते हुए, जो मुँह को [illegible] लगेगा, वही हितकर, ऐसा जिसका बोध होता है। ५६०

उसको, सारे स्त्री जात की पहचान, केवल त्वचेन्द्रियों को होती है। उसके बारे में नाता जोड़ना, केवल इसी दृष्टि से ही। ५६१

या स्वार्थ के लिये जिनका उपयोग हो वह ही नातेदार। दूसरे शरीर सम्बन्ध उस ज्ञान को होने नहीं। ५६२

मृत्यु को सब ही भक्षणीय। आग को सब ही ईधन। इसी तरह से तामस ज्ञान को सब जग, यह अपनी ही सम्पत्ति लगती है। ५६३

इसी तरह से सर्व विश्व, यह केवल एक भोग्य वस्तु ही है, ऐसा जो मानता है। उसको अपना देह-पोषण, यह एक ही फल होता है। ५६४

आसमान से गिरे हुए पानी को समुद्र, यह जैसा एक ही आश्रय। ऐसा, सब कर्म पेट के लिये है, ऐसा जो मानता है। ५६५

नहीं तो, स्वर्ग, नरक, ऐसा कुछ है । उनको, प्रवृत्ति, निवृत्ति, ये कारणीभूत होते हैं । ऐसे ज्ञान की जहाँ पूर्ण रात होती है । ५६६

जो देह के टुकड़े को ही आत्मा कहता है । ईश्वर माने पाषाण मूर्ति, ऐसे विचारों के पार जो बुद्धि को जाने ही देता नहीं । ५६७

इसीलिये देह जाने के बाद किये हुए कर्म समेत आत्मा नष्ट होता है, ऐसा जो होगा, तो फिर भोग के लिये रहेगा, वह किस रूप में ? ५६८

नहीं तो, भगवान ऐसा कोइ है जो भुगवाता है; ऐसा जब कुछ सच हो, तो वह भगवान को ही बेचकर खाएगा । ५६९

गाँवों के देवस्थान गाँव का भविष्य बताते हैं; ऐसा जब सचमुच हो, तो चारों ओर के पहाड चुप क्यों रहते हैं, ऐसा वह कहता है । ५७०

गलती से, देव है, ऐसी उसकी भावना हो जाए, तो वह पत्थर को ही देव मानेगा । और आत्मा तो देह को ही समझेगा । ५७१

और जो पाप-पुण्य आदि है, यह सब झूठा समझकर, अग्नि समान सब मुख से भक्षण करने में ही हित है, ऐसा वह समझता है । ५७२

चर्म चक्षु को जो दिखेगा, जिससे इन्द्रियों को अच्छा लगे, वही सत्य । ऐसा अनुभव जिसको होता है । ५७३

इतना ही नहीं, ऐसी ही प्रथा, हे अर्जुन, जिसमें बढ़ी हुई तुम देखोगे; उसे आकाश की बेकार धुँवा-बेली जैसा समझलो । ५७४

सूखा ना गीला, कैसे भी जिसका उपयोग नहीं होता, ऐसा पोला वृक्ष जैसे बढ़ता है और टूट जाता है । ५७५

या गन्ने की बाली, नपुंसक आदमी, या सावरी का वन जैसे लगाए । ५७६

नहीं तो, बालक का मन, चोर के घर का धन, या बकरे के गले के थन। ५७७

वैसा जो ज्ञान व्यर्थ और बंजर होता है, उसको तामस ज्ञान मैं कहता हूँ। ५७८

जिसको ज्ञान कहने में इतना ही अर्थ समझो, जैसा जन्मान्ध की आँख बड़ी है ऐसा कहना। ५७९

या बहरे के कान अच्छे हैं, ऐसा कहना। अपेय को जैसा पान कहकर सम्बोधित करना। उसी तरह से उस तामस को ज्ञान, यह कुलनाम है, ऐसा समझो। ५८०

यह छोड़दो, कितना बोलूँ। तो ऐसा जो दिखेगा, वह ज्ञान तो है नहीं, केवल जानकार तमो गुण है। ५८१

इसी तरह से हे श्रोता-शिरोमणि अर्जुन, तीनों गुणों मे बँटा हुआ ज्ञान, उनके लक्षणों के साथ तुझे कह दिया। ५८२

अब, इन तीनों प्रकार के ज्ञान प्रकाश से, हे अर्जुन, कर्ता की क्रिया स्पष्ट होती है। ५८३

और कर्म भी इन तीनों भाग का अंगीकार करता है। जैसे पानी, मिलने वाले प्रवाह का अगीकार करता है। ५८४

तो, इन तीनों प्रकार के ज्ञान से जो त्रिविध कर्म होता है। उसमें से जो सात्त्विक है, उसके बारे में पहले सुनो। ५८५

गीता २३

पतिव्रता के सहवास में पति को जैसा समाधान होता है। उसी तरह से अपने अधिकारानुसार, जो प्राप्त हुआ हो, उसमें समाधान मानना। ५८६

श्याम अंग को चन्दन; स्त्री की आँखों में अंजन; यह जैसे शोभने वाला होता है। उसी तरह से अधिकार को जो सदैव शोभा देता है। ५८७

नित्य कर्म, जब नैमित्यिक कर्म से सुशोभित हो ; तो स्वर्ण को जैसे सुगन्ध जोड़ी हुई हो, ऐसा हो जाता है। ५८८

जैसे माता, शरीर व प्राण का धन खर्च करके अपने बच्चे का पालन करती है। किन्तु उसमें, जी ऊब गया, ऐसा कभी होता नही। ५८९

इसी तरह से सर्वपन से कर्म का स्वीकार करेगा, किन्तु फल की ओर दृष्टि नही जाएगी, और सर्व क्रिया ब्रह्म मे अर्पण करेगा। ५९०

सहज कोई प्रिय मिल जाए तो जैसा अपने सामर्थ्य का कम-अधिक विचार नहीं होता। उसी तरह से सत्प्रसग के लिये, अकरणीय भी करना पड़े; ५९१

फिर भी अकरणीय के खेद से, मन में द्वेष नही रखेगा, और सफलता के आनंद से फूलेगा नहीं। ५९२

ऐसी-ऐसी रीति से जो कर्म होता है, उसको हे अर्जुन, 'सात्विक,' यह गुण नाम है, ऐसा जानो। ५९३

इसके बाद राजस का सत्य लक्षण तुझे कहता हूँ। तू ध्यान देने में कमी न कर। ५९४

गीता २४

तो जैसे मूर्ख अपने संसार में अपने माता-पिता से ठीक बोलता भी नहीं, किन्तु बाहर सब विश्व का आदर करता है। ५९५

या तुलसी के पौधे को दूर से भी छीटें डालेगा नही, किन्तु द्राक्ष की जड़ में दूध भी डालेगा। ५९६

उसी तरह से नित्य नैमित्यिक ऐसे जो आवश्यक कर्म होते हैं, उनके लिये उठने के लिये भी तैयार नही होता बैठा ही रहेगा । ५९७

किन्तु और काम्य कर्म के नाम से देह समेत सारा खर्च करके भी, उसे वह अधिक नहीं लगता । ५९८

अरे, डेढ़ गुना व्याज मिलेगा, वहाँ किनना भी दिया, तो समाधान नहीं । या, बीज बोते समय 'अव-बस' ऐसा नही कहेगा । ५९९

या, पारस हाथ मे लगने के बाद लोहे के लिये सर्व सम्पत्ति खर्च करके, अवसरवादी जैसे उत्कर्ष मे आ जाता है । ६००

उसी तरह से आगे मिलने वाले फल की ओर देखकर, अत्यन्त कठिन काम्य कर्म भी वह करता है । और किया हुआ कम ही रह गया, ऐसा मानता है । ६०१

उस फल-कामुक से यथा विधि ठीक तरह से काम्य कर्म जितना किया जायेगा, उतना ही कम-कार्य । ६०२

और वह करने के बाद, ढोल पीटकर कहता फिरेगा 'मैं कर्मी हूँ', इस नामोच्चार के उपहार बाँटता रहेगा । ६०३

उसमें कर्म का अहकार भरा हुआ होता है, और इसके कारण माता, पिता, गुरु, किसी को भी मानता नही । जैसे काल-ज्वर, औषध नही मानता । ६०४

इसी तरह से अहकारी, फल का अभिलाषी मनुष्य, जो-जो कुछ आदर से करेगा, ६०५

वह करना बडे कष्ट से ही होता है । जैसे कोई नट का, जीवन के लिये किया हुआ खेल । ६०६

एक कण के लिये जैसे चूहा सारा पहाड़ खोदेगा, या काई के लिये जैसे मेण्डक समुद्र मंथन के लिये तैयार होगा। ६०७

देखो, भीख माँगकर जितना मिलेगा, इतना ही न मिलते हुए भी, सपेरा सांप को सम्भालता है। क्या करें, किसी को कष्ट ही अच्छे लगते हैं। ६०८

यह रहने दो। एक छोटे से कण के लाभ के लिये जैसे दीमक पाताल पार करके जाती है। उसी तरह मे, स्वर्ग-सुख के लोभ मे जो दिन-रात श्रम करना, ६०९

वह क्लेशपूर्ण काम्य कर्म यहाँ 'राजस,' ऐसा जानना चाहिए। अब तामस का लक्षण मुनो। ६१०

गीता २५

वह कर्म तामस होता है जो निन्दा का काला निवास स्थान है, और जिसने निषिद्ध कर्म का जन्म सार्थक किया। ६११

जो कर्म करने के बाद कुछ किया है, ऐसा दिखता ही नहीं। जैसे पानी के पेट पर खीची हुई रेखा। ६१२

या छाछ का किया हुआ मंथन। या बुझे हुए कोयले को फूँक मारे। या कोल्हू में रेत डालकर कोल्हू चलाए। उसमें से जैसा कुछ प्राप्त नहीं होता। ६१३

या भूसा कूटना। आकाश को छेद करना। या वायु के ऊपर पाश फेंकना। ६१४

यह जैसे सब निष्फल होकर नाश हो जाता है। इसी तरह से जो करने के पश्चात्, सब व्यर्थ हो जाता है। ६१५

देखो, नर-देह जैसी महत्व की वस्तु खर्च कर, जो तामस कर्म, उत्पन्न होने के बाद जग का सुख नष्ट करता है। ६१६

जैसे कमल-तालाब का काँटेदार फाँस निकालने लग जाए तो वह स्वयं टूटता है और कमल का भी नाश करता है। ६१७

या पतंगा जैसे खुद जलता है और दिया बुझाकर जग की दृष्टि नष्ट करके छलता है। ६१८

इसी तरह से अपना सर्वस्व बेकार जाने दो, देह को जितने चाहे कष्ट हों, किन्तु जिससे दूसरे की हानि होगी। ६१९

जैसे मक्खी अपने को निगलवा कर, दूसरे को उल्टी के कष्ट देती है। जो आचरण इन बुराइयों का स्मरण करवाता है। ६२०

ऐसे दोश-कर्म करने के लिये, अपने में शक्ति है या नही इसका विचार न करते हुए, करता है। ६२१

अपना सामर्थ्य कितना है। करते समय क्या प्रसंग आने वाला है। करने के बाद उसका क्या महत्व रहेगा। ६२२

इन विचारों की समझ, अविवेक के पाँव से मिटाकर, वह कर्म करने के लिये तैयार होता है। ६२३

अपना विश्रांति स्थान जलाकर जैसे अग्नि भडकती है। या अपनी मर्यादा छोड़कर समुद्र जैसे बढ़ता है। ६२४

उसी तरह से छोटा-बड़ा न सोचते हुए; आगे-पीछे न देखते हुए; सब मार्ग-अमार्ग एक-सा करता, वह चलता रहता है। ६२५

उसी तरह से कृत्याकृत्य सब करते हुए अपना और दूसरे का यह भाव न रखते हुए जो कर्म हो जाता है, वह निश्चित तामस है, ऐसा समझो। ६२६

हे अर्जुन, ऐसे त्रिगुणों से भिन्न होने वाले कर्मों की विवंचना, उनके लक्षणो सहित मैंने की। ६२७

अब इन कर्मों की भक्ति करने वाला कर्माभिमानी कर्ता, जो जीव, उसको भी त्रिविधता प्राप्त होती है। ६२८

चार आश्रमों के कारण एक ही पुरुष जैसे चार प्रकार का दिखता है। उसी तरह से कर्ता को कर्म-भेद से त्रिविधता आती है। ६२९

किन्तु अब इन तीनों में जो सात्त्विक है वह इस समय कहता हूँ, चित्त देकर सुनो। ६३०

गीता २६

जिनको फल का उद्देश्य नही, ऐसे चन्दन या बावन वृक्ष की शाखाएं जैसे सीधी-सी बढ़ती है। ६३१

या फल न लगते ही जिनका जीवन सार्थक होता है ऐसी, जैसी नागवेली होती है। उसी तरह से जो अपने नित्यादिक कर्म करता रहता है। ६३२

अर्जुन, फल न होना, यह उनको व्यर्थपन नहीं होता। तू ही बता, फल को ही फल कैसे होंगे। ६३३

वह आदरपूर्वक बहुत कुछ करता है किन्तु "मैं कर्ता" यह अहंकार नहीं उठता। जैसे वर्षा ऋतु का मेघ समुदाय। ६३४

और परमात्मस्वरूप को अर्पणीय, ऐसे कर्म-कार्य उत्पन्न हो जाएँ इसीलिये। ६३५

योग्य काल का उल्लंघन न करना; शुद्ध स्थल का विचार करना; या शास्त्रमार्ग ढूँढना; ऐसा उसके कार्य का प्रकार होता है। ६३६

वृति एकाग्र करना; फल की ओर अन्तःकरण को जाने न देना; नियमों की बेड़ियाँ डालकर रहना; ६३७

ऐसा निरोध सहन कर सके इसलिये सर्वोत्तम धैर्य की चिन्ता जो अपने में सदैव जागृत रखता है। ६३८

और अन्तरात्मा की इच्छानुसार प्राप्त कर्म करते हुए, देह-सुख का विचार आने नहीं देता। ६३९

इसी कारण जब उसकी निद्रा नष्ट होती है; भूख सताती नहीं; सुख वृति शरीर में आती नहीं; ६४०

ऐसे समय, अधिक उत्साह का तेज उसको आता है। जैसे सोने का वजन घटते हुए, कस बढ़ता जाता है। ६४१

चाहत जो सच्ची हो, तो सामने जीवन भी तुच्छ लगता है। अपने को अग्नि में डालते समय, सती के बदन पर क्या भय के रोमांच दिखेंगे ? ६४२

आत्मा जैसी प्रिय वस्तु पर, जिसका लोभ जड़ा हुआ हो। वह हे अर्जुन, देह छोड़ते समय क्या दुःखी होगा ? ६४३

इसीलिए जैसे-जैसे विषय-सुख कम हो जाएगा, वैसे-वैसे देह-बुद्धि घटने लगेगी, और उसका कर्म का आनंद बढ़ता जाएगा। ६४४

ऐसे कर्म करते हुए, किसी समय, कर्म बन्द होने का प्रसंग आ जाए, ६४५

तो, जैसे कोई गाड़ी कड़-कड़कर टूट गई, तो वह अपने को संकटप्रद नहीं मानती। उसी तरह से कर्म रूठने के बाद भी उसे कुछ कमीपन नहीं लगता। ६४६

या किया हुआ कर्म निर्विध्न, अच्छी तरह से, समाप्त हो जाए। तो वह उस सिद्धि को प्रकट करता नहीं। ६४७

हे अर्जुन, ऐसे लक्षणों से कर्म करते हुए जो दिखता है, उसे तात्त्विक दृष्टि से सात्विक कर्ता कहते हैं। ६४८

अब राजस कर्ता को पहचानना हे अर्जुन, यह ऐसा होता है कि जो जग की सर्व कामनाओं को विश्राँती स्थान होता है। ६४९

गीता २७

जैसे गाँव के कूड़े को इकट्ठा होने के लिये कूड़ाघर होता है। या सर्व अमंगल के लिए श्मशान होता है। ६५०

उसी तरह से जो सर्व विश्व की इच्छाओं को पाँव धोने की मोरी हुआ होता है। ६५१

इसीलिये जिस कर्म में फल-प्राप्ति स्पष्ट दिखने में आएगी, उस कर्म में वह बड़े आदर से जुटा हुआ होता है। ६५२

और अपने को मिला हुआ सब जोड़कर रखता है। एक कौड़ी भी बाहर जाने देता नहीं। और उसके ऊपर से अपना जीव सतत उतारकर फेंकता है। ६५३

कंजूस अपने धन के बारे में अन्तःकरण में जैसी दक्षता संभालता है। ऐसी दक्षता, राजस की, दूसरे के धन पर होती है। बगले का ध्यान जैसे मछली पर होता है। ६५४

बेर का पेड़, पास जाने के बाद, आकर्षित करता है। बेर के लिये झगड़ें, तो अंग फाड़ता है। और फल खाने के बाद, खट्टेपन से जिव्हा जलाता है। ६५५

उसी तरह से मन से, वाचा से, काया से, जो दूसरे को दुःख देता रहता है। अपने स्वार्थ के लिये, दूसरों का हित देखता नहीं। ६५६

कर्म आचरण करने की क्षमता उसमें नहीं होती, फिर भी मन में निरिच्छता उत्पन्न नही होती। ६५७

धतूरे के फल को जैसे अन्दर से नशा, और बाहर से खुरदरापन होता है। उसी तरह से शुद्धता में वह अन्तर-बाहर दुबला और अप्रिय होता है। ६५८

और अर्जुन, अनेक कर्म करने के बाद जो उसको फल प्राप्ति हो जाए, तो हर्ष से, जग की हसी उड़ाता है। ६५९

या जो कर्म आरम्भ किया, किन्तु करने के बाद फलहीन हो गया, तो उस दुःख से वह साध्य कर्म का ही अनादर करने लगता है। ६६०

कर्म में ऐसा व्यवहार जिसका होता हुआ दिखेगा, वह सचमुच राजस कर्ता है, ऐसा समझलो। ६६१

अब इसके बाद में एक अलग, जो कुकर्म का जंगल होता है, वह तामस कर्ता भी तुझे दिखाता हूँ। ६६२

गीता २८

तो अपने स्पर्श से दूसरा जलने लगता है, यह जैसे अग्नि नहीं जानती। ६६३

या शस्त्र अपनी धार से, दूसरा कैसे मारा जाता है, यह नहीं जानता। या कालकूट जैसे अपना कर्तृत्व नहीं जानता। ६६४

उसी तरह से अर्जुन, दूसरे का और अपना भी घात करते हुए जो बुरे कर्म का स्वीकार करता है। ६६५

और वह कर्म करते हुए, उनका क्या परिणाम हो रहा है, इसका विचार नहीं करता। आँधी से बहने वाली हवा जैसे नाचती रहती है। ६६६

और अर्जुन, अपने कार्य के साथ भी जिसका मेल नहीं होता। उसे देखकर, पागल को भी क्या अस्तित्व। ६६७

और इन्द्रियों के सामने फेंका हुआ खाकर, जो अपना जी संभालता है। जैसे कोई बैल को लगा हुआ गोचीड़। ६६८

क्षण में हँसना और क्षण में रोना, ऐसे जैसे बचपना होता है. उसी तरह से जिसके व्यवहार उल्टे-सीधे होते हैं। ६६९

जो प्रकृति के अंकित होने के कारण योग्य-अयोग्य कर्म का चाव नहीं जानता, और करने के बाद आनंद से फूलता है, जैसे कूड़ाघर। ६७०

मान्यता के लिये वह अपने को ईश्वर से भी कम नहीं मानेगा, और निष्क्रियता में पहाड़ भी कुछ नहीं। ६७१

मन कपटी, और रहना चोर जैसा। और दृष्टि तो सचमुच भुलाने वाली वेश्या की। ६७२

इतना ही नहीं, उसकी देह ही कपट से बनी हुई होती है। उसका जीवन, माने एक जुआखोरों का अड्डा। ६७३

उसका संचारक्षेत्र माने अभिलाषी भीलों का गाँव। इसीलिये उस रास्ते से आना-जाना भी नहीं चाहिए। ६७४

कभी भी दूसरे का अच्छा करने का प्रसंग आ जाए, तब जैसे कोई शत्रु आ गया, ऐसा उसको लगता है। जैसे दूध में नमक मिलने के बाद वह पीने योग्य नहीं होता। ६७५

या, ठंडा पानी जैसा पदार्थ, अग्नि में डाला तो अग्नि जैसे थड़थड़ने लगती है। ६७६

या अच्छे-अच्छे पदार्थ पेट में गए, फिर भी अर्जुन, उनका रूपांतर जैसे मल में ही होता है। ६७७

उसी तरह से दूसरे का अच्छा भी जब इसे करना पड़ता है, तो वह बुरा होकर ही बाहर आता है। ६७८

वह तामसी अच्छे को स्वीकार करता है और बुरा देता है। अमृत का विष करता है। देखो, दूध पिलाने के बाद सांप कैसे करता है। ६७९

जिससे अहिक जीवन अच्छा होगा, और परलोक में भी अच्छी गति प्राप्त हो जाए, ऐसा उचित कर्म करने का कभी प्रसंग आ गया; ६८०

तो उस समय उसको निद्रा, जैसे तैयार ही रहती है। किन्तु बुरे व्यवहार के समय उस नींद को अछूत करके फेंक देता है। ६८१

अंगूर-रस, आम-रस, ऐसे जब हों, तब उसका मुँह जैसे कौवे के समान सड़ा हुआ होता है। या उल्लू की आँखें दिन में जैसी फूटी हुई होती हैं। ६८२

इसी तरह से कल्याण होने का समय हो तब उसे आलस खा लेता है। और बुराई के समय में चह जो चाहे वैसा हो जाता है। ६८३

सागर के पेट में जैसे बड़वानल अखण्ड जलती रहती है, उसी तरह से वह अपने जी में द्वेष संभालकर रखता है। ६८४

कण्डा जलने के बाद जैसे धुआँ होना ही है। या अपान वायु में दुर्गन्ध जैसे होती है। वैसा वह जीवनभर दु:ख से पीड़ित होता है। ६८५

और हे वीर अर्जुन, कल्पांत के बाद भी वह कुछ अलग व्यापार करने की प्रबल इच्छा रखता है। ६८६

इस जग के पार की भी अभिलाषा उसके अन्त:करण में होती है; किन्तु उसका तिनका भी उसको प्राप्त नहीं होता। ६८७

ऐसा जो इस जग में मूर्तिमंत पापपुँज तुम देखोगे, वह निश्चित ही तामस कर्ता है, ऐसा समझो। ६८८

इसी तरह से कर्म, कर्ता, ज्ञान, इन तीनों के त्रिविध लक्षण हे सज्जन सम्राट, तुझे बता दिये। ६८९

गीता २९

अब प्रकृति के गॉव में मोह की मादकता पहनकर, संशय के सब अलंकार डालकर जो रहती है, ६९०

आत्मा-सम्बन्धी निश्चित विचारों की शोभा जिस दर्पण में पूर्ण दिखती है, उस बुद्धि की दौड़ भी तीन प्रकार की होती है। ६९१

अरे, इस जग में सत्वादी इन तीनों गुणों से तीन जगह क्या-क्या नहीं बाँटा, बताओ। ६९२

पेट में आग न हो, ऐसी जग में कौन सी लकड़ी ? उसी तरह से सर्व दृश्यमान जग में तीन जगह नहीं विभाजन हुई, ऐसी कौन सी वस्तु ? ६९३

इसीलिए इन तीनों गुणों ने बुद्धि को त्रिगुण बना दिया और धृति की भी वही अवस्था कर ली। ६९४

वही एक-एक अलग करके, वे जिन लक्षणों से अलंकृत हैं, तुझे विभाजन कर, स्पष्ट बता देता हूँ। ६९५

किन्तु बुद्धि व धृति, इन दोनों में से पहले बुद्धि के गुण-भेद का स्वरूप बताता हूँ। ६९६

अर्जुन, इस संसार में प्राणीमात्र के सामने, उत्तम, मध्यम व निकृष्ट ऐसे तीन मार्ग होते हैं। ६९७

इनमें कर्म न करना, काम्य कर्म व निषिद्ध कर्म, ये तीनों मार्ग 'संसार-भय ऐसे प्रसिद्ध हैं, और बंधनकारक हैं। ६९८

गीता ३०

इसीलिये अधिकार मान्य, और विधि के योग से प्राप्त हुआ जो नित्यकर्म होता है, वह एक ही उत्तम। ६९९

वह कर्म, आत्म प्राप्ति, इस फल की ओर ध्यान देकर ही करना चाहिये। जैसे प्यास लगने पर पानी का ही सेवन करें। ७००

ऐसा करने से वह कर्म, अनिष्ठ, ऐसे जन्म-भय को नहीं-सा करके, मोक्ष-सिद्धि का मार्ग सुलभ करता है। ७०१

ऐसा कर्म करने वाला, वह सत्पुरुष, संसार का भय नष्ट होकर, अपने कर्तृत्व से, मुमुक्षु, इस अवस्था में आता है। ७०२

इस अवस्था में वह बुद्धि ऐसा दृढ़ भाव रखेगी, कि जिससे मोक्ष निश्चित प्राप्त हो जाए। ७०३

ऐसी कर्मप्रवृत्ति के तले में, निवृत्ति ही बैठी हुई होती है। इसीलिये ऐसे कर्म में हमें स्नान करना चाहिये कि नहीं, बताओ। ७०४

प्यासा पानी से जीवित रहता है । बाढ़ में फँसने वाले को नाव का ही आश्रय होता है । और अंधेरे कुँए में जो जाता है, उसे सूर्य किरण का ही आधार आवश्यक होता है । ७०५

या पथ्य के साथ औषध ले लिया, तो रोग से व्याप्त होते हुए भी जीवित रह सकता है । या मछली को जब पानी का प्रेम होगा, ७०६

तो, उसके जीव को जीवित रहना, इससे दूसरी अवस्था नहीं । उसी तरह से, ऐसे कर्म करते रहने में मोक्ष ही मिल जाता है । ७०७

जो बुद्धि, करणीय उत्तम; व अकरणीय, झूठ; ऐसा मानती है । ७०८

और जो संसार-भयदायक काम्य कर्म हैं, उनमें अकृत्यपन का दोष लगा होता है, ७०९

जीवन-भर उन अकार्य कर्मों में जो प्रवृत्ति होती है, उसको जो बुद्धि पीछे हटाती है । ७१०

किन्तु आग में जा नहीं सकते । महापुर में कूद नहीं सकते । या तप्त शूल को हाथ लगा नहीं सकते । ७११

या फुंकार करने वाले काल-नाग को हाथ लगाते नहीं । या शेर की गुफा में जाते नहीं । ७१२

ऐसा अकार्य कर्म देखकर जिस बुद्धि को निःसंदेह महा भय उत्पन्न होता है । ७१३

विष मिला हुआ जो परोसा हो, तो वहाँ मरण टलेगा नहीं, ऐसा निश्चित समझो । उसी तरह से निषिद्ध कर्म में जिसे बन्धन दिखता है । ७१४

फिर बन्धन और भय, इनसे भरा हुआ निषिद्ध कर्म प्राप्त हो गया ; तो उस कर्म से निवृत्त होना जो बुद्धि जानती है । ७१५

जैसे पारखी सच्चे-बुरे की परीक्षा करता है। उसी तरह से प्रवृत्ति-निवृत्ति के माप से कार्य-अकार्य विचार जो बुद्धि रखती है। ७१६

और कृत्याकृत्य कर्म का शुद्धीकरण जो बुद्धि जानती है। वह सदैव ही सात्विक बुद्धि होती है, ऐसा जानो। ७१७

गीता ३१

बगलों के गाँव में जैसे दूध और पानी मिला हुआ लेना पड़ता है। यह दिन-रात का चक्र जैसे अन्धा जानता नहीं। ७१८

जिसको फूलों का मकरंद मिलता है, वह भँवर, लकड़ी में छेद करने के लिये दौड़ता है, किन्तु भँवर की दृष्टि से वह गलत नहीं। ७१९

कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म, ऐसे जो कर्मरूप होते हैं, इन पर ध्यान न धरते हुए जो बुद्धि निकल जाती है। ७२०

हे अर्जुन, परख के बिना मोती खरीद लिये, तो क्वचितही अच्छे मिलेंगे। अच्छा मिलना नहीं है, यह निश्चित है। ७२१

उसी तरह से जो अकार्य होता है, वह सामने न आया तो ही वह टल जाएगा; नहीं तो जो बुद्धि दोनों को एकत्व से स्वीकार करती है। ७२२

वह बुद्धि यहाँ स्पष्टत: राजसी होती है, ऐसा समझो। विवाह में वधू-वर को न देखते हुए केवल अक्षत लोगों के ऊपर फेंके, ऐसा यह होता है। ७२३

गीता ३२

और राजा जिस रास्ते से आता है वह रास्ता जैसे चोरों को अड़चन का होता है। या राक्षसों का दिन जैसे रात को उदित होता है। ७२४

या दैवहीन मनुष्य को जमीन में दबा हुआ धन, कोयला खोदे, ऐसा हो जाता है । या पास होते हुए भी वह जीवन-उपयोगी नहीं होता । ७२५

उसी तरह से धर्म, ऐसा जो होता है, वह सब जिस बुद्धि को पातक मालूम होता है । सच्चा जो होता है, वह झूठा लगता है । ७२६

जो सर्व अर्थ का अनर्थ कर लेती है । जो-जो अच्छे गुण होते हैं, वे, जो दोष ही मानती है । ७२७

इतना ही नहीं । वेदों के अनुसार जो-जो किया जाएगा वह सब जो बुद्धि उल्टेपन से जानती है । ७२८

वह किसी को न पूछते, तामसी बुद्धि; ऐसा समझना चाहिए । अर्जुन, रात क्या धर्म कार्य के लिये अच्छी माननी चाहिये ? ७२९

इसी तरह से हे आत्मबोध-कमल-चन्द्र अर्जुन, तीनों बुद्धि के प्रकार तुझे स्पष्ट करके बताए । ७३०

अब इन बुद्धि के योग से जो कर्मजात में अटका हुआ होता है, उसको जो विविध धैर्य का आधार मिलता है; ७३१

उस धृति के भी तीनों विभाग यथास्वरूप कहे जाएंगे, ध्यान दो । ७३२

गीता ३३

तो सूर्योदय के बाद चौर्य कर्म के साथ अंधार नष्ट होना है । या जैसे राजाज्ञा सब अव्यवहार रोक देती है । ७३३

या हवा जोर से चले, कि मेघ अपने साथ अपनी गर्जना भी समाप्त कर लेते हैं । ७३४

या अगस्त्य ऋषि के दर्शन से, सागर जैसे मौन पकड़कर रहता है । या चन्द्र उदय होते ही कमलवन बन्द हो जाते हैं । ७३५

यह रहने दो । सिंह गर्जना करता सामने आ गया, तो हाथी उठे हुए पाँव नीचे नहीं रखता । ७३६

उसी तरह से अन्तः करण में, जिस धैर्य के उठने के बाद, मन आदि सर्व इन्द्रियाँ अपने व्यव्हार तुरन्त बन्द कर लेती हैं । ७३७

अर्जुन ! इन्द्रिय और विषय, इनका संयोग अपने आप छूट जाता है और दशेन्द्रियाँ अपनी मन-माता की गोद में छुप जाती हैं । ७३८

जो धृति अध-ऊर्ध्व, यह संबंध छोड़कर, नौ प्राणों की एक जोड़ी कर, मध्यमा में कूदती है । ७३९

संकल्प-विकल्प का वस्त्र छोड़कर, नंगा हुआ मन जिस बुद्धि के पीछे चुप ठ जाता है । ७४०

इसी तरह से जिस धैर्य-राज ने मन, प्राण, इन्द्रिय, इनकी सब भाषा बन्द की हुई हो । ७४१

और फिर योग सामर्थ्य से उन सबको स्वतंत्र रीति से ध्यान की कोठरी में बन्द किया हुआ हो । ७४२

किन्तु चक्रवर्ती परमात्मा के हाथ में जब तक वह नहीं पहुँचती, तब तक उनकी बात न सुनते हुए, जो धृति उन्हें रोक लेती है । ७४३

वह धृति यहाँ सात्विक, यह निश्चित समझलो । ऐसा, श्री कृष्ण, अर्जुन को बोले । ७४४

गीता ३४

और जो जीवात्मा शरीर धारण करके धर्म, अर्थ, काम, ऐसे उपाय से स्वर्ग और संसार, ऐसे दोनों घरों में सुख से रहता है । ७४५

वह मनोरथ के सागर में उपायों की नाव में बैठकर, जिस धैर्य के जोर पर, क्रिया-व्यापार करता है । ७४६

और उस व्यापार में जो कर्म का मूलधन फँसाता है, उसमें से चौगुना वापस आ रहा है, यह देखकर, जिस धैर्य के कारण कष्ट सहन कर सकता है । ७४७

वह धैर्य राजस होता है । हे अर्जुन, ऐसा मैं तुझे इस समय बताता हूँ । और अब तीसरे, तामस धैर्य के बारे में कहता हूँ, सुनो । ७४८

गीता ३५

जैसे कोयला कालेपन से ही बनाया जाता है । इसी तरह से सर्व अधम गुणों से ही जो रूप में आती है । ७४९

अरे, सामान्य और हीन, इनको भी गुणत्व का मान कैसा । तो राक्षसों को पुण्यजन कहते हैं कि नहीं ? ७५०

या ग्रहों में जो अग्नि जैसा होता है, उसे मंगल कहते हैं । उसी तरह से तम को, गुण, यह शब्द, गलत समझो । ७५१

अर्जुन, सर्व दोषों का निवास स्थान, जो तम, उसको कार्य पर लगाकर जिस पुरुष का शरीर खड़ा हो गया । ७५२

वह आलस्य को अपने बगल में रखकर रहता है, इसीलिये कहीं भी नींद को छोड़ता नहीं । पापों का पोषण करने के बाद, दुःख जैसे हटते नहीं । ७५३

और देह-सम्पत्ति से प्रेम होने के कारण उसको डर कभी भी छोड़ता नहीं। पत्थर को कठिनपन जैसे छोड़ नहीं सकता। ७५४

कृतघ्न मनुष्य को जैसे पाप छोड़कर नहीं जा सकता, वैसे, सर्व पदार्थों के ऊपर प्रेम जड़ा हुआ होने के कारण शोक ने उसको अपना स्थान किया हुआ होता है। ७५५

और अन्तःकरण में सदैव असमाधान पकड़के रखने के कारण, विषाद ने उसके साथ दोस्ती घड़ीं हुई होती है। ७५६

फिर उग्र बू जैसे लहसुन को नही छोड़ती, या परहेज न रखने वाले को, जैसे रोग नही छोड़ता। उसी तरह से मरण तक उसको विषाद छोड़ता नहीं। ७५७

तारुण्य, सम्पत्ति और काम, इनका संभ्रम बढ़ने के कारण, मद भी उसी आश्रम में आता है। ७५८

अग्नि को ताप छोड़ता नहीं। सच्चा सर्प जैसे वैर्य नहीं छोड़ता। या भय जैसे जग का सदैव का वैरी होता है। ७५९

और, जैसे काल शरीर को नही भूलता। उसी तरह से तामसी मनुष्य से मद हटता नही। ७६०

इसी तरह से यह निद्रा आदि पाँचों ही दोष तामसी मनुष्य में जिस धृति ने रोककर रखें हों। ७६१

उस धृति को यहाँ तामसी नाम से जानना चाहिये, ऐसा इस विश्व के भगवान ने कहा। ७६२

संक्षिप्त में, त्रिविध, ऐसी जो बुद्धि है, वह यहाँ प्रथम कर्म-निश्चय करती है। और फिर, धृति उसे सिद्धि पर पहुँचाती है। ७६३

सूर्य के कारण मार्ग दिखने लगता है । उस मार्ग पर सचमुच पाँव ही चलते हैं । परन्तु चलन जो होता है, वह धैर्य की वजह से ही होता है । ७६४

उसी तरह से बुद्धि, कर्म को दिखाती है । कर्म इन्द्रियों का साधन तैयार करते हैं । किन्तु कर्म करने में जो धीरता आवश्यक होती है; ७६५

वह यह त्रिविध प्रकार की धृति तुझे कह दी । इन्हीं के कारण तीन प्रकार के कर्म सम्पन्न होने के बाद; ७६६

वहाँ जो एक फल उत्पन्न होता है, जिसे 'सुख' ऐसा कहते हैं । वह भी उन कर्मों के कारण तीन प्रकार का होता है, यह समझलो । ७६७

यह देखो, जो फलरूप सुख त्रिगुण में बाँटा गया, उसमें से अच्छे का विचार अब अच्छे शब्दों में करूँगा । ७६८

किन्तु वह अच्छा कैसे रहेगा बताओ ? क्योंकि वह सुनते समय कान के हाथ का मल लगना सम्भव है । ७६९

इसी कारण जिन शब्दों का अवहेल होने के बाद, अवधान भी बाहर निकल जाएगा । इसीलिए हे अर्जुन, अन्तर्मुख होकर जीव के जीव से ही सुनो । ७७०

ऐसा कहकर भगवान ने त्रिविध सुख का प्रस्ताव रख दिया । वह प्रकार अब निरूपण करता हूँ । ७७१

गीता ३६

हे बुद्धिमान अर्जुन, सुख के तीन प्रकार कहने की जो मैंने प्रतिज्ञा की, वह अब सुनो । ७७२

तो, अर्जुन, सुख वही जो परमात्मा की भेंट से जीव को होता है । यह तुझे समझ में आएगा, ऐसे बताता हूँ । ७७३

दिव्य औषध, जैसे केवल मात्रा के माप से ही लेना होता है। या रस की पड़तें चढ़ाने के बाद ही जस्त की चांदी की जाती है। ७७४

नमक को पानी करने के लिये दो चार बार पानी के छिटकारे देकर उसका आकार समाप्त करना होता है। ७७५

उसी तरह से जो सुख होने के बाद, अभ्यास से आत्म-दर्शन होने लगता है। और जीवपन का दुःख नष्ट हो जाता है। ७७६

वह आत्म सुख यहाँ त्रिगुणात्मक कैसा है, इसका रूप बताता हूँ, सुनो। ७७७

गीता ३७

तो, चन्दन का तना साँप के कारण जैसे दुर्लभ लगता है। या गुप्त धन के मुँह तक जैसे पिशाच के कारण पहुँचना कठिन होता है। ७७८

अरे, स्वर्गसुख के लिये यज्ञयाग के कष्ट बीच में आते हैं। या कष्ट के दिन में बचपन त्रास देने वाला होता है। ७७९

यह रहनेदो। आरम्भ का धुआँ, दिया जलाने के लिये कष्टदायक होता है। या औषधि लेने के लिये, जिव्हा की अड़चन होती है। ७८०

इसी तरह से हे पाण्डुपुत्र, जिस सुख प्राप्ति के लिये यमदम समुदाय बड़े कष्टमय होते हैं। ७८१

सर्व प्रिय वस्तु को अलग करके, स्वर्ग संसार का घेरा तोड़कर, अंग में ऐसा वैराग्य आ जाता है; ७८२

कि जहाँ विवेक विचार के अपार कष्ट के कारण, और कष्टप्रद व्रत का आचरण करने पड़ने के कारण, बुद्धि आदि इन्द्रियों की खाल उतारनी पड़ती है। ७८३

सुषुम्ना के मुख से प्राण-अपान वायु का भीषण प्रवाह निगलवाना पड़ता है । केवल आरम्भ में ही इतने भारी कष्ट जहाँ होते हैं; ७८४

कि जो सारस पक्षियों के अलग होने में । बछड़े को थन से हटाने में । इतना ही नहीं, तो परोसी हुई थाली से किसी भिखारी को उठना पड़ेतो ।७८५

या इकलौता बच्चा माता के सामने से काल ले गया तो । या मछली को पानी से बाहर निकलने के बाद । ७८६

और इन्द्रियों को विषयों का घर छोड़ना पड़े तो । ऐसे सर्व प्रसंग मे जैसे अपार दुःख होता है, वैसा उस वीर वैरागी को सहन करना पड़ता है । ७८७

इसी तरह से जिस सुख का आरम्भ कठिनता के कष्ट दिखाता है, किन्तु बाद में क्षीर सागर में जैसे अमृत लाभ हो जाता है ऐसा होता है । ७८८

पहले वैराग्य-विष को, धैर्य-शँकर अपने कंठ में अटकाकर रखेंगे, तभी ज्ञानामृत की उत्पत्ति जहाँ दिखाई देगी । ७८९

पहले द्राक्ष का हरापन ऐसा तीक्ष्ण होता है कि अग्नि को भी संताप आ जाए, किन्तु पकने के बाद वह जैसे मधुर होता है । ७९०

उसी तरह से यह वैराग्य आदि गोष्ठी, जब आत्म ज्ञान से पक जाती है, तब वैराग्य सहित सब अविद्या-जात समाप्त होती है । ७९१

उस समय सागर मिलन में जैसी गंगा होती है, वैसी आत्मा और बुद्धि के मिलन में अपने आप आत्मानंद की खान खुल जाती है । ७९२

इसी तरह से जिस सुख का, वैराग्य, यह मूल है । और जिसकी परिणति आत्मानुभव में विश्राम मिलने में होती है । वह सुख, सात्विक, इस नाम से बोला जाता है । ७९३

गीता ३८

हे धनंजय, विषय और इन्द्रिय, इनका संयोग होने के बाद जो सुख, दोनों किनारे पार कर बहने लगता है, वह ऐसा होता है । ७९४

अधिकारी गाँव में आने के बाद, जैसा उत्सव होता है । या उधार लेकर, लग्न समारम्भ जैसा बढ़ाया जाता है । ७९५

या बीमार मनुष्य को केला चीनी से भी मीठा लगता है । या बचनाग की मिठास जैसे केवल शुरु में ही होती है । ७९६

सम्भावित चोर की आरम्भिक मैत्री । अल्पकालिक स्त्री का प्रेम । या फँसाने वाले का मोहक विनोद । ७९७

इसी तरह से विषय व इन्द्रिय, इनके संयोग से जो दोषयुक्त सुख जीव को मिलता है, वह अन्त में चट्टान पर चोंच मार-मारकर मरे हुए हंस जैसा होता है । ७९८

जोड़ा हुआ सब समाप्त हो जाता है । जीवन का पूर्ण नाश हो जाता है । और जो सुकृत हुआ होगा, उसका पुण्य भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है । ७९९

और जो कुछ भोगा हुआ होगा वह भी स्वप्न जैसा नष्ट हो जाता है । और फिर नुकसान के घात से तड़पता रह जाता है । ८००

ऐसा जो सुख इस जग में संकट जैसा होता है, और परलोक में विष होकर वापस आ जाता है । ८०१

जो इन्द्रियों के लाड़ होने के कारण, धर्म का बगीचा जलाकर विषयसुख का उत्सव भोगता रहता है । ८०२

उस समय, पातक बलवान हो जाते हैं। और वे उस सुख को नरक में स्थान देते हैं। जिस सुख के योग से परलोक में भी ऐसे ही कष्ट होते हैं। ८०३

जो विष, नाम से मीठा, किन्तु अन्त में मारकर ही खरा होता है। उसी तरह से जो सुख आरम्भ में मीठा किन्तु परिणाम में कड़वा। ८०४

अर्जुन, वह सुख सचमुच रज से लपेटा हुआ होता है। इसीलिये तू कभी भी उसके अंग को स्पर्श भी न कर। ८०५

गीता ३९

और जो सुख अपेय का सेवन करने से होता है। अखाद्य खाने से होता है। या स्वैर स्त्री-संगम से होता है। ८०६

या दूसरे का नाश करने से। नही तो दूसरे को लूटने से। या भांड के बोलने में जो सुख प्रकट होता है। ८०७

आलस्य से जिसका पोषण हाता है। नींद में जो दिखता है। जो आदि से अन्त तक अपना मार्ग भुलाता रहता है। ८०८

अर्जुन, ऐसा जो सुख होता है वह सम्पूर्ण तामस, ऐसा तुम समझो। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। वह सर्व कथा 'सुख' कहलाने के लायक ही नहीं है। ८०९

ऐसे कर्म भेदों के आधार पर उन कर्मों का फलरूप, जो सुख, वह भी तीन प्रकार का हो गया। यह तुझे समझ में आ जाए, ऐसी रीति से प्रकट किया। ८१०

तो, कर्ता, कर्म, व कर्मफल, इस एक त्रिपुटी के सिवाय इस स्थूल या सूक्ष्म जगत में और दूसरा कोई नहीं। ८११

और अर्जुन, यह त्रिपुटी तो इन तीनों में ऐसी फँसी हुई है, कि जैसे सूत वस्त्र में बुना हुआ होता है। ८१२

गीता ४०

इसीलिये प्रकृति के पसारे में इन सत्वादिकों ने बाँधा नहीं, ऐसी एक भी वस्तु स्वर्ग या मृत्युलोक में होगी नहीं। ८१३

ऊन बिना कम्बल कैसे हो सकता है। मिट्टी के सिवाय कीचड़ कैसे होगा। या पानी बिना लहरि होगी क्या ? ८१४

इसी तरह से सृष्टि रचना में ऐसा प्राणी सचमुच कभी भी नहीं होगा, जो गुण न होते हुए, जन्मा हो। ८१५

इसीलिये यह सब जग सम्पूर्ण केवल तीनों गुणों का ही हुआ है। ऐसा जानो। ८१६

इन गुणों ने ही देवों को त्रैमूर्ति किया। इन गुणों ने ही जग में त्रिलोक उत्पन्न किया और चातुरवर्णीय को अलग-अलग कर्म में फँसाया। ८१७

गीता ४१

यह चार वर्ण कौन से ? ऐसा प्रश्न तुम करोगे। तो वे ये, कि जिनमें ब्राह्मण, ये प्रमुख होते हुए, सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ८१८

दूसरे, क्षत्रिय व वैश्य, वे भी ब्राह्मण की ही योग्यता के माने जाते हैं। क्योंकि वे वेदिक कार्य में योग्य समझे जाते हैं। ८१९

और चौथा, जो शूद्र, उसे वेदों में सचमुच स्थान न होते हुए भी, हे अर्जुन, उनकी वृत्ति इन तीनों वर्ण के अधीन होती है। ८२०

इसीलिये, उस वृत्ति के कारण ब्राह्मण आदि के साथ शूद्र, यह चौथा वर्ण हो गया। ८२१

जैसे, श्रीमन्त, फूलों की संगति में तागे को भी सूंघते हैं। उसी तरह से ब्राह्मणों के साथ शूद्रों को भी वेद स्वीकार करते हैं। ८२२

अर्जुन ! ऐसी ही यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। अब इनके कर्म-मार्ग का स्वरूप देखते हैं। ८२३

जिससे यह चारों वर्ण जन्म-मृत्यु की कैंची से छूटकर ईश्वर में प्रवेश करेंगे। ८२४

माया के इन सत्वादिक तीनों गुणों ने उन चारों वर्ण को, कर्म चार जगह बाँटकर दे दिया। ८२५

जैसे पिता का जोड़ा हुआ, पुत्रों में बाँटा जाता है। सूर्य, प्रवासियों को मार्ग बाँटकर देता है। या मालिक जैसे नौकरों को कार्य बाँटकर देता है। ८२६

उसी प्रकार प्रकृति के जिन गुणों ने कर्म का विभाजन इन चार वर्णों में किया हुआ है; ८२७

उनमें सत्व गुण ने अपने अंग में कम अधिक प्रमाण में ब्राह्मण व क्षत्रिय, इन दोनों को स्थापित किया। ८२८

थोड़ा सात्विक भाव जिसमें है, ऐसे रजो गुण में वैश्य स्थापित किये गए। और रज, तम मित्रण में शूद्र स्थापित किये गए। ८२९

हे बुद्धिमान ! इसी तरह से इन गुणों ने एक ही प्राणी समुदाय के चार वर्ण भेद किये। ८३०

फिर, अपनी रखी हुई वस्तु, दीप से जैसे सहज दिखने लगती है। उसी तरह से कर्मों की गुण भिन्नता शास्त्र दिखाता है। ८३१

हे श्रवणसौभाग्यनिधि अर्जुन, कौन-कौनसे वर्ण को क्या-क्या विहित है, यह अब बताता हूँ, सुनो । ८३२

गीता ४२

तो, सर्व इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने हाथ में लेकर, बुद्धि, आत्मा में एकरूप हो जाती है । जैसे प्रिया अपने पति के साथ एकरूप होती है । ८३३

ऐसा बुद्धि का एकरूप होना, इसको 'शम' नाम से जानते हैं । वह गुण जिन कर्मों का आरम्भ है । ८३४

और, इन बलवान बाह्यइन्द्रियों को शास्त्र के डंडे से पीटकर उन को अधर्म की ओर न जाने देने वाला; ८३५

अर्जुन ! यह शम के साथ एकरूप हुआ 'दम', यह जहाँ दूसरा गुण है । और स्वधर्म का मान रखकर जो जीना; ८३६

और डाइन की रात में जैसा दिया जलाना नहीं भूलना चाहिये, उसी तरह से ईश्वर के बारे में अन्तःकरण में सदैव विचार रखना, ८३७

इसका नाम 'तप' । यह उसके तीसरे गुण का रूप है । और दोनों प्रकार की निष्पाप शुद्धता; ८३८

जहाँ मन शुद्ध भाव से भरा हुआ होता है, और देह सदैव कार्य से सुशोभित होता है, ऐसा अन्तर-बाह्य सजा हुआ जो जीवन; ८३९

अर्जुन ! उसको 'शौच' ऐसा नाम है । वह जिन कर्मों में चौथा गुण है । और पृथ्वी समान सदैव सब कुछ सहन करना; ८४०

वह अर्जुन, 'क्षमा' है । वह जिस कर्म का पाँचवा गुण है, वह जैसा स्वरों में का मीठा, ऐसा पंचम स्वर समझो । ८४१

और टेढ़े प्रवाह में बहने वाली गंगा, जैसे सीधी ही होती है। या अंग से टेढ़े-मेढ़े गन्ने में मिठास जैसे सरल होती ही है। ८४२

उसी तरह से प्रतिकूल जीवों के बारे में भी अच्छा सरलपन होना; यह 'आर्जव' जिस कर्म का छठवाँ गुण है। ८४३

और जैसे माली बड़े प्रयत्न से पानी को सदैव वृक्ष के मूलों की ओर ही ले जाता है, किन्तु उसके यह कष्ट फल लगने के बाद ही समझ में आते हैं; ८४४

उसी तरह से शास्त्रानुसार आचरण करके केवल ईश्वर की ही प्राप्ति होती है, ऐसा निश्चित समझना, वह यहाँ 'ज्ञान' है। ८४५

वह ज्ञान जिन कर्मों में सातवाँ गुण है। और जो 'विज्ञान' है, वह इस स्वरूप में होता है: ८४६

तो, अन्तःकरणशुद्धि के समय, शास्त्र के योग से या ध्यान की शक्ति से, निष्ठामन्त बुद्धि ईश्वरतत्व में मिलती है। ८४७

वह श्रेष्ठ विज्ञान, यहाँ आठवाँ गुण रत्न है। और 'आस्तिक्य भाव' यह नवाँ गुण है, ऐसा जानो। ८४८

किन्तु राजमुद्रा लगने के बाद जैसे प्रजा किसी का भी पूजन करती है, उसी तरह से शास्त्रों के स्वीकार किये हुए सब मार्गों को, ८४९

आदरपूर्वक मानना, इसको मैं आस्तिक्य कहता हूँ। वह इस कर्म में नवाँ गुण है, जिससे कर्म सिद्ध होता है। ८५०

इसी तरह से जिस कर्म में शमादिक नव ही गुण, निर्दोष स्वरूप में होते हैं, वह ब्राह्मणों का स्वभाविक कर्म है, ऐसा समझो। ८५१

जो ब्राह्मण इन नौ गुणों का सागर है वह, जैसे सूर्य, प्रकाश सदैव धारण करता है, उसी तरह से इन नव रत्नों के हार से सदैव सुशोभित रहता है। ८५२

चम्पक जैसे चम्पकत्व से ही पूजा जाता है। चन्द्र जैसे चन्द्रिका से उज्ज्वलित होता है। या चन्दन वृक्ष जैसा आत्मसुगन्ध से भरा हुआ होता है। ८५३

उसी तरह से यह नौ गुणों का तिलक, यह ब्राह्मणों का निर्दोष, ऐसा अलंकार है; जिसे ब्राह्मण का अंग कभी भी छोड़ना नही चाहिये। ८५४

अब हे धनंजय, क्षत्रियों को जो योग्य, वह ही कर्म कहता हूँ, बुद्धि पूरी भरकर सुनो। ८५५

गीता ४३

तो सूर्य, तेज की अपेक्षा न करते हुए जैसे विराजमान रहता है। या सिंह जैसे कोई दोस्त नहीं ढूँढता। ८५६

ऐसा जो स्वयंभू, आत्म-शक्ति से बलवान, और स्वतंत्र योद्धा होता है, उसका 'शौर्य', यह जिसके पास श्रेष्ठ ऐसा पहला गुण होता है। ८५७

और सूर्य के पराक्रम से जैसे कोटि-कोटि नक्षत्र खो जाते हैं। किन्तु वह स्वयं कभी भी, चन्द्र समेत नक्षत्रों से, लुप्त नहीं होता। ८५८

उसी तरह से अपने श्रेष्ठ गुणों से विश्व को चकित करना और स्वयं किसी से भी हर्षित नहीं होना। ८५९

वह महत्वपूर्ण, ऐसा 'तेज', जिस कर्म में दूसरा गुण है। और 'धैर्य', यह जहाँ का तीसरा गुण है। ८६०

आसमान गिर जाए फिर भी जो अपने मन व बुद्धि की आँखें बन्द नहीं करता, वह धैर्य, यह समझलो । ८६१

पानी कितना भी गहरा हो, उसे जीतकर जैसे कमल उभर जाता है । या गगन अपनी ऊँचाई में जैसे सबको जीतता है । ८६२

उसी तरह से, हे अर्जुन, अलग-अलग प्रसंग आते हुए, उन्हें जीतकर, उससे बुद्धि में उत्पन्न हुए अर्थ-भाव का, त्याग करना । ८६३

वह उत्तम, ऐसा 'दक्षत्व', यहाँ चौथा गुण होता है । और असामान्य झूझने का 'सामर्थ्य' पाँचवाँ गुण । ८६४

सूरजमुखी जैसे सदैव सूर्य की ओर मुँह करके रहते हैं । उसी तरह से हमेशा शत्रु के सामने रहना । ८६५

मासिक अवस्था की स्त्री जैसे प्रयत्न से पतिशय्या टलाती है, उसी तरह से संग्राम में शत्रु को अपनी पीठ न दिखाना । ८६६

चारों पुरुषार्थों के अग्र भाग में जसे भक्ति होती है, उसी तरह से क्षत्रियों के आचार में यह पाँचवाँ गुण चन्द्र है, यह ध्यान रखो । ८६७

पेड़ की टहनियाँ, लगे हुए फल-फूल लौटाकर, जैसे मुक्त हो जाती हैं । या कमल अपनी सुगंध उदारपन से बाँटता रहता है । ८६८

या चांदनी अपनी इच्छानुसार कोई भी जैसे लेता रहे । उसी तरह से सब लोगों की इच्छा पूर्ति करना । ८६९

ऐसा अमाप 'दान,' यह जिसके पास छठवाँ गुण रत्न है । और आज्ञा का जो एकमात्र स्थान है । ८७०

अपने हाथ-पाँव का अच्छा पोषण करके हम जैसे उनसे आवश्यक कर्म करवाते हैं। उसी तरह से, पालन-पोषण करके संतुष्ट किये हुए जग का उपभोग लेना। ८७१

उसका नाम 'ईश्वर भाव'। जो सर्व सामर्थ्य का ठिकाना है, और सब गुणों का राजा है। वह जहाँ सातवाँ गुण है। ८७२

जैसे आसमान में सप्त ऋषि शोभते हैं। उसी तरह से, इन शौर्यादिक सात गुणों विशेष से अलंकृत रहना। ८७३

इसी तरह के विविध प्रकार के सप्त-गुणों से जो कर्म इस जग में पवित्र माना जाता है, वह सहज ही क्षत्रिय का क्षात्र कर्म समझो। ८७४

क्षत्रिय, यह मनुष्य नहीं होता है, सप्त-गुण रूपी सोने का मेरु पर्वत होता है। इसीलिये इन सप्त-गुणों को स्वर्ग का आधार है। ८७५

या यह क्षात्र कर्म नहीं, इसे सप्तगुण-समुद्र की अच्छी तरह से घिरी हुई पृथ्वी का उपभोग समझो। ८७६

या सप्तगुणों के प्रवाह में यह क्रिया-गंगा उस क्षत्रिय महासागर के अंग में विलास करती है। ८७७

अब यह रहनेदो। यह देखो शौर्यादिक सात गुणात्मक कर्म यह क्षत्रिय को स्वभाविक रीति से प्राप्त होते हैं। ८७८

हे महामति अर्जुन, अब वैश्य को उचित, ऐसा जो कर्म होता है, वह तुझे स्पष्ट कर बताता हूँ। ८७९

गीता ४४

तो खेत, हल और बीज, इस पूंजी के आधार से बहुत-सा लाभ कमाना। ८८०

इतना ही नहीं, कृषि होकर जीना। गौधन संभालकर रखना। या महँगी लगने वाली वस्तु योग्य भाव से बेचना। ८८१

अर्जुन, वैश्य को यही कर्म प्राप्त होते हैं। वे वैश्यजाति को स्वभाव से प्राप्त हुए हैं, ऐसा समझो। ८८२

और वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, इन तीनों वर्ण को दो जन्म होते हैं। इनकी सेवा करना, यह शूद्र कर्म। ८८३

किन्तु इन द्विजों की सेवा के पार, शूद्र की दौड़ नहीं होती। इसी तरह से चातुरवर्णीय को उचित, ऐसे कर्म तुझे बता दिये। ८८४

जैसे कानों को शब्दादिक, यही उचित। उसी तरह से यही कर्म विचार अलग-अलग वर्णो को उचित होते हैं। ८८५

या अर्जुन, मेघ से उतरे हुए पानी को जैसे नदी उचित, और नदी को जैसे समुद्र उचित। ८८६

गोरे अंग को गोरापन, जैसे स्वभाविक होता है। उसी तरह से वर्णाश्रम अनुसार जो कर्म प्राप्त होता है। ८८७

हे वीरोत्तम, ऐसा स्वभाविक जो विहित कर्म प्राप्त हो जाता है, वह शास्त्र-आज्ञानुसार करने की प्रवृत्ति हो, इसलिये तू अपनी बुद्धि दृढ़ रख। ८८८

अपने हाथ का रत्न कम प्रमाण का नहीं है ना ? यह पारखी के हाथ से परख कर लेना चाहिये। इसी तरह से अपना कर्म शास्त्रों ने स्वीकारा हुआ हो। ८८९

जैसे दृष्टि अपने में ही होती है किन्तु दीपक बिना उसका उपयोग नहीं। ठीक मार्ग नहीं मिला, तो पाँव का क्या उपयोग ? ८९०

इसी तरह से जाति के कारण प्राप्त सदाचार, यह सहज ही अपना अधिकार होता है । वह अलग-अलग शास्त्रों से समझ लेना चाहिये । ८९१

फिर अपने घर की ही वस्तु, जैसे दिया अपनी आँखों को दिखाता है । तो अर्जुन, दिया लेने में क्या आपत्ति ? ८९२

उसी तरह से स्वभाव से अपने भाग में आए हुए, और ऊपर शास्त्र स्वीकृत हो, ऐसे अपने विहित कर्म का जो आचरण करता है । ८९३

किन्तु वह आलस न करते हुए, फल-आशा छोड़कर, शरीर से, प्राण से, उसका स्वीकार करके, उसी में जब रममाण रहता है । ८९४

प्रवाह में फँसा हुआ पानी दूसरी ओर बहना जानता नहीं । उसी तरह से आचरण में व्यवस्थित जो रहता है । ८९५

अर्जुन, जो इसी तरह से स्वयं विहित कर्म आचरता है, वह मोक्ष के पहले द्वार पर जाकर पहुँचता है । ८९६

जहाँ अकरण व निषिद्ध ऐसा कोई भी सम्बन्ध रहता नहीं । संसार-विरुद्ध अवस्था से वह मुक्त होता है । ८९७

और वह काम्य कर्मों की ओर कौतुक से भी जाता नहीं । वहाँ चन्दन का तना प्राप्त करने की भी उसे इच्छा नहीं होती । ८९८

और फल त्याग करके नित्य कर्म को तो नष्ट करता ही है, इसीलिये वह मोक्ष के द्वार पर पहुँचने की परिस्थिति में होता है । ८९९

सुनो, इसी रीति से वह पाप-पुण्यात्मक संसार से मुक्त होकर, वैराग्यरूपी मोक्ष के द्वार पर खड़ा होता है । ९००

जो वैराग्य, सर्व भाग्य की परिसीमा है । जो मोक्ष प्राप्ति का ज्ञान है । और सर्व-कर्म-मार्ग के श्रम जहाँ समाप्त होते हैं । ९०१

मोक्ष-फल गिरवी रखकर, उस पुरुष ने सत्कर्म का पुष्प, ऐसा जो वैराग्य, उसके ऊपर भ्रमर जैसा सहज पाँव रखा हुआ होता है। १०२

देखो, आत्मज्ञान का सुदिन उगने वाला है, इसकी पूर्व सूचना देने वाला, वह वैराग्यरूपी अरुण, उस पुरुष को भेंटता है। १०३

इतना ही नहीं, आत्मज्ञान का मूल्यवान धन जिससे प्राप्त होगा, वह वैराग्य-दिव्यांजन वह अन्तःकरण से डालता रहता है। १०४

अर्जुन, ऐसी मोक्ष-योग्यता उस पुरुष को प्राप्त होती है जो इन विहित कर्मानुसार चलता है। १०५

हे पाण्डव, यह विहित कर्म अपना एकमात्र जीवन है; और वही मुझ सर्वात्मक की सेवा है। १०६

या पतिव्रता जब सर्व भोगों सहित अपने पति के साथ रममांण होती है, तब उस भोग के रूप से उसका तप ही चलता रहता है। १०७

या छोटे बच्चे को केवल माता सिवाय दूसरा क्या जीवन होगा ? इसीलिये उसका आश्रय, यही उसका श्रेष्ठ धर्म होता है। १०८

या केवल पानी ही समझकर जब मछली गंगा में रहेगी तब जैसे उसको सर्व तीर्थ का सहवास होता है। १०९

उसी तरह से अपने विहित कर्म को पकड़कर रहने में ऐसा उपाय होता है, कि जिससे परमेश्वर को आभार-सा लगता है। ११०

अरे, जिसका जो विहित कर्म होगा वह ईश्वर का ही मनोगत। ऐसे समझकर आचरण करने के बाद, वह निश्चित मिलता ही है। १११

अन्तःकरण की परीक्षा में उत्तीर्ण हुई दासी भी स्वामिनी होनी सम्भव है । देश के लिए जो प्राण देता है. उसका जैसे नाम लिखा हुआ होता है । ११२

उसी तरह से परमेश्वर के मनोभाव को न छोड़ना, यही उसकी परम सेवा होती है । अर्जुन ! अन्य सब व्यापार ही है । ११३

गीता ४५

गीता ४६

इसीलिये विहित कर्म करना, वह कर्म न होते हुए, जिस ईश्वर से यह जग-निर्माण हो गया, उसकी आज्ञा-पालन जैसा होता है । ११४

जो ईश्वर, अविद्या के फटे हुए कपड़ों से तैयार की हुई गुड़िया को त्रिगुणात्मक अहंकार की डोरी से नचाता है । ११५

दीप जैसे चारों ओर से तेज से भरा होता है, उसी तरह से यह सब विश्व जिसने अन्तर-बाह्य पूर्णपन से व्याप्त किया हुआ है । ११६

हे अर्जुन, ऐसे उस सर्वात्मक ईश्वर की स्वकर्म-पुष्प से पूजा करने से, वह पूजा उसे अपार समाधान देती है । ११७

इसीलिये इस पूजा से संतुष्ट होने के बाद वह परमेश्वर वैराग्य-सिद्धि का प्रसाद उसे देता है । ११८

उस वैराग्य-दशा से ईश्वर की ओर ध्यान लगने के कारण और कुछ भी उसको अच्छा नहीं लगता । उल्टी जैसा, वह उनका त्याग करता है । ११९

प्राणनाथ की चिन्ता से विरहिणी को जीवन जैसा दुःखमय होता है, उसीतरह से सब सुख वह अनावश्यक समझकर दुःख समान मानता है । १२०

ईश्वर का ध्यास लगने से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने से पहले ही तन्मयता आ जाए, ऐसी योग्यता उसकी बुद्धि को आती है। १२१

इसलिये मोक्ष प्राप्ति के लिये जिसने अपने में व्रत धारण किया हो, उसे अत्यन्त निष्ठा से स्वधर्म का अंगीकार करना चाहिये। १२२

गीता ४७

अरे, अपना यह स्वधर्म आचरण करने में विषम भी लगे, फिर भी उसका परिणाम क्या हो जाता है, यह देखना चाहिये। १२३

अर्जुन, नीम जब हमारे सुख के लिये होगा, तो उसके कडवेपन का हम त्रास न मानें। १२४

केले का पेड़ फलने से पहले उसकी ओर देखे तो निराशा-सी लगती है। इसीलिये उसका जब त्याग कियाजाए, तो मधुरफल कैसे मिलेंगे।१२५

इसी तरह से स्वधर्म कठिन है ऐसा देखकर कड़वा समझकर छोड़ोगे, तो मोक्ष-सुख खो जाएगा कि नहीं ? १२६

अपनी माता अपंग भी हो फिर भी उसके जिस प्रेम से हम जीवित रहते हैं, वह प्रेम अपंग नहीं होता। १२७

और दूसरों की माता रम्भा से भी अच्छी हो, फिर भी उस बालक को उनका क्या काम ? १२८

अरे, घी में पानी से भी अच्छे बहुत से गुण सचमुच होगें भी, फिर भी मछली क्या वहाँ रह सकती है ? १२९

यह देखो, सर्व जग को जो विष, वह विष, कीड़ों को अमृत लगता है। और जग को जो मीठा, वह उनका मरण। १३०

इसीलिये जिससे जिसका संसार का बंधन नष्ट होता है वह विहित कर्म कठिन भी हो, फिर भी वही करना चाहिए। ९३१

नहीं तो, दूसरे का अच्छा आचार स्वीकारे, तो पाँव का चलना माथे से किया, ऐसा हो जाएगा। ९३२

इसीलिये जाति-स्वभाव से प्राप्त हुआ अपना कर्म जो करता है, उसने कर्म बंधन को जीता, ऐसा हो जाएगा। ९३३

और स्वधर्म का पालन करे और परधर्म निषेध करे, ऐसा नियम भी तुम न करो। ९३४

जब तक आत्मदर्शन नहीं होता तब तक कर्म रुक जाता है क्या ? और जहाँ करना ही है वहाँ कष्ट तो होगा ही। ९३५

गीता ४८

इसीलिये किसी भी कर्म में पहले जो त्रास हो, तो स्वधर्म को क्यों दोष दें ? ९३६

अरे, अच्छे मार्ग से चले तब भी पाँव को ही कष्ट होता है, या आढ़ मार्ग में चले फिर भी वही उन्हीं को होगा। ९३७

देखो, पत्थर ढोकर ले चलना, या खाना उठाकर ले चलना, अर्जुन, बोझा तो एक ही। किन्तु विश्राम के समय जिसका उपयोग होगा, वही उठाना चाहिये। ९३८

नहीं तो धान और भूसा कूटने में श्रम तो एक ही। कुत्ते के लिये माँस पकाने में जो कष्ट वही अग्नि की आहुति के लिये। ९३९

दही या पानी इनको मथने के व्यापार एक-से ही। सोचो ! बालू और तिल कोल्हू में डालना एक ही होगा क्या ? ९४०

या नित्य होम-हवन करने के लिये, या आग लगाने के लिये, अँगारा फूँकने में, हे अर्जुन, धुआँ सहन करना एक ही होता है । १४१

धर्मपत्नी या वेश्या, इनका पोषण करने में तंगी एक जैसी । फिर न निभने वाली क्यों स्वीकारे । १४२

पीठ पर घाव लगकर जब मृत्यु टलने वाली न हो, तो शत्रु के सामने जाकर पराक्रम क्यों न दिखाएँ । १४३

दुराचारी स्त्री को दूसरे के पास जाने के बाद डण्डे सहन करने पड़े तो अपने पति को व्यर्थ छोड़ा, ऐसा होगा कि नहीं ! १४४

अपनी रुचि का कर्म भी श्रम के बिना न होता हो, तो विहित कर्म किस मुँह से भारी कहें । १४५

अल्प ही अमृत से जब जीव को अमरता मिलने वाली हो, तो हे अर्जुन, उसके लिए सर्वस्व खर्च करना पड़े तो क्या ? १४६

धन खर्च करके विष लेकर क्यों पियें, जिससे आत्महत्या के पातक के साथ, मरण आ जाएगा । १४७

इसी तरह से इन्द्रियों को कष्ट देकर आयुश्य के दिन खर्च करके, पाप संचय किया, तो वहाँ दुःख सिवाय क्या होगा ? १४८

इसीलिये स्वधर्माचरण करना चाहिये, जो करने से जीवन के भ्रम नष्ट होते हैं, और परम पुरुषार्थ, ऐसा जो मोक्ष, उसकी प्राप्ति होती है । १४९

इसीलिये हे अर्जुन, स्वधर्माचरण से सिद्धमंत्रों समान सर्व संकट दूर होते हैं । १५०

समुद्र में जैसी नौका, महारोग में जैसी दिव्य औषधि, त्याज्य न मानें । उसी तरह से स्वकर्म के प्रति भी वही बुद्धि होनी चाहिये । १५१

तो अर्जुन, इस स्वकर्म की महापूजा से संतुष्ट हुआ परमेश्वर, रज, तम, इन गुणों का नाश करके; १५२

शुद्ध सत्व के मार्ग से अपने सम्बन्ध की उत्कंठा की अवस्था में उसे लाता है । और भव, स्वर्ग, दोनों विष समान हैं, ऐसा दिखाता है । १५३

जिसको पहले 'वैराग्य', इस नाम से, ईश्वर प्राप्ति का स्वरूप बताया । उस श्रेष्ठ अवस्था में परमेश्वर साधक को लाता है । १५४

फिर यह अवस्था प्राप्त होने के बाद, वह सर्वात्मक हो जाता है । और ऐसा होने के पश्चात् उसे जो प्राप्त होता है, वह अब बताता हूँ, सुनो । १५५

गीता ४९

तो, इस संसार में चारों ओर देहादिकों का जो जाल फैला हुआ है, उसमें वह फँसता नहीं । जैसे वायु, जाल में । १५६

जैसे पकने के समय, फल डंठल को नहीं पकड़ता, और डंठल फल को नहीं पकड़ता । उसी तरह से उसका प्रेम किसी के साथ चिपकता नहीं । १५७

विष की थाली, जैसे कोई भी 'मेरी' ऐसा नहीं कहता । उसी तरह से पुत्र, स्त्री, सम्पत्ति, उसकी होते हुए भी, वह 'अपनी' ऐसा नहीं कहता ।१५८

यह रहने दो, जैसे पांव जलकर पीछे किये जाते हैं, वैसे, विषयों में से उसकी बुद्धि पीछे हटकर, हृदय के एकांत में प्रवेश करती है । १५९

और, राजा के डर से दासी जैसे उसका शब्द अवहेलती नहीं । उसी तरह से अन्तः करण छोड़कर बाहर न जाने की प्रतिज्ञा, वह बुद्धि तोड़ती नहीं । १६०

अर्जुन, इसी तरह से वह अपने चित्त को एकाग्र करके आत्मा की ऐक्य मुट्ठी में बैठता है। १६१

उस समय अग्नि बुझने के बाद जैसे धुआँ भी नष्ट होता है, इसी तरह से उसकी ऐहिक और पारलौकिक सुख की इच्छा नहीं-सी हो जाती है। १६२

इसीलिये नियमन किये हुए मन की इच्छा अपने आप नष्ट हो जाती है। संक्षिप्त में, वह ऐसी अवस्था में आ जाता है, १६३

कि उसका सर्व अन्यथा बोध नष्ट होकर, अर्जुन, केवल शुद्ध बोध ही अन्तःकरण में रहता है। १६४

जैसे जमा किया हुआ पानी खर्च कर डाले। उसी तरह से पिछले भोग, भोगकर समाप्त हो जाते हैं, और नया तो उसे कुछ करने का रहता ही नहीं। १६५

ऐसी कर्म की साम्य अवस्था, हे अर्जुन, वहाँ उत्पन्न होती है और अपने आप श्री गुरु भेंटते हैं। १६६

रात्र के चार पहर चले जाने के बाद जैसे आँखों को सूर्य दिखता है। १६७

या फल का घड़ लगने के बाद जैसे केले के पेड़ का बढ़ना रुक जाता है। उसी तरह से श्री गुरु की भेंट साधक की वह अवस्था कर देती है। १६८

हे वीरोत्तम, पूर्णमासी ने आलिगन दिया हुआ चन्द्र जेसे अपना कमीपन पूरा करता है। उसी तरह से उसका सब कमीपन गुरु कृपा से पूर्ण हो जाता है। १६९

तब जितना अबोध उसमें होगा, वह तो उस गुरुकृपा से नष्ट हो गया, और रात के साथ जैसे अंधेर नष्ट हो जाता है, १७०

उसी तरह से अबोध के पेट में कर्म, कर्ता, कार्य, ऐसी जो त्रिपुटी होती है, वह गर्भावस्था में ही नष्ट हो जाती है । १७१

अबोधनाश के साथ, सर्व क्रिया भी नष्ट हो जाती है । और इसी तरह से यह पूर्ण संन्यास हो जाता है । १७२

इस मूलज्ञान के नाश से जब दृश्यगोष्ठी का नाम-निशान मिट जाता है, तब जिस वस्तु का ज्ञान होना होता है, वह तो वह स्वयं ही हुआ होता है । १७३

यह देखो, जाग आते ही स्वप्न के उस डोह से अपने को निकालने के लिये, कोई दौड़ता है क्या ? १७४

उस समय, मैं जानता नहीं किन्तु आगे जानूँगा, ऐसा उसका झूठा स्वप्न लुप्त हो जाता है । और वह, ज्ञाता, ज्ञेय, इन बादलों के बिना, केवल ज्ञानाकाश हो जाता है । १७५

प्रतिबिम्ब के साथ दर्पण हटाने के बाद जैसे देखनेपन के सिवाय केवल देखने वाला ही रह जाता है । १७६

उसी तरह से अज्ञान जाने के बाद ज्ञान भी जाता है । और फिर निष्क्रिय, ऐसा आत्मतत्व रह जाता है । १७७

अर्जुन, उस समय अपने आप ही कोई भी क्रिया रहती नहीं । इसीलिए उसे निष्कर्मी ऐसा कहा जाता है । १७८

वायु बन्द होने के बाद, तरंग जैसे समुद्रस्वरूप होती है । उसी तरह से अपना जो आत्मपन होता है, वही वह होकर रहता है । १७९

ऐसी जो अस्तित्वहीनता, वह नैष्कर्म्यसिद्धि ऐसा समझो । यह, सब सिद्धि में श्रेष्ठ सिद्धि है । ९८०

मंदिर के कार्य में जैसे कलश । पवित्र गंगा को जैसे सिंधु प्रवेश । या स्वर्ण शुद्धि को जैसे सोलहवाँ कस । ९८१

उसी तरह से जो ज्ञान अपना अज्ञान नष्ट करता है । उस ज्ञान को ही खा लेना, ऐसी यह अवस्था है । ९८२

इस अवस्था के पार दूसरी कोई भी अवस्था उत्पन्न होने वाली होती नहीं । इसीलिये इसको परमसिद्धि कहते हैं । ९८३

किन्तु जो कोई सच्चा भाग्य निधि होता है वह ही यह गुरु-कृपा होने के समय, आत्म-सिद्धि प्राप्त करता है । ९८४

गीता ५०

सूर्य उदय होते ही जैसे अंधेर, प्रकाश में आ जाता है । या दिये की संगति से कपूर, दिया ही हो जाता है । ९८५

नमक का डला पानी को मिलते ही, जैसे पानी ही हो जाता है । ९८६

या सोये हुए को जगाने के बाद, स्वप्न के साथ नींद निकलकर, वह पुरुष जैसे अपने को जाकर मिलता है । ९८७

उसी तरह से जो कोई दैव से गुरूपदेश सुनते ही द्वैत नष्ट होकर अपनी वृत्ति अपने में स्थिर करता है । ९८८

कान व शब्द, इनकी भेंट होते ही, अर्जुन ! जो कोई स्वयं परमेश्वर होकर उठता है । ९८९

फिर उसको कुछ करना है, ऐसा किससे बोला जाएगा ? आकाश को कभी आना-जाना होता है क्या ? ९९०

इसीलिये सचमुच उसे कुछ करना रहता नहीं । किन्तु ऐसा कुछ जिसे नहीं होता; ९९१

वह स्वकर्म की अग्नि में निषिद्ध कर्मों का ईंधन डालकर, रज और तम, इनको पहले जलाता है । ९९२

बाद में पुत्र, धन और स्वर्ग, इन तीनों की अभिलाषा की धारणा, सेवक जैसी होनी चाहिए, तो वह भी हो जाती है । ९९३

जो इन्द्रियाँ, विषयों से स्वैराचार के कारण, दोषित हो गई थी, उन्हें प्रत्यहार, तीर्थ में वह स्नान करवाता है । ९९४

और स्वकर्म का फल ईश्वरचरणों में अर्पण करके जो शक्ति उसे प्राप्त होती है, उससे वह वैराग्यपथ स्थिर करता है । ९९५

इसी तरह से आत्म साक्षात्कार में ज्ञान-प्रकाश प्राप्त हो जाए ऐसे सर्व साधन वह जुटाता है । ९९६

और उसी समय उसको सद्‌गुरु मिल गए, और उन्होंने उसकी उपेक्षा भी नहीं की, ९९७

फिर भी, औषध लेते ही उसका परिणाम दिखता है क्या ? या दिन उदय होते ही मध्याह्न होता हैं क्या ? ९९८

अच्छी व नमीदार धरती में अच्छे प्रकार का बीज बोया, तो अमाप फसल आ जाती है । किन्तु वह जैसे, कुछ दिनों के बाद । ९९९

अच्छा मार्ग मिल गया, अच्छी संगति भी मिल गई, फिर भी पहुँचने में समय तो लगेगा ही । १०००

उसी तरह से वैराग्य प्राप्त हो गया, बाद में सद्गुरु भी मिल गए, अन्तःकरण में विवेक का अंकुर भी दिखने लगा; १००१

उसके कारण, ब्रह्म केवल एक ही है और सब भ्रम है, इसकी भी अनुभूति दृढ़ हो गई। १००२

फिर वही परब्रह्म, जो सर्वात्मक सर्वोत्तम ऐसा है, मोक्ष का कार्य भी जहाँ समाप्त हो जाता है; १००३

अर्जुन ! तीनों अवस्था को ही, जो ज्ञान अपने पेट में पचाता है, उस ज्ञान को भी, जो वस्तु अपने में समा लेती है; १००४

ऐक्य का ऐक्य समाप्त हो जाता है; जहाँ आनंद कणभर भी नहीं रहता; ऐसा सब जाकर जो रह जाता है; १००५

उस परब्रह्म में ऐक्यपन से ब्रह्मरूप होकर रहना, यह उसने क्रम से ही प्राप्त किया हुआ होता है। १००६

भूखे के सामने अच्छा अन्न रखा, फिर भी उसे समाधान ग्रास-ग्रास से ही मिलता है। १००७

उसी तरह वैराग्य के स्नेह से, विवेक का दिया जलाकर, वह किसी समय आत्मा का धन ढूँढ ही लेगा। १००८

इसीलिये आत्मधन का उपभोग ले सके, ऐसी योग्यता की सिद्धि जिस पर नित्य का अलंकार होती है। १००९

वह जिस क्रम से ब्रह्मत्व सुलभ करेगा, उस क्रम का लक्षण अब बताता हूँ, सुनो। १०१०

गीता ५१

तो, श्रीगुरु के दिखाए हुए मार्ग से विवेकतीर्थ के घाट पर आकर, बुद्धि का मल धोकर, वह निर्मल करलेगा। १०११

फिर राहु की मुक्त की हुई चाँदनी को जैसे चन्द्र धारण करता है, उसी तरह से शुद्ध हुई बुद्धी उसकी आत्मा में जड़ी रहेगी। १०१२

ससुराल और मायहर, दोनों छोड़कर, पत्नी जैसे केवल पति का अंगीकार करती है। उसी तरह से द्वैत त्यागकर वह बुद्धि आत्म-चिन्तन में मग्न होती है। १०१३

और ज्ञान जैसी प्रिय वस्तु, बार-बार विषयों की ओर ले जाकर इन्द्रियों ने अपना जो महत्व बढ़ाया हुआ होता है, १०१४

वह, जैसे सूर्यकिरण हटने के बाद मृग-जल लुप्त हो जाता है, उसी तरह से उन पंच विषयों को धैर्य से हटाकर उसने वह महत्व नष्ट किया होता है। १०१५

अधम के घर का अन्न न जानने के कारण, वह खाने के बाद, जैसे उल्टी कर, निकालते हैं। उसी तरह से उसने इन्द्रियों की विषय-वासना उन्हीं से त्यज्य करवाई होती है। १०१६

गंगातीर पर बैठकर जैसे प्रायश्चित किया जाता है, वैसा, वह विषयों पर से पीछे लाई हुई निर्मलवृत्ति से करवाकर, निर्मल हो जाता है। १०१७

फिर सात्विकधैर्य से निर्मल हुई वे इन्द्रियाँ, योग-धारणा के संयोग से वह मन के साथ एकरूप करता है। १०१८

और पुराने अच्छे-बुरे कर्म-फल भोगने के लिये सामने आने के बाद उसको दु:ख होता है, किन्तु वह उनका द्वेष नहीं करता। १०१९

या वैसा ही कभी अच्छा सामने आकर खड़ा रहा, तो उसके लिये अभिलाषा नहीं रखता। १०२०

उसी तरह से इष्ट-अनिष्ट, राग-द्वेष, इनका त्यागकर, वह एकान्त में गिरी गुफा में या घने जंगल में वास करता है। १०२१

गीता ५२

जहाँ भीड़ न हो, ऐसे शान्त वन-स्थल में अपने अंग-समुदाय को एकान्त में बैठाता है। १०२२

शमदमादिक खेल वह मौन में ही खेलता रहता है। और गुरु-वाक्य के मिलन में कितना समय निकल गया, उसे पता लगता नहीं। १०२३

या, शरीर में बल हो या भूख नष्ट हो, या जिव्हा के लाड़ पूरे करे; १०२४

ऐसे कोई भोजन सम्बन्धि विचार उसे नहीं आते । वह, आहार, संतोष से मापता है, आकार से नहीं। १०२५

आसनों के योग से जठराग्नि बुझने के बाद, केवल प्राण का पोषण हो जाए, इतना ही अल्प भोजन वह करता है। .१०२६

कुल वधू जैसे परपुरुष की कामना के अंकित नहीं होती, उसी तरह से आलस्य व निद्रा, इनके अंकित न हो जाए, इतना ही भोजन वह लेता है। १०२७

दण्डवत डालते समय ही धरती को संभवतः अंग लगेगा; इसके सिवाय, वहाँ कभी लोटता नहीं। १०२८

देह का निर्वाह होता रहेगा इतना ही हाथ-पाँव की हलचल वह करता है। संक्षिप्त में, अन्तर-बाह्य शरीर उसने अपने अंकित किया हुआ होता है। १०२९

हे अर्जुन, वह अपनी वृत्ति को मन की देहरी तक भी जाने देता नहीं। फिर वाचा के व्यापार को उसे कहाँ समय मिलेगा। १०३०

इसी तरह से देह, वाचा, मानस, ये बाहर के प्रदेश जीतकर, ध्यानाकाश पर उसका लक्ष्य केन्द्रित हो जाता है। १०३१

गुरु-वाक्य के जागृत किए हुए बोध में, जो आत्म-स्वरूप का निश्चय हो गया, उसे, हाथ में पकड़े हुए दर्पण में जैसा देखें, वैसा वह देखता है। १०३२

ध्यान करने वाला स्वयं ही ध्यानस्वरूप वृत्ति में अपने को ही ध्येयत्व से देखता है। यह ध्यान प्रकार तुम जान लो। १०३३

उस समय ध्यान, ध्येय, ध्याता, इन तीनों की एकरूपता होने तक, अर्जुन, यह करते रहना चाहिए। १०३४

इसीलिये वह साधक, आत्मज्ञान के सम्बन्ध में अतिशय दक्ष होता है। किन्तु इसके लिये वह योगाभ्यास का पक्ष स्वीकारता है। १०३५

जिसमें अर्जुन, अपान के दो रंध्र के बीच वाले जोड़ को एड़ी से दबाकर, १०३६

अधोद्वार का अकुंचन करके, मूलबंधादि तीनों बंध देकर, अलग-अलग वायु को एकत्रित करके, १०३७

कुण्डलिनी जागृत करके, मध्यमा का विकास करके, आधारादि चक्रों का अज्ञातचक्र तक भेद करके, १०३८

सहस्त्र दलों के मेघ से अच्छा अमृत वर्षाव होने के बाद, वह प्रवाह मूल चक्र तक लाकर, १०३९

ब्रह्मस्थान में नृत्य करने वाले चैतन्यभैरव की थाली में मनपवन की अच्छी पकी हुई खिचड़ी परोसकर, १०४०

सिद्ध हुए इन कठिन योग-क्रिया को आगे करता है। और पीछे ध्यान को सिद्ध करता है। १०४१

और ध्यान व योग, इन्हें आत्मतत्व के ज्ञान में निर्विघ्न स्थिर करने हेतु उसने पहले से ही, १०४२

वैराग्य जैसा मित्र जोड़ा हुआ होता है। वह सर्व अवस्था में उसके साथ चलता रहता है। १०४३

जो देखना होता है वह दिखने तक, जब दिया आँखों से दूर नहीं हो जाए, तो वस्तु दिखने में क्या.समय लगेगा। १०४४

इसी तरह से मोक्ष में प्रवृत्त हुई उसकी वृत्ति, जब तक ब्रह्म में विलीन नहीं होती, तब तक वैराग्य उसको साथ देता है। फिर वह वृत्ति भंग कैसे होगी ? १०४५

इसीलिये आत्मज्ञान के लिये वैराग्य समेत अभ्यास करके, वह भाग्यवान आत्मा का लाभ कर लेने में योग्य होता है। १०४६

ऐसा वह वैराग्य का कवच अंग पर धारण करके राजयोग के घोड़े पर सवार होता है। १०४७

और जो छोटा-बड़ा सामने दिखेगा, उसका, विवेक की मुट्ठी में पकड़े हुए ध्यान खड्ग से नाश करता है। १०४८

इसी तरह से इस संसार रणांगन पर, मोक्षरूपी विजय-श्री को नववर होने के लिये, वह धैर्य से प्रवेश करता है। जैसे सूर्य, अंधेर में निर्भय होकर करता है। १०४९

गीता ५३

उस समय उसे रोकने के लिये जो-जो दोष-शत्रु आते हैं, उन्हें वह पीटता है। उसमें से, पहला शत्रु देह-अहंकार। १०५०

जो केवल मारकर हटता नहीं। तो, फिर जन्म में लाकर ठीक तरह से जगने भी देता नहीं। हड्डियों की बेड़ियों में दुःखी रखता है। १०५१

अर्जुन! उस अहंकार का आश्रय, जो देह-दुर्ग, उसे वह नष्ट कर देता है; और बल, इस दूसरे शत्रु को मार डालता है। १०५२

जो विषय-रूप में चौगुनी शक्ति से लड़ता है; जिसके कारण सर्व जग को मृत अवस्था पीछे लगती है; १०५३

वह विषय, विष का सागर और सर्व दोषों का राजा है। किन्तु ध्यान-शस्त्र का घात वह कैसे सहन करेगा? १०५४

अपने प्रिय विषयों की प्राप्ति उसको जो सुख दिखाती है, उसका कवच डालकर, यह विषय गर्जता रहता है। १०५५

जो सन्मार्ग से भुलाकर और बाद में अधर्म के अरण्य में ढकेलकर, नरकादिक व्याघ्रों के मुँह में फँसाता है। १०५६

विश्वास से उस शत्रु का नाश करने के बाद वह दर्प का भी नाश करता है। जिस दर्प का तपस्वीजनों को भी डर होता है। १०५७

क्रोध जैसा महादोष। जिसकी परिणति देखो: जो भरने के बाद फिर अधिक ही खाली होता है। १०५८

वहाँ काम की, कहीं भी दिखेगा नहीं, ऐसी अवस्था कर लेता है; जिसके कारण क्रोध की भी वही अवस्था हो जाती है। १०५९

मूलों का तोड़ना यह जैसे शाखाओं के तोड़ने जैसा ही है। उसी तरह से काम का नाश होते ही क्रोध का भी नाश हो जाता है। १०६०

इसीलिये जहाँ कामरूपी शत्रु का नाश होता है, वहाँ क्रोध का आना-जाना भी बन्द होता है। १०६१

और राजा कैदी को उसके पाँव में डालने वाला खोड़ा, जैसे उसीसे ही सिरपर उठवाता है। उसीतरह से खाकर मस्त हुआ परिग्रह, १०६२

जो सिर पर बोझा लादता है, अंग में दुर्गुण भरता है और जीव से ममत्व का जुआ गर्दन पर लदवाता है; १०६३

शिष्यगण को, शास्त्रों के महत्व से; मठादि सम्प्रदाय के कारण, निसंग पुरुष को; जिसने अटकाया हुआ होता है। १०६४

वह परिग्रह, जो घर में सम्बन्धी जैसा रहता है; अरण्य में अरण्यवासी होकर खड़ा रहता है; नंगे के अंग को भी वह लगा हुआ होता है। १०६५

जीतने में कठिन, ऐसा जो वह परिग्रह, इसका सम्पूर्ण नाश करके वह वीर, संसारविजय का आनंद भोगता है। १०६६

वहाँ अमानित्वादि, ज्ञान-गुण संम्पन्न ऐसे, जो मोक्षदेश के राजाओं जैसे होते हैं, वे उसे भेंट करने आते हैं। १०६७

तब यथार्थज्ञान के सिंहासन पर उसे बैठाकर, वे ही उसका परिवार बनकर रहते हैं। १०६८

अनेक अवस्थारूपी स्त्रियाँ उसके प्रवृत्ति राजमार्ग पर कदम-कदम सुख की वारफेरी उतारकर फेंक देती हैं। १०६९

उसके आगे, विवेक, बोध के डंडे से दृश्य की भीड़ हटाता रहता है। और योग अवस्था उसके सामने जैसे कोई उसकी आरती करने के लिये खड़ी रहती है। १०७०

वहाँ ऋद्धि-सिद्धि के अनेक समुदाय प्रसंग से आते हैं, और उनकी पुष्प वर्षा में वह स्नान करता रहता है। १०७१

इसी तरह से ब्रह्म के साथ ऐक्य होने का उसका स्थान, करीब आने के बाद, तीनों लोक में आनंद की जगमगाहट होती है। १०७२

उस समय अर्जुन, शत्रु या मित्र, इनके सम्बन्ध में, समानता दिखाने लायक भी द्वैत रहता नहीं। १०७३

इतना ही नहीं, तो सहज किसी को वह अपना कहे, इतना भी दूजापन न रहने के कारण, वह अद्वितीय हुआ होता है। १०७४

और अपने एकात्म भाव की सत्ता से सर्व व्याप्त कर, अर्जुन, उसने अपना ममत्व कहीं भी न चिपकते हुए, दूर किया होता है। १०७५

इसी तरह से सर्व शत्रु जीतकर, सर्व विश्व वह स्वयं ही है ऐसे ज्ञान के पश्चात्, उसका योग-अश्व अपने आप स्थिर हो जाता है। १०७६

उस समय वैराग्य का मजबूत, ऐसा कवच, जो उसने धारण किया हुआ होता है, वह भी, क्षणभर ढीला कर लेता है। १०७७

और ध्यान का खड्ग फेंक कर, अब दूसरा कोई भी शत्रु रहा नहीं, ऐसी वृत्ति से हाथ झाड़कर मुक्त होता है। १०७८

जैसे उत्तम प्रकार का रसौषध अपना कार्य पूरा करके, स्वयं ही नष्ट होता है। ऐसा उसका होता है। १०७९

अपने ठिकाने को पहुँच गए, देखकर. दौड़ने वाले के पॉव जैसे रुक जाते हैं। उसी तरह से ब्रह्म समीपता की अवस्था से उसका अभ्यास बन्द हो जाता है। १०८०

समुद्र में प्रवेश करने के बाद, गंगा जैसे अपना वेग छोड़ देती है। या कामिनी जैसे पति के साथ स्थिर होकर रहती है। १०८१

या फल आने के समय जैसे केली का बढ़ना मंद हो जाता है। या गाँव के सामने आने के बाद रास्ता जैसे पीछे हट जाता है। १०८२

उसी तरह से आत्म-साक्षात्कार होने का समय आया हुआ देखकर, यह साधन-सामग्री धीरे-धीरे छोड़ता जाता है। १०८३

इसीलिये उसकी ब्रह्म से एकरूपता होने का समय आने के बाद, उसके उपाय कम होने लगते हैं। १०८४

फिर वैराग्य का व्यवहार जो ज्ञान के अभ्यास का बड़प्पन दिखाता है, या योग-फल के पकने की जो स्थिति, १०८५

उसको, हे अर्जुन, शान्ति कहते हैं। वह पूर्णपन से जब उसके अंग में आती है, तब वह पुरुष ब्रह्म होने के लिये योग्य होता है। १०८६

पूर्णिमा की तुलना में चतुर्दशी को, चन्द्र का जितना कमीपन होता है। या सोलह कस से सोने का पन्द्रहवाँ कस जितना कम होता है। १०८७

समुद्र में वेग से पानी जाने के समय गंगा कहते हैं। नहीं तो निश्चल शांत पानी, वह जैसा समुद्र ही है। १०८८

ब्रह्म और ब्रह्म होने वाला, इनकी योग्यता में जो अंतर होता है, इतना ही अंतर शांति प्राप्त होने के बाद उसमें रहता है। १०८९

किन्तु ब्रह्म होने से पहले ही, जो ब्रह्मपन उसके अनुभव में आता है, वही ब्रह्म होने की योग्यता है, ऐसा समझो। १०९०

गीता ५४

हे अर्जुन, यह ब्रह्मभाव-योग्यता प्राप्त होने के बाद वह पुरुष आत्मबोध-प्रसन्नता के आसन पर आरूढ़ होता है। १०९१

जिसके कारण पका हुआ खाना तैयार हो जाता है, वह तीव्र ऊष्णता जब निकल जाती है, तब वह खाना जैसे स्वादिष्ट हो जाता है। १०९२

या शरद ऋतु में जैसे गंगा अपनी बाढ़ की दौड़ छोड़ देती है। या संगीत समाप्त होने के बाद जैसे वाद्य शान्त हो जाते हैं। १०९३

उसी तरह से आत्मबोध के लिये किये हुए सर्व श्रम उस समय समाप्त हो जाते हैं। १०९४

इस अवस्था को 'आत्मबोध प्रशस्ति', ऐसा कहते हैं। अर्जुन, वह योगी उस प्रशस्ति को अनुभव करता रहता है। १०९५

उस समय आत्मा सम्बन्धी विचार करे या उसकी प्राप्ति के लिये कार्य करे, यह सब समाप्त होकर वह समभाव से भर जाता है। १०९६

सूर्य उदय होने पर अनेक नक्षत्र अपने अंग का प्रकाश जैसे खो देते हैं। १०९७

आत्मानुभव का उदय होते ही यह सब अनेक प्राणीमात्र-रचना नाश करते-करते, वह अपना मार्ग आक्रमण करता रहता है। १०९८

स्लेट पर के अक्षर जैसे हाथ से आसानी से मिटा सकते हैं। उसी तरह से उसकी दृष्टि में से सर्व भिन्न-भिन्न भेद नहीं-से हो जाते हैं। १०९९

इसी तरह से, अन्यथा ज्ञान से जो जागृति और स्वप्न, ये अवस्था प्राप्त हो जाती हैं, वे दोनों, वह अव्यक्त में विलीन करता है। ११००

फिर बोध बढ़ने के बाद वह अव्यक्त भी कम होने लगता है और पूर्णबोध होने के बाद सब ही समाप्त हो जाता है। ११०१

जैसे भोजन के समय भूख हटने लगती है और तृप्ति के समय जैसे पूर्ण नहीं-सी हो जाती है। ११०२

या चाल बढ़ने के बाद जैसे मार्ग छोटा-छोटा होता जाता है, और फिर ठिकाना आने के बाद जैसे पूर्ण समाप्त हो जाता है। ११०३

या जैसे-जैसे जागृति बढ़ती रहती है वैसे-वैसे नींद कम होती रहती है, और पूर्ण जाग आने के बाद पूर्ण नष्ट हो जाती है। ११०४

इतना ही नहीं, तो चन्द्र को जब पूर्णत्व प्राप्त होता है, उस समय उसकी वृद्धि रुक जाती है और शुक्ल-पक्ष भी पूर्ण समाप्त हो जाता है।११०५

जैसा सब ज्ञेय का नाश करके जब ज्ञान, ज्ञानपन से मेरे में प्रवेश करता है, उस समय सर्व अज्ञान नष्ट हो जाता है। ११०६

कलपांत के समय, नदियाँ, समुद्र, ऐसे विभाग समाप्त होकर, ब्रह्मा तक सब विश्व जैसे जलमय हो जाता है। ११०७

या घट, मट, ऐसे भाग समाप्त होने के बाद, जैसे आकाश एकरूप हो जाता है। या लकड़ी, जलने के बाद, जैसे अग्नि हो जाती है। ११०८

अलंकार, मूषा में गलने के बाद, जैसे स्वर्ण अपने नामरूप भेद छोड़ देता है। ११०९

यह भी रहने दो । जाग आकर स्वप्न नष्ट होने के बाद जैसे हम अपने ही स्वरूप में रह जाते हैं । १११०

उसी तरह से उसको अपने समेत मेरे सिवाय दूसरा कोई भी न होना, यह मेरी चौथी भक्ति उसे मिलती है । ११११

और दूसरे, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ये भक्त जिन मार्गों से भेजते हैं, वे तीनों मार्ग समा[illegible], फिर चौथी ऐसा मुझे कहना है । १११२

नहीं तो भक्ति कभी भी तीसरी या चौथी, पहली या आखिर की ऐसी होती नहीं । मेरी सहज स्थिति को आना, इसीको भक्ति कहते हैं । १११३

जो भक्ति मेरे सम्बन्धित अज्ञान प्रकाशित करके, अन्यथा ज्ञान से मेरा रूप दिखाकर सबको, सब जगह, भक्ति का आनंद देती है । १११४

जो, जहाँ, जिस स्वरूप में मुझे देखने लगेगा, उसे वहाँ वैसा ही दिखेगा । यह जो दिखता है, यह मेरे अखंड तेज के कारण होता है । १११५

स्वप्न का दिखना या न दिखना, यह जैसे अपने अस्तित्व पर अवलम्बित है । उसी तरह से विश्व का अस्तित्व होना या न होना, यह जिस प्रकाश के कारण है । १११६

अर्जुन, ऐसा यह मेरा जो सहज प्रकाश, वह भक्ति नाम से बोला जाता है । १११७

आर्त-भक्ति करने वाले में, वह प्रकाश, आर्त स्वरूप में प्रगट होता है; और उसका ध्येय भी मैं ही होता हूँ । १११८

हे वीर श्रेष्ठ, जिज्ञासु के सामने यही प्रकाश जिज्ञासा होकर, मुझे जिज्ञासा का विषय, इसी स्वरूप में दिखाता है । १११९

वही अर्थार्थी होकर मुझे ही अर्थ स्वरूप करके, अर्थ, इस नामाभिदान को लाता है। ११२०

संक्षिप्त में, अज्ञान को साथ लेकर, जब मेरी भक्ति इन्हीं प्रकारों में प्रगट होती है, तब मुझ द्रष्टा को वह दृश्य करके दिखाती है। ११२१

इस अवस्था में मुख ही मुख को देखता है, ऐसा कहना कुछ गलत नहीं। किन्तु मुख का यह दूजापन झूठा है, यह दर्पण ही दिखाता है। ११२२

दृष्टि अपने में सचमुच चन्द्र को ही धारण करती है, किन्तु एक चन्द्र के दो चन्द्र दिखाना, यह दृष्टि-दोष के कारण होता है। ११२३

उसी तरह से इस भक्ति योग से मैं ही, मुझे ही, सर्वत्र प्राप्त कर लेता हूँ। किन्तु यह झूठा दृश्यत्व, अज्ञान के कारण होता है। ११२४

वह अज्ञान फिर नहीं-सा हो जाता है और मेरा द्रष्टृत्व मेरे मूल स्वरूप में मिल जाता है। जैसे निज बिम्ब में प्रतिबिम्ब मिल गया। ११२५

जब हीन कस होता है, उस समय भी, वह स्वर्ण ही होता है। किन्तु हीनता जाने के बाद, जैसे केवल स्वर्ण ही रह जाता है। ११२६

देखो, पूर्णिमा के पहले, क्या चन्द्र आकार से गोल नहीं है ? किन्तु उस दिन उसको पूर्णता भेंटती है, इतना ही। ११२७

उसी तरह से ज्ञान से मेरा ही दर्शन होता है। किन्तु वह दूसरे रूप से। बाद में वह दूसरा रूप द्रष्टापन में विलीन हो जाता है, और मुझे ही मैं मिल जाता हूँ। ११२८

इसीलिये अर्जुन, द्रष्टामार्ग के पार जो मेरा भक्तियोग है, वह चौथा, ऐसा मैंने कहा। ११२९

गीता ५५

इस ज्ञान-भक्ति से, भक्त सहज मेरे साथ एकरूप हो जाता है। वह तो मैं ही होता हूँ, यह तू जानता ही है। ११३०

हे अर्जुन, ज्ञानी मेरी आत्मा होता है, ऐसा मैंने मेरी बाहें उठाकर तुझे सातवें अध्याय में कहा। ११३१

अर्जुन, कल्प के प्रारम्भ में भागवत के रूप में, मैंने यह ज्ञान-भक्ति उत्तम समझकर, ब्रह्मदेव को बताई। ११३२

ज्ञानी लोग इस भक्ति को आत्म-ज्ञान कहते हैं। शैव उसको शक्ति कहते हैं। मैं उसे मेरी परम भक्ति कहता हूँ। ११३३

यह परम भक्ति उस क्रम का आचरण करने वाले योगी जनों को मेरी प्राप्ति के समय मिलती है। फिर उनको सर्व विश्व केवल मेरे से ही भरा हुआ दिखता है। ११३४

उस समय वैराग्य, विवेक के साथ, और बन्ध, मोक्ष के साथ समाप्त हो जाता है। और क्रम समेत यत्न नष्ट हो जाते हैं। ११३५

फिर, पूर्वावस्था के साथ परत्व नष्ट होता है। जैसे चारों ही भूतों का नाश करके, केवल आकाश ही रह जाए। ११३६

इसी तरह से अरत्र, परत्र, ऐसे साध्य साधनों के पार जो मेरा शुद्ध स्वरूप है, वह होकर वह एकात्मता भोगता रहता है। ११३७

उस भोग की महती कैसी है, देखो। जैसी गंगा, सागर को मिलकर उसके अंग पर चमकती रहती है। ११३८

या दर्पण स्वच्छ करके, स्वच्छ दर्पण को दिखादे, तो, जैसा रूप देखने वाला चमकता है, वैसा दिखाने वाला भी चमकता है। ११३९

जाग आने के बाद, स्वप्न समाप्त होता है और अपना ऐक्य ही दिखता है, वह अद्वैतपन मे जेसे भोगा जाए। ११४०

यह छोड़दो, दर्पण दूर होने के बाद अपना मुख-बोध नष्ट होकर जैसे केवल देखनापन ही अकेला अपना ही आनंद लेता है। ११४१

किन्तु जिसका उपभोग लेना हो, वही स्वयं होने के बाद, उपभोग होता ही नहीं; ऐसा कहने वाले, बोलों का उच्चार, बोल से ही कैसे करते है ? ११४२

उनके गाँव में सचमुच मशाल ही सूर्य प्रकाश देती है क्या न जाने। या आकाश के लिये वे मंडप खड़े करते हैं क्या। ११४३

अरे, राजापन ही जिसमें न हो, वह राजपद कैसे भोगेगा ? या अन्धेर सचमुच सूर्य को आलिंगन कैसे देगा ? ११४४

और जो आकाश नहीं, वह आकाश कैसे जान सकेगा ? या गुञ्जों का अलंकार रत्नों जैसा कैसे चमकेगा ? ११४५

इसीलिये जो मतस्वरूप नहीं होता उसको मैं हूँ ही कहाँ ? फिर वह मुझको भजेगा, ऐसा कैसे कहें ? ११४६

इसी तरह से वह क्रमयोगी, मैं होने के बाद ही मुझे भज सकेगा। जैसे तारुण्य भोगने के लिये तरुण का ही अंग चाहिये। ११४७

तरंग, सर्वांग से पानी को भेंटती है। बिम्ब में प्रकाश सर्वत्र विलास करता है। या अवकाश आकाश में जैसे लटकता रहता है। ११४८

उसी तरह से वह मतस्वरूप होकर, भजन किये बिना मुझे भजता है। जैसे अलंकार सोने को सजाता है। ११४९

या चन्दन की सुगंध जैसे चन्दन को अपने आप ही भजती रहती है। या चन्द्र में चाँदनी जैसे स्वाभाविक होती है। ११५०

इसी तरह से अद्वैत भक्ति वही होती है जिसे सचमुच क्रिया सहन नहीं होती। यह अनुभव लेने की गोष्ठ है, बोलने की नहीं। ११५१

फिर भी पूर्व संस्कार के छन्द में भक्ति समझकर वह जो-जो इच्छा करता है, उस इच्छा को "हाँ" कहने वाला मैं ही होता हूँ। ११५२

बोलने वाले को सुनने वाला जब वही होता है, तब प्रत्यक्ष बोलना होता नहीं। और ऐसा जो मौन, वह बोलना मेरी श्रेष्ठ भक्ति है। ११५३

इसीलिये उस बोलने वाले में बोल बोलने वाला जो मैं, उस मुझ को जब वह मिलता है, तब तत्वतः मौन ही होता है। उससे वह मेरी भक्ति करता है। ११५४

इसी तरह से बुद्धि से या दृष्टि से, हे अर्जुन, वह जब देखता है, उस देखने में दृश्य नहीं होता, देखने वाला ही होता है। ११५५

जैसे दर्पण में देखने वाले का मुख, प्रथम होता ही है। उसे वह जब देखना हो, उस समय वह दर्पण दिखाता है। ११५६

दृश्यपन जाकर जब द्रष्टा, द्रष्टा को ही मिलता है, उस समय उसके अकेलेपन में, उसका द्रष्टापन न होते हुए भी, कम नहीं होता। ११५७

उस समय स्वप्न में की प्रिया को, जागृतपन में मिलने को जाने के बाद, वहाँ दो न होते हुए भी भेंट हो जाती है। किन्तु वह अपने से ही। ११५८

या दो लकड़ी के घर्षण में अग्नि एक ही उत्पन्न होती है, वह उन लकड़ी का द्वैत हटाकर, अकेली स्वयं ही रहती है। ११५९

या सूर्य अपना प्रतिबिम्ब अपने हाथ में लेना चाहे, तो जैसे उसका बिम्बपन भी निकल जाएगा। ११६०

उसी तरह से देखने वाला मैं होकर जब दृश्य की ओर देखने लगेगा, तो वह दृश्य उसके द्रष्टापन के साथ उसको ले जाएगा। ११६१

सूर्य ने अन्धेर को प्रकाशित करने के बाद, उसका प्रकाशपन नहीं रहता। इसीतरह, मत्स्वरूप होने के बाद दृश्य में दृश्यपन नहीं रहता। ११६२

फिर देखना या न देखना, ऐसी जो एक अवस्था उत्पन्न होती है, वह मेरा सच्चा दर्शन है। ११६३

इसी तरह से अर्जुन, किसी पदार्थ की भेंट में, देखना और दृश्य, इनके पार जो दृष्टि होती है, उसका वह अनुभव लेता है। ११६४

आकाश ने आकाश को धकेल दिया, तो वह धकेला नहीं जाता। मेरे में एकरूप होने के बाद उसे ऐसा ही होता है। ११६५

कल्पांत के समय, पानी, पानी में मिलकर, बहना बन्द हो जाता है। उसी तरह से वह मेरे अकेले में ही व्याप्त रहता है। ११६६

पाँव अपने ही ऊपर कैसे चलेंगे ? अग्नि अपने को ही कैसे जलाएगी ? पानी स्वयं स्नान करने कैसे जाएगा ? ११६७

उसको मैं ही हो गया। इसीलिये मेरे लिये उसे जाना-आना रहता नहीं। यही मेरी अद्वय की यात्रा उसको हो जाती है। ११६८

किन्तु पानी के ऊपर की लहर जब जोर से दौड़े तब अलगपन से वह भूमि-भाग आक्रमण नहीं करती। ११६९

क्योंकि वह लहर बनना या टूटना, अथवा उस लहर का बहना, वह जिसके कारण होता है, वह केवल पानी ही है । ११७०

पानी कहीं बह गया फिर भी पानीपन के कारण तरंग की एकात्मता नष्ट नहीं होती । ११७१

उसी तरह से मेरे स्वरूप में वह कहीं भी गया, फिर भी मेरे सर्वात्मक स्वरूप की ओर ही वह आता है । इसीलिये वह मेरा ही श्रेष्ठ यात्री होता है । ११७२

और शरीर धर्म के कारण कुछ भी वह करता रहे, फिर भी उस निमित्त से मैं ही उसको मिलता हूँ । ११७३

उस समय, वहाँ कर्म व कर्ता, यह अवस्था समाप्त होकर मेरे से ही मैं मुझे देखूँ ऐसा हो जाता है । ११७४

किन्तु दर्पण ने दर्पण देखने के बाद, वह जैसे देखना होता नहीं । या सोना सोने ने ढककर रखा, तो वह जैसे ढका नहीं जाता । ११७५

दिये ने दिया दिखाया तब वह जैसे न दिखाना ही होता है । इसी तरह से मैं होकर कर्म करना, यह कर्म करना कैसे होगा ? ११७६

वह कर्म करता ही होगा, फिर भी जब वहाँ 'करना' यह भाषा नहीं रहती, तब उसका किया हुआ कर्म, कर्म न करना ही होता है । ११७७

उसकी सर्व क्रिया मैं होने के कारण उसे कुछ भी करना होता नहीं । इसी का ही सच्चा नाम, मेरा पूजन । ११७८

इसीलिये कर्म करते हुए भी वह न करना, यही हे अर्जुन, मेरी महापूजा होती है । उससे वह मेरा पूजन करता है । ११७९

संक्षिप्त में, वह बोलता है, वह मेरी ही स्तुति हो जाती है । वह देखता है, वह मेरा ही दर्शन । वह जो चलेगा, वही मेरे अद्वय का चलना ।११८०

वह जो करेगा, वह सब मेरी पूजा होती है । वह जो कल्पना करेगा, वही मेरा जप होता है । और अर्जुन, वह जिस अवस्था मे होता है, वह मेरी ही समाधि । ११८१

कंगन का कनक से जैसा अनन्य सम्बन्ध होता है, वैसा वह इस भक्ति-योग से, मेरे से अनन्य होता है । ११८२

पानी में तरंग, कपूर मे सुगंध, या रत्न में तेज, यह जैसा अनन्य होता है । इतना ही नहीं, सूत के साथ वस्त्र, या मिट्टी के साथ घड़ा, जैसे एक रूप होते हैं । वैसे वह मेरा भक्त, मेरे से एकरूप होता है । ११८३/४

अर्जुन, ऐसी अनन्य-सिद्धभक्ति से, इस सर्व दृश्य जगत में मैं जो द्रष्टा हूँ, उस मुझ को अपने में ही जानता है । ११८५

तीन अवस्थाओं के द्वार से उपाधि व उपहित, इस स्वरूप में भाव व अभाव रूप, ऐसा जो दृश्य उठता है । ११८६

उस सर्व दृश्य का स्वयं ही द्रष्टा है, ऐसे ज्ञान से और अनुभव से वह मस्त हुआ महापुरुष आनंद में नाचता है । ११८७

डोरी दिखने के बाद, भास होने वाला वह साँप केवल डोरी ही है, ऐसा जैसे निश्चय होता है । ११८८

सोने के सिवाय, एक गुञ्ज इतना भी और मिलावट नही, यह जैसे अलंकार गलाकर सिद्ध करे । ११८९

एक पानी सिवाय तरंग होती ही नहीं, यह सत्य जानकर जैसे उस आकार की ओर लक्ष्य दे नहीं सकते । ११९०

या सर्व स्वप्न-विकारों का जागेपन में पुन:विचार लेते समय, उसमें उसको अपने सिवाय जैसे दूसरा कोई भी नहीं दिखता। ११९१

उसी तरह, दृश्य, ज्ञेय, स्फूर्ति से जो कुछ भाव-अभाव उत्पन्न होता है, उसका द्रष्टा स्वयं ही हूँ, ऐसी अनुभूति होकर, उसमें वह रममाण होता है ११९२

वह समझता है: मैं ही अजन्मा हूँ, मुझे अवस्था नहीं, मैं ही अक्षय हूँ, मेरा नाश होता नहीं, मेरे पहले कोई भी नहीं था, मैं अपार हूँ, मैं आनन्द स्वरूप हूँ। ११९३

मैं अचल हूँ, मैं अपराजित हूँ, मैं अनंत हूँ, मैं अद्वैत हूँ, मैं आद्य हूँ, मैं अव्यक्त हूँ, व्यक्त भी मैं ही हूँ। ११९४

ईश, ऐसा ईश्वर मैं हूँ, मैं अनादि, मैं अमर, मैं भयरहित, मैं सर्व का आधार, और आश्रित भी मैं हूँ। ११९५

मैं स्वामी, मैं निरन्तर, मैं सहज और अखण्ड हूँ, मैं सर्वव्यापी सर्वातीत हूँ। मैं नूतन, मैं ही पुरातन, शून्य मैं, सम्पूर्ण मैं ही, स्थूल व सूक्ष्म, सब कुछ मैं ही हूँ। ११९६/७

मैं अकेला अक्रीय हूँ, मैं संग रहित, शोक रहित हूँ, व्याप्त और व्यापक ऐसा पुरुषोत्तम मैं हूँ। ११९८

मैं मौन हूँ, मैं इन्द्रिय रहित हूँ, मुझे रूप नहीं, मुझे गोत्र नहीं, मैं सम होते हुए स्वतंत्र हूँ, परब्रह्म मैं ही हूँ। ११९९

ऐसा मत्स्वरूप होकर उस अद्वैत भक्ति में वह मुझ अकेले को अच्छी तरह से जानता है। और यह जो बोध होता है, उसका जानने वाला स्वयं मैं ही हूँ, ऐसा वह जानता है। १२००

किन्तु जागृति आने के बाद जैसे अपना एकपन रहता है, उसकी अनुभूतिं भी उसको जैसे क्षणिक ही रहती है। १२०१

जो सूर्य प्रकाशित है वही प्रकाश देने वाला होता है, ऐसा अभेद भाव जानने वाला भी जैसे सूर्य ही होगा। १२०२

इसी तरह से जानने वाली वस्तु नहीं-सी होने के बाद केवल जानने वाला ही रह जाता है। उसने अपने को ही जाना हुआ होता है, ऐसा भी वही जानता है। १२०३

अर्जुन, अपना अद्वैतपन जानने वाला जो ज्ञान है, वह ईश्वर भी स्वयं ही हूँ, ऐसा अनुभव उसको होता है। १२०४

फिर द्वैत व अद्वैत, इनके पार मैं ही एक आत्मा हूँ, ऐसा निःसंदेह जानकर वह जानना जब उसे अनुभव में आ जाता है। १२०५

उस समय जागृतपन की एकावस्था में जो हम अपने को देखते हैं, वही जाने के बाद, कौन हो जाता है, यह जैसे समझ में नहीं आता। १२०६

या, जैसे अलंकार का स्वर्णपन आँखों को दिखते ही, सोना न पिघलते हुए, अलंकार ही पिघल जाता है। १२०७

या फिर, नमक जब पानी हो जाता है, तब उसका खारापन पानी के रूप से रहता है; किन्तु वह पानी जब जमीन में समा जाता है, तब नमक का पानीपन भी जाता है। १२०८

इसी तरह से वह मैं हूँ, यह जो अवस्था होती है, वह आत्मानंद के अनुभव में एकत्व से मिलकर मुझ में प्रवेश करती है। १२०९

और इसी प्रकार से 'वह' यह भाषा जब नष्ट हो जाती है, तब 'मैं' ऐसा कौन रहेगा ? इसीलिये 'मैं' और 'वह', ये दोनों मेरे ही स्वरूप में समाविष्ट होते हैं। १२१०

जब कपूर जलना बन्द हो जाता है, इसका अर्थ ही अग्नि समाप्त हुई। फिर उन दोनों के अतिरिक्त, केवल आकाश ही रह जाता है। १२११

या 'केवल एक' को निकालने के बाद उसके आगे रखा हुआ शून्य का पसारा जैसा हो जाता है, वैसा उस 'है' अथवा 'नही', का अन्त मैं ही होता हूँ। १२१२

उस समय परब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, इन बोलों का महत्व रहता नहीं, और न बोलने का पसारा भी वहाँ रहता नहीं। १२१३

वह न बोलना, जैसे मुँहभर कर बोलना होता है। वैसे ही, यह 'जानना' व 'न जानना' छोड़कर ही उसको जानना चाहिये। १२१४

उस समय बोध को बोध हो जाए, आनंद ही आनंद ले ले, सुख के माप से ही सुख का उपभोग ले लें, ऐसा हो जाता है। १२१५

उस समय लाभ को लाभ हो गया, प्रकाश ने प्रकाश को आलिंगन दे दिया, आश्चर्य आश्चर्य में डूब गया, ऐसा हो जाएगा। १२१६

वहाँ समता समा गई, विश्राम विश्राम करने के लिये आया, और अनुभव को अनुभूति का छंद लग गया। १२१७

संक्षिप्त में, इसी प्रकार के मैंपन का निर्मल फल उसको इस बढ़े हुए क्रमयोग की बेली की सेवा करके मिलता है। १२१८

इसी तरह से अर्जुन, क्रमयोग चक्रवर्ती के मुकुट में, चिद्रत्न ऐसा जो मैं, वह, यह क्रमयोगी हो जाता है। १२१९

या क्रमयोग मंदिर का यह मोक्षरूपी कलश जहाँ चमकता है, उस अवकाश की महती उसको आती है। १२२०

या इस संसाररूपी अरण्य में इस क्रमयोग का अच्छा रास्ता स्वीकारा, तो वह सीधा मेरे एकरूपता-गाँव को जाकर मिलता है। १२२१

अतः क्रमयोग के प्रवाह से उसके भक्तिपूर्ण अन्तःकरण का गंगोदक, मुझ स्वानंद सागर को, वेग से आ मिलता है। १२२२

हे मर्मज्ञ अर्जुन, ऐसी यह यहाँ क्रमयोगी पुरुष की महिमा है। इसीलिये मैं बार-बार तुझे कहता रहता हूँ। १२२३

किन्तु इसके बारे में देश, काल, पात्र, ठीक देखकर मुझे मिलना चाहिये, ऐसा प्रकार नहीं। यहाँ मैं उन सर्वों को सर्वपन से सहज प्राप्त हो जाता हूँ। १२२४

मेरी प्राप्ति के लिये कोई यत्न करना नहीं पड़ता। इस क्रमयोग के उपाय से मैं सचमुच मिल जाता हूँ। १२२५

एक शिष्य और एक गुरु, ऐसा जो व्यवहार यहाँ दृढ़ हो गया है, वह केवल मेरी प्राप्ति का एक प्रकार समझना चाहिये। १२२६

हे अर्जुन, धरती के पेट में सम्पत्ति तो है ही, लकड़ी में अग्नि सिद्ध होती ही है, स्तन में दूध तैयार होता ही है। १२२७

किन्तु यह जो है, वह मिलने के लिये कुछ प्रयत्न करने पड़ते हैं। नहीं तो मैं इन उपायों में सिद्ध ही हूँ। १२२८

यह फल के ऊपर आधारित उपाय, श्री कृष्ण क्यों कह रहे हैं, ऐसा पूछोगे, तो इस समय कहने का कारण यह है: १२२९

गीतार्थ के सब गुण मोक्ष दायक हैं, फिर अन्य शास्त्रों में कहे हुए उपाय, क्या प्रमाणसिद्ध नहीं हैं ? १२३०

वायु केवल बादलों को दूर करता है, वह सूर्य को उत्पन्न नहीं करता। या हाथों से काई दूर करने के बाद, पानी उत्पन्न नहीं होता। १२३१

इसी तरह से आत्मा-दर्शन के बीच में जो अविद्या का मल होता है, शास्त्र उसे दूर करते हैं। नहीं तो मैं निर्मल आत्म-प्रकाश हूँ ही। १२३२

इसीलिये सब शास्त्र अविद्या-नाश के केवल साधन ही हैं, इसके सिवाय वे आत्मज्ञान में स्वतंत्ररूप से उपयोगी नहीं। १२३३

उन अध्यात्म-शास्त्रों को जब 'सत्य क्या है', यह विचारना होता है, तब वे जहाँ आते हैं, वह यह गीता है। १२३४

सूर्य के पूर्वदिशा भूषित करने के बाद जैसे सर्व दिशा सतेज हो जाते हैं। उसी तरह से इस शास्त्रेश्वरी गीता के योग से सर्व शास्त्र सनाथ हो गए हैं। १२३५

अतः इस शास्त्रेश्वरी ने पहले ही अनेक उपाय विस्तार से कहे हुए हैं जिससे आत्मा हाथ में आ जाती है। १२३६

परन्तु एक बार सुनने के बाद ऐसी प्राप्ति की सम्भावना कम है, यह भाव अन्तःकरण में रखकर कृपालुपन से श्री कृष्ण, १२३७

फिर एक बार वह ही सिद्धांत शिष्य के मन में स्थिर हो, इसीलिये अपने कमल मुख से कह रहे हैं। १२३८

और प्रसंग से गीता का यह आखिर का भाग होने के कारण, यह एक अर्थतत्त्व आरम्भ से फिर कहते हैं। १२३९

जो गीता के मध्यभाग में अलग-अलग अधिकार कहते समय अनेक सिद्धांतों से कहा हुआ है। १२४०

तो वे सब सिद्धांत इस गीता शास्त्र में कहे हुए हैं. ऐसा आगे-पीछे का सम्बन्ध न जानते हुए जो कोई मान ले, १२४१

तो महासिद्धांत की मर्यादा में अनेक उप-सिद्धांतों की भी मर्यादा होती है, उनका अनुसरण करके, जैसा ग्रंथ को आरम्भ किया, वैसा ही वे पूरा कर रहे हैं। १२४२

इसमें अविद्या-नाश, यह मूल सिद्धांत, और उसके योग से मोक्ष-प्राप्ति, यह अन्तिम सिद्धांत। इन दोनों को साधन, केवल एक ज्ञान। १२४३

यह इतना सारा अनेक प्रकार से अब तक के ग्रंथ विस्तार में जो कहा गया, वह संक्षिप्त में फिर कहना चाहिये । १२४४

इसीलिये साध्य हाथ में आने के बाद, साधन का स्वरूप भगवान फिर से कहने लगे हैं। १२४५

गीता ५६

फिर भगवान कहने लगे· हे अर्जुन, वह क्रमयोगी इस निष्ठा से मैं होकर, मेरे स्वरूप में लीन होता है। १२४६

वह स्वकर्मों के निर्मल पुष्प से मेरी उत्तम पूजा करके, उसके प्रसाद से ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर लेता है। १२४७

वह ज्ञान-निष्ठा जब होती है, उस समय मेरी भक्ति उसमें आनंदित हो जाती है और उस भक्ति के साधन से मेरे साथ समरस होकर वह सुखी हो जाता है। १२४८

और विश्व को प्रकाशित करने वाला मैं जो आत्मा, उस मुझ को, अपने में सर्वव्याप्त करके जो मुझे अनुसरण करता है। १२४९

अपना आकार छोड़कर नमक जैसे पानी का आश्रय लेता है। या वायु अपना घूमना बन्द कर, जैसे आकाश में निश्चल हो कर रहता है। १२५०

उसी तरह से बुद्धि से, काया से, वाचा से, जो मेरा आश्रय करके रहता है। क्वचित निषिद्ध कर्म भी उसके हाथ से हो जाए, १२५१

फिर भी गंगा के सम्बन्ध से रास्ते की नालियाँ या महानदी, जैसे एक रूप ही हो जाती हैं, उसी तरह से मेरा ज्ञान होने के बाद, शुभ-अशुभ एक ही हो जाता है। १२५२

या जंगली व उत्तम, ऐसा पेड़ों का भिन्नत्व तब ही सम्भव है जब उन दोनों को अग्नि ने आलिंगन नहीं दिया। १२५३

या पाँच कस का अथवा सोलह कस का, यह भेद सोने में तभी तक रहेगा जब तक पारस के घर्षण से वे एकरूप नहीं हुए हों। १२५४

इसी तरह से शुभ-अशुभ ऐसा तब तक भासमान होता है जब तक, मैं अकेला सर्वत्र व्याप्त रहता हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं होता। १२५५

अरे, रात व दिन, यह द्वैत भाव तब तक रहेगा जब तक सूर्य के गाँव में नहीं गए। १२५६

इसीलिये मेरी प्राप्ति के बाद अर्जुन, उसके सर्व कर्म नष्ट होकर वह मोक्ष-आसन पर जा बैठता है। १२५७

देश, काल, वस्तु, स्वभाव, इन किसी से ही नाश नहीं होता, ऐसा मेरा अविनाश पद उसको प्राप्त होता है। १२५८

संक्षिप्त में, मेरी आत्मा की आनंद वृत्ति, उसको मिलती है। फिर उसके बाद, न मिलने वाला, ऐसा कौन-सा सुख होगा ? १२५९

गीता ५७

इसलिये हे अर्जुन, तू अपने सर्व कर्मों को मेरे स्वरूप में छोड़दे ।१२६०

परन्तु हे वीरोत्तम, वह संन्यास तू 'करना है' इसीलिये न कर । तो अपनी चित्तवृत्ति में आत्मा का विचार धारण करके कर । १२६१

फिर उस विवेक-शक्ति से स्वयं कर्म से अलग होकर, अपने को मेरे स्वरूप में देखोगे । १२६२

और कर्म की जन्मभूमि, ऐसी जो प्रकृति है, उसको अगर तुम अपने से अलग दूर देखना चाहोगे; १२६३

तो वहाँ प्रकृति तुम्हारे से अलग रहेगी नही । क्या रूप बिना छाया रह सकती है ? १२६४

इसी कारण प्रकृति का लोप होने के बाद, सहज कर्मसंन्यास सफल हो जाएगा । १२६५

फिर सर्व कर्म नाश होते ही अपने में केवल मत्स्वरूप आत्मा ही रह जाता है । उस आत्मा के पास तू अपनी बुद्धि, पतिव्रता जैसी एकनिष्ठ करके रख । १२६६

इसी तरह से जब बुद्धि अनन्य भाव से मुझमें प्रवेश करेगी, तब चित्त, चित्त-वृत्ति छोड़कर, मुझे ही भजेगा । १२६७

ऐसा चित्तवृत्ति गया हुआ, अकेला चित्त, तू मेरे में सदैव जड़कर रहे, ऐसा कर । १२६८

गीता। ५८

फिर ऐसी अभिन्न सेवा में जब चित्त मुझ में समाविष्ट होकर रहेगा, उस समय मेरी सम्पूर्ण कृपा हो जाती है, ऐसा समझो । १२६९

उस समय सर्व दु:खों के आगर, जो जन्म-मरण के भोग भोगने पड़ते हैं, वे कष्टकारक होते हुए भी, तेरे लिये सुगम हो जाएँगे । १२७०

सूर्य के तेज से जब आँख प्रकाशमान हो जाती है, तो उसे अन्धेर की क्या चिन्ता ? १२७१

इसी तरह से मेरे प्रसाद से जिसका क्षुद्र जीवभाव नंष्ट हो जाएगा, उसको संसार-भय कैसे जड़ेगा ? १२७२

इसीलिये हे अर्जुन, मेरे प्रसाद से तुम इस संसार की दुर्गति को पार करोगे । १२७३

या तुम अहम् भाव से मेरे सब विचार कान व मन तक जाने ही नही दोगे, १२७४

तो, नित्य मुक्त अव्यय ऐसा जो तू है, वह झूठा होकर, देह-सम्बन्ध के कष्ट अपने ऊपर लेता रहेगा । १२७५

जिस देह-सम्बन्ध में कदम-कदम पर आत्म घात सहन करते हुए, मनुष्य को कभी विश्राम नहीं मिलता । १२७६

तुम मेरे इस कहने का विचार नहीं करोगे तो इतना मरण से भी कठिन मरण तुम्हें सहना पड़ेगा । १२७७

गीता ५९

अनुपान का द्वेष करने वाला, ज्वर बढ़ाता रहता है । या दीप का द्वेष करने वाला, अन्धेर में रहता है । इसी तरह से विवेक का द्वेष करने से अहंकार पुष्ट हो जाता है । १२७८

अपनी देह का नाम 'अर्जुन', और दूसरे की देह का नाम 'स्वजन', और संग्राम का नाम, 'मलिन, ऐसा पापाचार,' १२७९

इस अपनी कल्पना से इन तीन गोष्ठी को तीन नाम देकर तुम 'युद्ध न करूँगा,' ऐसा , १२८०

अन्तःकरण में अंतिम निश्चय करोगे, तो तुम्हारा नैसर्गिक स्वभाव, उस निश्चय को व्यर्थ कर देगा। १२८१

और 'मैं अर्जुन' इन आत्मजनों का वध करना यह 'पातक'। ऐसे विचार में माया सिवाय और कुछ अन्य तत्व है क्या ? १२८२

प्रथम, तुम योद्धा बने हुए हो। फिर लड़ने के लिये हाथ में शस्त्र धरोगे, या न लड़ने की शपथ लोगे ? बताओ। १२८३

इसीलिये, नहीं लड़ूँगा, ऐसा जो तू कह रहा है, वह झूठा है। जग-परम्परा से और लोगों की दृष्टि से भी, यह मान्य होने वाला नहीं । १२८४

तुम न लड़ोगे, ऐसा जो मन का निश्चय किया है, उसे प्रकृति बदल देगी ही। १२८५

गीता ६०

पूर्व दिशा में बहने वाला पानी, पश्चिम के प्रवाह से कोई लेना पसंद करे, तो वह केवल आग्रह ही रहेगा। यह ध्यान में रखो। १२८६

ज्यों का बीज, मैं ज्यों बनकर नहीं उगूँगा, ऐसा जो कहे, तो ही तेरा यह स्वभाव बदलना सम्भव है। १२८७

इसी तरह से हे बुद्धिमन्त, तू क्षात्र संस्कार से सिद्ध, ऐसे स्वभाव का बना हुआ है। फिर 'मैं नहीं उठूँगा' कहेगा तो यह युद्ध व्यवहार तुझे उठाएगा। १२८८

हे अर्जुन, तुझे प्रकृति ने जन्म से ही शौर्य, शक्ति, दक्षता, ऐसे गुण दिये हुए हैं। १२८९

तो उन सर्व गुणों के अनुरूप न चलकर, अर्जुन, तुम चुप नहीं रह सकोगे। १२९०

उन गुणों से तू धनुर्धारी, जकड़ा हुआ है। इसीलिये तू निश्चित यह क्षात्र कर्म के लिये प्रवृत्त हो ही जाएगा। १२९१

नहीं तो अपने मूल स्वभाव का विचार न करते हुए, केवल 'न लडूँगा' ऐसा अटल व्रत तुम जो रखोगे, १२९२

तो जिसको हाथ-पैर बाँधकर रथ में रखा हो, वह न चलते भी सब जगह जाता है। १२९३

उसी तरह से 'मैं कुछ भी नहीं करूँगा', ऐसा कहकर चुप रहना चाहोगे, फिर भी तुम करोगे ही। १२९४

विराटदेश का राजा उत्तर, युद्ध छोड़कर भागने के बाद, तुम लड़ने के लिये क्यों निकले ? यह तेरी क्षात्र वृत्ति तुझे लड़वाएगी। १२९५

ग्यारह अक्षौहिणी, महावीर, तुझ अकेले ने रणांगन पर पराजित किये। वह तेरा स्वभाव, हे धनुर्धारी, तुझे लड़वाएगा। १२९६

देखो, रोग क्या रोगी को अच्छा लगता है ? दरिद्र मनुष्य को क्या दारिद्र्य पसंद आता है ? किन्तु वह अदृश्य शक्ति अपने बल से भोग करवाती है। १२९७

यह दैव, ईश्वर के अधीन होने के बाद, बुरा करेगा नहीं। और वह ईश्वर तो तेरे हृदय में है। १२९८

गीता ६१

जो, प्राणी मात्र के अन्तःकरण में, हृदय के महा आकाश में, चैतन्य वृत्ति की सहस्त्र किरणों सहित प्रगट हुआ होता है, १२९९

अवस्थात्रेय त्रैलोक्य को, सर्वत्र प्रकाशमान करके अन्यथा दृष्टि वाले प्रवासी जनों को जागृत करता है। १३००

दृश्य-जग रूपी सरोवर में, विषय-कमल का विकास करके, मनादि छः इन्द्रिय-पाँव वाले जीव-भ्रवर का पोषण करता है। १३०१

यह रूपक छोड़दो, ऐसा वह ईश्वर सर्व प्राणीमात्र का अहम् भाव पहन कर सदैव आनंद में रहता है। १३०२

अपनी माया का परदा लगाकर, उस परदे के बाहर, चौरासी लक्ष नट-नटी के छाया चित्र, अकेला ही डोरी से नचवाता रहता है। १३०३

उनमें ब्रह्मादि से लेकर कीटकों तक सर्व भूतों को, देहाकार की योग्यता लाकर दिखाता है। १३०४

वहाँ जो देह जिनको योग्य लगें, वे उनके सम्मुख मांडे हुए रखे दिखते हैं। उसी पर, 'यह मेरा', ऐसा कहते हुए वे आरूढ़ हो जाते हैं। १३०५

जैसा सूत, सूत में फँसा हुआ हो। घास, घास से बाँधी हुई हो। या बालक ने पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखा हो। १३०६

उसी तरह से जीव, देह के रूप से अपने को ही अलग रूप में देखकर, वहाँ आत्मत्व का आविष्कार करता है। १३०७

इसी तरह से ये सर्व प्राणी, शरीराकारी यंत्र हैं ऐसा समझो। उनको दैव की डोरी से वह नचवाता है। १३०८

उस समय जिसको जो कर्म-सूत्र बँधा हुआ होगा, उसको उस प्रकार की हलचल प्राप्त होने लगती है। १३०९

इतना ही नहीं अर्जुन, वायु जैसे आकाश में घास को घुमाती है, उसी तरह से सर्व प्राणीमात्र को संसार में घुमाता रहता है। १३१०

चुम्बक की सहाय से लोहा उसकी खिंचावट में आ जाता है। उसी तरह से ईश्वर की सत्ता के कारण सर्व प्राणीमात्र हलचल करते हैं। १३११

अर्जुन, अकेले चन्द्र के कारण जैसे समुद्र भरती और घटौती, ऐसी हलचल में चलता रहता है। १३१२

तो उस समुद्र को भरती आना, सोमकान्त का पिघलना, और चन्द्रविकासी कमल फूलना, या चकोर पक्षी की समस्या दूर करना, यह जैसे कार्य होते रहते हैं। १३१३

उसी तरह से जिस एक ईश्वर से बीजप्रकृति के अनुसार अनेक प्राणी नचाए जाते हैं, वह तेरे हृदय में ही है। १३१४

अर्जुन, अर्जुनपन धारण न करते हुए, 'मैं' ऐसा जो कुछ तेरे में प्रगट होता है, वह तात्त्विक दृष्टि से उसी का ही रूप है। १३१५

इसीलिये वह प्रकृति को प्रवृत्त करेगा, यह निश्चित है। और लड़ूँगा नहीं, ऐसा कहोगे, तब भी वह प्रकृति तुझे लड़वाएगी। १३१६

इसीलिये ईश्वर स्वामी है, उसने प्रकृति को नियुक्त किया हुआ है। वह हमारी इन्द्रियों को आसानी से कार्य में लगाती है। १३१७

तुम, करना न करना, दोनों ही प्रकृति के मन पर छोड़दो क्योंकि वह प्रकृति अन्तर में रहने वाले ईश्वर के अधीन है। १३१८

गीता ६२

जैसे गंगा का पानी समुद्र को जाकर मिलता है, वैसे तुम अपना अहम् भाव, वाचा, अंग, चित्त, ऐसा सब अर्पण कर, उसकी शरण जाओ। १३१९

फिर उसके प्रसाद से, सर्व शान्ति जहाँ लय होती है, ऐसी स्वरूप शान्ति का पति होकर, उसीके साथ तुम आनंदसे रममाण हो जाओगे। १३२०

जिसके कारण उत्पत्ति उत्पन्न हो जाती है । विश्राम जहाँ विश्राम करता है । अनुभूति जिस अनुभव का अनुभव लेती है । १३२१

उस निजात्म पद का तू चिरकाल राजा होकर रहेगा । ऐसा, लक्ष्मीपति श्री कृष्ण ने अर्जुन को कहा । १३२२

गीता ६३

यह गीतानाम का प्रसिद्ध रत्न है जो सर्व वाङ्मय का सार है । और जिसके संयोग से आत्मा हस्तगत हो जाती है । १३२३

'ज्ञान' ऐसे प्रचलित नाम से, वेदान्त ने जिसका महत्व वर्णन किया । उसी कारण जिस ज्ञान को इस जग में निर्मल कीर्ति प्राप्त हो गई । १३२४

बुद्धि आदि जो ज्ञानशक्ति हैं, वे जिस शास्त्र के प्रकाश-बिन्दु है । या जिन शास्त्रों को देखने के बाद, सर्व द्रष्टा ऐसा मैं ही दिखता हूँ । १३२५

वह यह आत्म ज्ञान, जो मेरे गुह्य का भी गुप्त धन है । फिर भी अर्जुन, यहाँ तू होने के कारण, तेरे से कैसे छुपाकर रखूँ ? १३२६

इसीलिये अर्जुन, मैंने करुणा से व्याप्त होकर, अपना यह गुप्त धन तुझे दिया है । १३२७

प्रेम भर कर, भूलने के बाद, माता जैसे अपने बच्चे को कुछ भी नाम से बुलाती है, मेरा प्रेम भी ऐसा ही है । किन्तु मैं ऐसा कुछ भी नहीं करूँगा । १३२८

यहाँ आकाश छानकर ले ले, या अमृत-फल छील कर ले लें, या दिव्य से दिव्य करवाले, ऐसा मैंने किया हुआ है । १३२९

जिसके आत्मप्रकाश से पाताल का परमाणु भी दिखता है, उस सूर्य को भी जैसे अञ्जन डाले । १३३०

इसी तरह से मैंने सर्व ज्ञान, पूर्ण चुनकर जो कुछ सच्चा अच्छा है, वह अर्जुन, तुझे कह दिया। १३३१

अब इसके बाद तुम्हारे लिये क्या अच्छा है, इसका विचार करो। और विचार करने के बाद, तुझे जैसा पसंद आए वैसा करो। १३३२

यह भगवान का बोल सुनकर अर्जुन चुप ही रहा। उस समय भगवान कहने लगे: हे अर्जुन, अरे तू अच्छा विचारवान है ना ? . १३३३

अन्न परोसने वाले के सामने जब कोई भूखा, संकोच से 'बस, बस' कहे, तो वह स्वयं दुःखी हो जाएगा, और झूठ बोलने का दोष भी उसे लगेगा। १३३४

इसी तरह से, सर्वज्ञ, ऐसे श्री गुरु मिलने के बाद, संकोच से उनको आत्मज्ञान न पूछे, १३३५

तो, अपने को ही फँसाने जैसा हो जाएगा। और फँसाने का पाप भी लगेगा। सच कहें, तो ऐसा करने वाले ने अपना ही हित खो दिया। १३३६

तेरा चुपपन देखकर, अर्जुन, मुझे ऐसा विचार आया कि फिर से एक बार तुझे ज्ञान कहना चाहिये। १३३७

उस समय अर्जुन ने कहा: हे उदार ! आपने मेरे अन्तःकरण को अच्छी तरह से जाना है, ऐसा जो मैं कहूँ तो बताओ, आपके सिवाय दूसरा कोई जानता है क्या ? १३३८

और सब केवल ज्ञेय है। तू अकेला आत्म स्वभाव से ज्ञाता है। देखो, सूर्य की 'सूर्य' कहकर स्तुति करनी चाहिये क्या ? १३३९

यह सुनकर श्री कृष्ण बोले: अरे, स्तुति क्यों ! तू समझदार है, यह स्तुति क्या कम हो गई ? १३४०

गीता ६४

फिर भी एक बार विस्तृत ध्यान से मेरा भाषण अच्छी तरह से सुन लो । १३४१

यह, कुछ बोलना है इसीलिये बोलें, और सुनना है इसीलिये सुनें, इस स्वरूप का नहीं । यह तुम्हारा सौभाग्य है, ऐसा समझो । १३४२

कछवी के बच्चों को अर्जुन, दृष्टि ही पोषण देती है । या चातक के घर का पानी, मेघ ही ढोते हैं । १३४३

जो व्यवहार जहाँ होता ही नहीं, वहॉ भी उसका फल मिल जाता है । जब दैव अनुकूल हो जाए, तब क्या नहीं मिलेगा ? १३४४

नहीं तो, द्वैत का आना-जाना समाप्त होकर, ऐक्य के परिवार का आनंद भोगें, ऐसा यह रहस्य है । १३४५

हे प्रियतम अर्जुन, जहॉ अनौपचारिक प्रेम होता है, वहॉ दूजापन नही होता । उनकी आत्मा एक ही होती है.ऐसा समझो । १३४६

अर्जुन, दर्पण के अन्दर स्पष्ट दिखने के लिये उसको स्वच्छ किया जाए । तो वह दर्पण के लिये नहीं होता, अपने लिये होता है । १३४७

इसी तरह से हे पार्थ, तेरे निमित्त से, मैं मेरे लिये ही बोल रहा हूँ । मेरे और तुम्हारे में, मैं और तू, ऐसा कुछ है क्या ? १३४८

इसीलिये मेरे अन्तःकरण का रहस्य, तू जो मेरा प्राण है, उसी को मैं कह रहा हूँ । ऐसी अनन्य गति का मुझे व्यसन है । १३४९

अर्जुन, पानी को अर्पण होते समय, जैसे नमक अपने को भूल जाता है । और पूर्णतः उसका हो जाने में, उसे संकोच नहीं होता । १३५०

इसी तरह से, तू मेरे से कुछ छुपाता नहीं. तो मैं तेरे से क्या छुपा लूँ ? १३५१

इसीलिये जिसका ज्ञान होने के बाद, सर्व गुह्य अपने आप खुले हो जाएँगे वह मेरा गौप्य, अब अच्छे शब्दों में कहता हूँ, सुनो। १३५२

गीता ६५

तो हे वीर अर्जुन, तू अपने सर्व अन्तर बाह्य व्यापार में, मुझ सर्वात्मक को विषय बना। १३५३

अपने सर्वांग से, वायु जैसे आकाश में मिलकर रहता है। वैसा तुम अपने सर्व कर्मों मे मेरे से ही मिलकर रहो। १३५४

संक्षिप्त में, तुम अपने मन को रहने का स्थान, मैं, ही करो। मुझे ही सुनने से तुम्हारे कान भरे रहने दो। १३५५

जो संत आत्मज्ञान से मेरे ही निर्मल रूप होते हैं, उनकी ओर ऐसे प्रेम से देखो जैसे कामिनी देखती है। १३५६

मैं जो सर्व को आश्रय स्थान हूँ, उस मेरी निर्मल नामावली को, अन्तःकरण में स्थिर होने के लिये, अपनी वाणी पर चढ़ाओ। १३५७

हाथों का कार्य, पाँव का चलन. यह सब मेरे लिये हो जाए, ऐसा करो। १३५८

स्वजनों पर, या दूसरों पर, जो उपकार करोगे, उस यज्ञ से तुम मेरे ही श्रेष्ठ याज्ञिक बनो। १३५९

यह एक-एक मैं तुझे क्या पढ़ाऊँ ! तुम अपने में केवल सेवक होकर रहो, और जो सेव्य होगा वह तुम मुझे ही करो। १३६०

उस समय सर्व प्राणियों के बारे में द्वेष-भावना नष्ट होकर सब जगह नम्रता आ जाएगी । ऐसी नम्रता से तू मुझ अकेले का नमन कर । उससे मेरा परम आश्रय तुझे प्राप्त होगा । १३६१

फिर इस सर्व जगत में, तीसरे का सम्बन्ध न रहकर, तुझे और मुझे एकात्म स्थिति प्राप्त होगी । १३६२

तब किसी भी अवस्था में मैं तेरा, और तू मेरा उपभोग लेते रहेंगे । ऐसा सहज सुख बढ़ता रहेगा । १३६३

और अन्त में अड़चन करने वाला दूसरा जब नष्ट हो जाएगा, तब मेरे ही स्वरूप में तुम मुझे मिलोगे । १३६४

जैसे जल में के प्रतिबिम्ब को, जलनाश से मूल स्वरूप में मिलते समय , कुछ उलझन होती है क्या ? १३६५

हवा गगन में, व तरंग पानी में मिलने में, किसकी अड़चन ? १३६६

इसीलिये तुम और मैं, आज जो देह-धर्म में दिखते हैं, फिर वह देह-धर्म जाने के बाद तुम मैं हो जाओगे । १३६७

इस बोलने के बाद, होगा न होगा, ऐसा विचार मत करो । इसमें कुछ अन्य होगा, तो तेरी ही मुझे शपथ है । १३६८

किन्तु तेरी शपथ लेना अर्थात् मेरे आत्म स्वरूप पर ही शक करने जैसा है । प्रेम की जाति ऐसी है कि लज्जा-स्मरण होता नहीं । १३६९

नहीं तो, वेदों ने जिसको निश्प्रपंच कहा । जिसके कारण यह विश्वाभास सच्चा लगता है । जिसकी आज्ञा का प्रताप, काल को जीतता है ।१३७०

वह मैं परमेश्वर सत्य संकल्पी हूँ, और जग का हितकर्ता पिता हूँ, फिर शपथ का आक्षेप क्यों स्वीकार करें ? १३७१

किन्तु अर्जुन, तेरे आकर्षण से मैंने मेरी ईश्वरत्व के लक्षण छोड़ दिये, और यह मेरा देहधारी अर्धपन अब सर्वस्वी तेरा है। १३७२

किन्तु अर्जुन, अपना कार्य हो जाए, इसलिये राजा जैसे स्वयं अपनी ही शपथ लेता है, वैसा ही मेरा शपथ लेना है। १३७३

उस समय अर्जुन बोला : भगवान ने ऐसा कुछ अजीब नही बोलना चाहिये। महाराज, मेरा सब कार्य केवल आपके नाम से ही होता है। १३७४

फिर भी आप मुझे कहते रहते हैं, और कहते समय उपदेश भी देते रहते हैं। इस आपके विनोद को कुछ अंत है क्या ? १३७५

सूर्य का एक अंश, कमलवन का विकास करता है। किन्तु उस बहाने से अपना सम्पूर्ण प्रकाश वह पूरे जग को सदैव देता रहता है। १३७६

मेघ, पृथ्वी को शान्त करके, सागर ही भर जाए, ऐसी महान वर्षा करते हैं। किन्तु वहाँ और ही कारण होता है : चातक। १३७७

इसीलिये तुम्हारे औदार्य को मैं निमित्त हो गया, ऐसा क्यो न कहें। हे भगवान कृपानिधि, इस तेरे दान में जग को लाभ होगा। १३७८

तब भगवान कहने लगे : अरे, छोड़दो। ऐसे बोलने की आवश्यकता नहीं। तुम इन उपायों से ही मुझे मिलोगे, यह सत्य है। १३७९

नमक का ढेला समुद्र में गिरने के बाद, हे अर्जुन, जिस समय घुल जाएगा। उस समय उसको, बचकर रहने का क्या कारण होगा ? १३८०

इसी तरह से सर्वत्र मुझे ही भजने के बाद, सब मैं ही होने के बाद, सम्पूर्ण अहम्ता जाकर तत्वतः तू मैं ही हो जाएगा। १३८१

यह देखो, कर्म से लेकर मेरी प्राप्ति तक तुझे उपाय के सर्व मार्ग स्पष्ट दिखाए। १३८२

उनमें प्रथम, सर्व कर्म मुझे अर्पण करने के बाद, सब जगह मेरी प्रसन्नता प्राप्त हो जाती है । १३८३

बाद में मेरे उस प्रसाद से मेरे सम्बन्ध का ज्ञान सिद्ध हो जाता है, और उससे मेरे स्वरूप में निश्चित मिलन हो जाता है । १३८४

फिर उस समय साध्य और साधन, दोनों ही नष्ट हो जाते हैं । संक्षिप्त में तुझे कुछ करना रहता ही नहीं । १३८५

तू अपने सर्व कर्म मुझे सदैव अर्पण करता रहा है, इसीलिये आज मेरी प्रसन्नता तुझे मिली है । १३८६

इसीलिये उस प्रसाद बल पर, इतना ही नहीं, तो तेरे शौर्य पर, हम एकदम पुलकित होने में भूले नहीं । १३८७

जिससे सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट होकर केवल मैं ही अकेला सर्वत्र दिखने लगता हूँ । उस मूल अवस्था को जानने का उपाय, यह गीता का रूप है । १३८८

मैंने तुझे मेरा ज्ञान अलग-अलग प्रकार से कह दिया । उससे धर्म अधर्म ऐसी भावना जिसने उत्पन्न की, वह अज्ञान तू छोड़दे । १३८९

गीता ६६

जैसे आशा, दुःखों को जन्म देती है; निन्दा, संकट खींच लाती है; और दुर्भाग्य, दैन्य पैदा करता है । १३९०

इसी तरह से स्वर्ग-नरक दिखाने वाला अज्ञान, धर्म-अधर्म ऐसी भावना उत्पन्न करता है । इन सबका त्यागकर. केवल इस ज्ञान के योग से, १३९१

सर्पाकार का त्याग करके, डोरी का अनुभव करो । या निद्रा त्यागकर जैसे स्वप्न का घर-संसार बन्द करो । १३९२

या पीलिया जाने के बाद चाँदनी का पीला भास जैसे जाता है, अथवा बीमारी जाने के बाद जैसे मुँह का कड़वापन चला जाता है । १३९३

अरे, दिन की ओर पीठ करने से जैसे मृगजल भाग जाता है, या लकड़ी-त्याग से जैसे अग्नि-त्याग हो जाता है । १३९४

उसी तरह से अज्ञान मूलक, ऐसे धर्म-अधर्म, इन बेकार भावनाओं का त्याग करके, सर्व धर्मजात का तू त्याग कर । १३९५

फिर अज्ञान जाने के बाद अपने आप से ही मैं अकेला रह जाता हूँ, जैसे निद्रा के साथ स्वप्न जाने पर, हम अकेले रह जाते है । १३९६

इसी तरह से मेरे अकेले सिवाय वहाँ और जैसे कुछ दूसरा रहता नही, उस जगह सोहम् बोध से अनन्य होकर रहो । १३९७

अपना अलगपन छोड़कर मेरे साथ एकत्व का अनुभव लेना, इसी का ही अर्थ मेरी शरण में आना है । १३९८

मुझे शरण आने से ऐसा ऐक्य हो जाता है कि जैसा घट का नाश होने के बाद, घटाकाश का आकाश में प्रवेश होना । १३९९

स्वर्ण का मणि जैसे स्वर्ण को, या तरंग जैसे पानी को, वैसे हे अर्जुन, तुम मुझे शरण आ जाओ । १४००

नहीं तो अर्जुन, सागर के पेट में बड़वानल शरण लेकर रहा हुआ है, अब वह जलाएगा नहीं, ऐसी झूठी शरण की बात तुम छोड़दो । १४०१

मेरी शरण आओ और जीवन भी भोगते रहो, ऐसे जो बोलते हैं उनको धिक्कार हो ! ऐसा कहते समय उनकी बुद्धि लज्जित कैसे नहीं होती ! १४०२

अरे, कोई सामान्य राजा ने जिसका अंगीकार किया हुआ हो, वह सामान्य दासी भी उसके समान हो जाती है। १४०३

फिर मैं विश्वेश्वर मिल जाता हूँ और जीवन का फँदा छूटता नहीं, ऐसा झूठा भाषण कानों पर आने मत दो। १४०४

इसीलिये मत्स्वरूप होकर मेरी अनुभूति सहज ले सकते हैं यह इस ज्ञान से तुम सिद्ध कर दिखाओ। १४०५

फिर छाछ में से निकला हुआ मक्खन पुनः छाछ में डाला जाए तो जैसे छाछ उसे स्वीकार नहीं करता। १४०६

लोहे को मिट्टी पूरा खा लेती है, किन्तु पारस की संगति से सोना होने के बाद, वह मिट्टी उसे मैलापन भी नहीं ला सकती। १४०७

यही नहीं, काष्ट से मंथनकर निकली हुई अग्नि, फिर काष्ट में जा नहीं सकती। १४०८

उसी तरह से अद्वैत भाव से मुझे शरण आने के बाद, तुझे धर्म-अधर्म की बाधा रहेगी नहीं। १४०९

अर्जुन, सूर्य क्या अन्धेर देखता रहता है ? या जागृत अवस्था में क्या स्वप्न दिखेगा ? १४१०

इसी तरह से मेरे से एकरूप होने के बाद, सर्वरूप, ऐसा मेरे सिवाय, और कुछ बाकी रहने का क्या कारण ? १४११

इसीलिये ऐसी कुछ भी चिन्ता तू अपने में सम्भालना नहीं। तेरा पाप व पुण्य, यह भी सब मैं हो जाऊँगा। १४१२

पानी में गिरे हुए नमक को सारा पानी ही विचार का विषय हो जाता है। इसीतरह से अनन्यभाव से शरण आए हुए तुझे, मैं वैसा ही हो जाऊँगा। १४१३

पाप-भावना से द्वैत उत्पन्न होना, यही सर्व बंधन का लक्षण है। वह पाप मेरे ज्ञान से पूर्ण नष्ट हो जाएगा। १४१४

इतने से भी अर्जुन, तुम्हारी बंधन से मुक्तता हो ही जाएगी। किन्तु ज्ञान-प्रकाश से जब मुझे प्राप्त करोगे, तब मैं ही तुझे पूर्ण मुक्त करूँगा। १४१५

इसीलिये इसके आगे तुम यह चिन्ता अन्तःकरण में न रखो। हे बुद्धिमान, तुम ज्ञान पूर्वक मुझ अकेले को शरण आ जाओ। १४१६

सर्वरूप से जो रूपवान है, सर्व दृष्टि से जो दृष्टिवान है, और सब जगह निवास करने वाला है, उस श्री कृष्ण ने ऐसा कहा। १४१७

और फिर उन्होंने अपना श्यामवर्णीय कंगनयुक्त दाहिना हाथ आगेकरके शरणागत भक्तराज अर्जुन को आलिंगन दे दिया। १४१८

जिसकी प्राप्ति न होने के कारण, बोलना बुद्धि को बगल में पकड़कर वापस हो जाता है। १४१९

ऐसा जो कुछ है, जो वाचा व बुद्धि दे नहीं सकतीं, वह देने के विचार से भगवान ने आलिंगन दे दिया। १४२०

अंतःकरण को अंतःकरण मिल गया। अपने हृदय का, अर्जुन के हृदय में डाला। और द्वैत न निकालते हुए, अर्जुन को अपने जैसा किया। १४२१

दिये से दिया जला दे, ऐसा वह प्रसंग हो गया । द्वैत न निकालते हुए, अर्जुन को अपने में ले लिया । १४२२

उस समय अर्जुन में जो सुख की बाढ आ गई, वहाँ, भगवान बड़े होते हुए भी, उस बाढ़ में डूब गए । १४२३

सागर सागर को मिल जाने के बाद, जो 'मिलना' रहता नहीं किन्तु सागर दूना हो जाता है और बढ़कर आकाश को छूता है । १४२४

उसी तरह से उन दोनों का मिलन. दोनों ही सम्भाल नहीं सकते थे । यह और कौन जानेगा ? संक्षिप्त में, सर्व विश्व कृष्णमय हो गया । १४२५

इसी तरह से वेदों का मूलसूत्र, और सर्व अधिकार से पवित्र हुआ, यह गीता-शास्त्र श्री कृष्ण ने प्रकट किया । १४२६

यहाँ गीता, यह वेदों का मूल है, यह कैसे समझ में आया, ऐसा कहोगे; तो उसका प्रसिद्ध कारण बताता हूँ । १४२७

तो, जिसके निश्वास में से सर्व वेदों का जन्म हो गया, उस सत्यवादी श्री कृष्ण ने गीता शास्त्र निश्चय पूर्वक स्वमुख से बोला है । १४२८

इसीलिये गीता वेदों का मूल है. ऐसा मानना ठीक है । यहाँ और भी एक कारण है । १४२९

जो स्वरूप के कारण नष्ट नहीं होता, जिसका विस्तार उसी में ही छुपा हुआ है, उसको इस जग में 'बीज' ऐसा कहते हैं । १४३०

फिर बीज में जैसे वृक्ष समाया हुआ होता है, इसी तरह से काण्डत्रयात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र गीता में बीजरूप से हैं । १४३१

इसीलिये यह श्री गीता, वेदों का ही बीज है, ऐसा मुझे लगा और वैसा वह दिखता भी है । १४३२

रत्न-भूषण से जैसे सर्वांग सुशोभित हो जाता है, उसी तरह से वेदों के तीनो ही भाग गीता में अच्छी तरह से प्रकट हुए हैं । १४३३

वह कर्मादिक तीनों काण्ड, गीता में कहाँ-कहाँ प्रकट हो गए, यह दिखाता हूँ, सुनलो । १४३४

तो, पहला जो अध्याय, वह शास्त्र विचारों की प्रस्तावना है । और दूसरे अध्याय में सांख्य का बुद्धियोग कहा हुआ है । १४३५

स्वतंत्रपन से मोक्ष देने वा[illegible] प्रधान, ऐसा यह सांख्य शास्त्र है । इतना महान तत्व दूसरे अध्याय में प्रकट हो गया है । १४३६

बाद में अज्ञान से बँधे हुए मनुष्य को मोक्ष-पद पर बैठने के लिये उपाय कहने के लिये तीसरे अध्याय से आरम्भ किया है । १४३७

जहाँ देह सम्बन्ध के अभिमान का बंधन छोड़कर, निषिद्ध ऐसे काम्य कर्म त्याग करे, और विहित कर्म का अवश्य स्वीकार करे । १४३८

इसी तरह से सद्‌भाव पूर्वक कर्म करना चाहिये, ऐसा जो विचार भगवान ने तीसरे अध्याय में कहा, इसी को ही यहाँ कर्मकाण्ड कहते हैं । १४३९

वह ही नित्यादिक कर्म, जो अज्ञानी लोगों को आवश्यक है, और जिसका आचरण करते हुए, वह मोक्षदायी किस तरह से हो जाएगा; १४४०

ऐसा विचार आने के बाद, बद्ध को मोक्ष में आने के लिए, भगवान ने ब्रह्मार्पण क्रिया बताई । १४४१

जिस क्रिया में शरीर, वाणी, मन, इनके संयोग से जो विहित कर्म जैसा हो जाए, वह अकेले भगवान के उद्देश्य से करना चाहिये, ऐसा कहा । १४४२

यही ईश्वरार्पण कर्म योग में भजन-कीर्तन का रहस्य चौथे अध्याय के अन्तिमचरण में कहा। १४४३

वहाँ से सीधा विश्वरूप दर्शन के ग्यारहवें अध्याय की समाप्ति होने तक, कर्म से ही ईश्वर पूजन होना चाहिये, ऐसा जो कहते रहे, १४४४

वह ही यहाँ अष्टाध्यायी खुला दिखने वाला देवताकाण्ड है, ऐसा समझलो। यह गीता शास्त्र में ही कहा गया है, ऐसा मैं खुलेपन से बोलता हूँ। १४४५

और उसके कारण ईश्वरीय कृपा से, श्री गुरु सम्प्रदाय का लाभ होकर, केवल सच्चा ऐसा जो ज्ञान अंकुरित होता है, १४४६

वह, अद्वेशटा आदि से या अमानित्व आदि गुणों से, बढ़ाया जाए, ऐसा कहने वाला बारहवाँ अध्याय है, ऐसा मैं समझता हूँ। १४४७

उस बारहवें अध्याय के प्रारम्भ से और पंद्रहवें अध्याय के अन्त तक, उसमें ज्ञानफलपाकसिद्धि, यह निरूपण का विषय है। १४४८

इसीलिये इन चारों ही उर्ध्व मूल में अन्त होने वाले अध्यायों में ज्ञानकाण्ड उत्पन्न होता है, ऐसा कहा गया। १४४९

संक्षिप्त में, तीन काण्ड निरूपण में वह गीता एक सुन्दर ऐसी श्रुति ही है, उसने गीता के श्लोक रत्नों के अलंकार धारण किये हुए हैं। १४५०

एवम् इन तीनों काण्डात्मक श्रुति का, मोक्षरूप, ऐसा एक ही फल है। वह अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये, इसीलिये यह जोर से कहना। १४५१

मोक्ष-प्राप्ति के जो साधन हैं, उनके ज्ञान से जो सदैव द्वेष करता है, वह दम्भादि अज्ञान समुदाय सोलहवें अध्याय में कहा। १४५२

शास्त्रों की कीर्ति साथ लेकर अज्ञानरूपी बैरी जीतना चाहिये, ऐसा कहने वाला वह सत्रहवां अध्याय । १४५३

इसी तरह से पहले अध्याय से सत्रहवें अध्याय के अन्त तक, भगवान ने वेदों का स्पष्टीकरण करके दिखाया । १४५४

उन सब अलग-अलग अर्थों का तात्पर्य जिसमें संक्षिप्त रूप से कहा गया, वह यह कलशरूपी अठारहवाँ अध्याय है, यह देखो । १४५५

ऐसा यह सर्व ज्ञान सागर श्री भगवद्‌गीता ग्रंथ, अपने श्रेष्ठत्व से एक अलग मूर्तिमंत वेद ही है, ऐसा समझो । १४५६

वेद, समृद्ध होते हुए भी, उनके जैसा कृपण और कोई नहीं होगा । जो पहले तीन वर्णों के कान पर ही पहुँचते हैं । १४५७

दूसरे, संसारदु:ख से भरे हुए, स्त्री, शूद्र आदि प्राणीजनों को, वह प्रतिबन्ध कर, रहा हुआ है । १४५८

इसीलिये मुझे यह पुराना कमीपन दिखने के बाद, वह हटाने के लिये, और सब को सेवन करने योग्य हो जाए इसलिये, मैंने यह गीतारूपी वेद हाथ में लिया हुआ है । १४५९

इतना ही नहीं, तो गीता का अर्थ अन्त:करण में जाकर, श्रवण से कानों पर आकर, जप के निमित्त से मुख में स्थिरकर, १४६०

जो गीता पाठ करना जानता है, उसके सहवास से, गीता ग्रंथ-रूप में लिख रखना, १४६१

ऐसी-ऐसी मिश्र भावनाओं से मैं संसार के चौराहे पर मोक्ष-सुख का अच्छा अन्न-सत्र खोल रहा हूँ । १४६२

किन्तु आकाश को रहने के लिये, पृथ्वी को बैठने के लिये, या सूर्य तेज को फैलने के लिये जैसे अंतरिक्ष ही स्थान होता है। १४६३

उसी तरह से यह गीता शास्त्र सेवन करने में, श्रेष्ठ या नीच, ऐसी कोई पूछ-ताछ न करते हुए सबको एक मार का मोक्ष दान कर, संतुष्ट कर रहा हूँ। १४६४

पिछले अपराध का डर लगने के कारण वेद गीता की गोद में घुसा, अब उसको भी अच्छी कीर्ति मिल गई है। १४६५

इसीलिये वेदों की मूर्तिमंत सुलभता, वह गीता है, ऐसा समझो। जिसका उपदेश श्री कृष्ण ने अर्जुन को किया। १४६६

बछड़े के निमित्त से दूध जैसे सब को प्राप्त होता है। इसी तरह से अर्जुन के निमित्त से यहाँ जगत उद्धार हो रहा है। १४६७

चातक की करुणा से मेघ पानी लेकर दौड़ता है। उस समय जैसे सर्वचराचर को शान्ति मिलती है। १४६८

या अनन्य गति कमल के लिये जैसे सूर्य बार-बार आता है, किन्तु त्रिभुवन की आँखों को भी सुखदायक होता है। १४६९

उसी तरह से अर्जुन के निमित्त से, लक्ष्मीपति श्री कृष्ण ने गीता-प्रकाश देकर, जग का, संसार जैसा भारी बोझा उतार दिया है। १४७०

सर्व शास्त्र रत्नों के प्रकाश से त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाला, श्री कृष्ण के मुखरूपी आकाश का यह सूर्य ही नहीं क्या ? १४७१

सचमुच कितना पवित्र है वह कुल, कि जिस कुल में का अर्जुन, ऐसे ज्ञान को पात्र हो गया। जिसके कारण सब जग को खुलेपन से रहने के लिये गीता का प्रचण्ड क्षेत्र मिल गया। १४७२

यह रहने दो। बाद में सद्‌गुरु श्री कृष्ण, पार्थ का अपने साथ हुआ मिलन, द्वैत रूप को लाए। १४७३

फिर वे कहने लगे: अर्जुन, यह शास्त्र तेरे अन्तःकरण में अच्छा लगा कि नहीं ? उसपर अर्जुन कहता है: भगवान, यह सब आपकी कृपा है। १४७४

हे अर्जुन, गड़ा-धन प्राप्त होने के लिये भाग्य हो भी गया, तब भी प्राप्त हुआ भोगना, यह कभी-कभी ही होता है। १४७५

देखो, क्षीर-समुद्र जैसे, केवल दूध से भरे हुए, प्रचण्ड बर्तन में मंथन करने से, सुर व असुर, इनको जो कष्ट हुए; १४७६

वे सफल भी हो गए, क्योंकि उन्हें अमृत निकला दिखा। किन्तु बाद में उन्हें, उसे सम्भालना आया नहीं। १४७७

उस समय अमर होने के लिये असुरों ने जो प्राशन किया वह उनके नाश को कारणीभूत हो गया। भोगना समझ में नहीं आ जाए, तो प्राप्त की यही अवस्था हो जाती है। १४७८

नहुष स्वर्गाधिपति हो गया था किन्तु वहाँ का रहन-सहन देखकर भ्रांत हो गया, और उसे सर्पपन आ गया, यह तू जानता है ना ? १४७९

अर्जुन, तुमने बहुत पुण्य किया, इसी लिये तू आज इस शास्त्र-राजा का विषय हो गया है। १४८०

इसीलिये इस शास्त्र की जो पद्धति है, उसके आश्रय में, इस शास्त्र का अच्छा आचरण करो। १४८१

नहीं तो अर्जुन, बिना सम्प्रदाय यदि तुम आचरण करने लग जाओगे तो, उस अमृत मंथन जैसा हो जाएगा। १४८२

गैय्या सुंदर, पुष्ट, ऐसी मिल गई, फिर भी वहाँ हे अर्जुन, दूध उस समय पीना सम्भव हो जाएगा, जब दोहने की रीति मालूम हो। १४८३

जैसे गुरु-कृपा हो जाएगी, शिष्य को विद्या भी सम्भव हो जाए, किन्तु यह सब संप्रदायानुसार उपासना करने के बाद ही लाभदायी होगा। १४८४

इसीलिये इस शास्त्र में जो योग्य संप्रदाय है, वैह अब बड़े आदर से सुनो। १४८५

गीता ६७

अर्जुन, तेरी आस्था से जो यह गीता शास्त्र तुझे मिल गया, वह जो सर्वथा तपोहीन होंगे, उनको कभी भी कहना नहीं। १४८६

या तपस्वी तो है किन्तु गुरु-भक्ति में जब वह ढीला हो, तो वेदों ने अन्तिज को जैसा दूर रखा, वैसा तू उन्हें दूर रख। १४८७

या जैसा कौवा वृद्ध भी हो, फिर भी उसे यज्ञशिष्ट नहीं देते। उसी तरह से गुरु-भक्ति हीन तपस्वी को, तुम गीता कहना नहीं। १४८८

या देह से तप भी किया, गुरु देव में भक्ति भी रखी, फिर भी जब सुनने की इच्छा न हो, १४८९

तो ऊपर वाले दोनों गुणों से वह जग में अच्छा माना भी गया हो, फिर भी गीता-शास्त्र सुनने के वह योग्य नहीं। १४९०

मोती कितना भी अच्छा हो, उसको जो सुराख न हो, तो वह डोरी में कैसे डाल सकें ? १४९१

समुद्र गम्भीर होता है, यह कौन 'ना' कहेगा। फिर भी उसके ऊपर की वर्षा व्यर्थ हो जाती है कि नहीं ? १४९२

पेट भरने के बाद, उत्तम अन्न का सेवन करे और बाद में वह व्यर्थ हो जाए, उसके अपेक्षा, भूखे लोगों को देकर उदारता क्यों न स्वीकारे। १४९३

इसीलिये कितनी भी योग्यता हो, किन्तु जब उसको इसकी इच्छा न हो तो उसे यह भूलकर भी कभी भी न देना। १४९४

रूप से आँख बड़ी सुन्दर व जानकार हो, फिर भी सुगंध के लिये उसे आगे कर सकेंगे क्या ? जहाँ जिसको मान्यता होती है, वहाँ ही वह सिद्ध हो जाता है। १४९५

इसीलिये अर्जुन, गीता कहते समय, तप, भक्ति, इनकी ओर तो ध्यान देना ही चाहिये, किन्तु शास्त्र सुनने में आसक्ति न हो तो उन्हें टालना ही चाहिये। १४९६

या तप है, भक्ति है, सुनने की इच्छा भी है, ऐसी परिस्थिति तुझे दिखेगी, १४९७

फिर भी इस गीता-शास्त्र का निर्माता, जो मैं, सर्व लोगों का शासन करता हूँ, उस मुझे जो सामान्य भाव से देखता हो, १४९८

मुझे और मेरे भक्तों को दोष दृष्टि के सम्बोधन से जो कोई बोलता हो, उन्हें भी तू योग्य न समझना। १४९९

उनकी अन्य समृद्धि भी, ऐसी समझनी चाहिये जैसे रात के समय बुझा हुआ स्थानदीप। १५००

शरीर उज्जवल, तारुण्यपूर्ण, उसके ऊपर सुन्दर अलंकार डाले हुए हों, किन्तु केवल उसमें प्राण नहीं हो। १५०१

घर स्वर्ण का है, सुन्दर है, स्वच्छ है, किन्तु उसका द्वार जब नागिन ने रोका हुआ हो। १५०२

अच्छा पकवान तैयार है, किन्तु जैसे उसमें विष मिला हुआ हो। या मैत्री के पेट में जैसे कपट हो। १५०३

हे अर्जुन, उनकी बुद्धि, उनका तप, उनकी भक्ति, यह सब उपरोक्त समान समझ लो, जब मेरे भक्तों की, माने मेरी ही, निन्दा करते हों। १५०४

इसलिये अर्जुन, वह जब भक्त, बुद्धिमान. तपस्वी भी हो, फिर भी उसे इस गीता-शास्त्र तक आने देना नहीं। १५०५

अधिक क्या कहूँ। वह निन्दक, ब्रह्मदेव की योग्यता का भी हो, फिर भी यह गीता कौतुक से भी उसके हाथ न लगने दो। १५०६

अर्जुन, तप की पक्की नींव पर यह जो गुरु-भक्ति का प्रासाद पूर्णता से खड़ा हुआ है। १५०७

और श्रवण करने के लिये जिसका द्वार सदा खुला है, और जिसके ऊपर अनिन्दा रत्न का उत्तम कलश चढ़ा हुआ है। १५०८

गीता ६८

ऐसे निर्मल भक्तालय में इस गीतारत्नेश्वरी की प्रतिस्थापना कर, फिर तुम इस जगत में मेरी एकरूपता के योग्य हो जाओगे। १५०९

यह देखो, जो ओंकार, एकाक्षरपन से अ, ऊ, म, इन तीन मात्रां के पेट में गर्भवास में अटका हुआ था; १५१०

वह वेदों का बीज, गीता के प्रसार से सब जगह उगने लगा। और अब वह गायत्री, श्लोकों के फल-फूल से, बहार मे आई हुई है। १५११

वह यह गायत्रीमंत्र की रहस्य वाली गीतामाता, जो मेरे भक्तों को मिलवाएगा, जैसे अनन्य जीवन वाली माता अपने बालक को मिलती है। १५१२

वैसी, गीता की और भक्तों की भेंट जो आदरपूर्वक करवाएगा, वह देहत्याग के बाद मुझ से एकरूप होगा। १५१३

गीता -६९

और वह देह का अलंकार पहनकर, अलगपन से रहता हो। तब भी वह मुझे, जी से, प्राण से, प्यारा लगता है। १५१४

ज्ञानी, कर्मठ, तपस्वी, ऐसे चिन्हों वाले मनुष्यों में, वह एक ही जैसे मेरा प्रिय होता है । १५१५

वैसा प्रिय हे अर्जुन, इस सम्पूर्ण भूतल पर तुझे और कोई नहीं दिखेगा। जो भक्तजनों के समुदाय में गीता प्रवचन करता हो। १५१६

केवल मेरे, ईश्वर के प्रेम से अनहंकार वृत्ति में जो गीता पाठ कर, संत-सभा में भूषण हो जाता है। १५१७

नव पल्लव रोमांचित करते हुए, मंद ऐसी वायु से डुलाते हुए, सुगंध जल से फूलों की आँखें गीली करते हुए, १५१८

कोकिल कुंजन के बहाने से, आनंद सहित आकर्षित करते हुए, मेरे भक्तों के उद्यान में, वह जैसा कोई वसंत ही प्रवेश करता है। १५१९

या चकोर का जन्म सार्थक करते हुए, जैसे चन्द्र आकाश में उगता है। या मोर की आवाज सुनते ही नव मेघ प्रगट जाते हैं। १५२०

उसी तरह से सज्जन समुदाय में मेरे स्वरूप की आशा लेकर, जो गीता श्लोक-रत्न की अमाप वर्षा करेगा, १५२१

तो इसकी योग्यता का सचमुच मुझे प्यारा, दूसरा कोई भी, आगे पीछे कही भी, दिखेगा नहीं। १५२२

अर्जुन, क्षणभर ऐसे समझो कि जो गीतार्थ का भोजन संतों को देता है, उसे मैं अपने अन्तःकरण में स्थान देता हूँ। १५२३

गीता ७०

यह देखो, मेरे और तुम्हारे मिलन में जो यह गीता आख्यान बढ़ गया, यह जैसे कोई यहाँ मोक्षधर्म ही रूप में आया है। १५२४

वह यह सर्वार्थ प्राप्त करवाने वाला अपने दोनों का संवाद, पदभेद न होते हुए, शुद्ध पाठ का जो पठन करेगा। १५२५

उसने प्रज्ज्वलित ज्ञानग्नि में मूल अविद्या की आहुति देकर अर्जुन, मुझ परमात्मा को संतुष्ट किया, ऐसा हो जाएगा। १५२६

हे विचारवन्त, गीता का अर्थ समझकर ज्ञानीजन जो पद प्राप्त करते हैं, वही गीतापाठ-गायन से वह प्राप्त कर लेता है। १५२७

गीता पाठक को भी अर्थज्ञान हुआ, ऐसा ही पद मिलता है। इस गीता-माता को, बच्चा और बड़ा, ऐसा भेद नहीं होता। १५२८

गीता ७१

और किसी ही मार्ग की निंदा न करते हुए, आस्थापूर्वक गीता श्रवण की निर्मल श्रद्धा जो रखता हो, १५२९

उसके कानों पर गीता के शब्द पड़ते, न पड़ते, तो भी उसका पाप तत्काल भाग जाता है। १५३०

वन में आग लगते ही, वे वन के प्राणी जैसे दूर भाग जाते हैं। १५३१

या उदयाचल के परिसर में सूर्य प्रकाश झलकते ही, अन्धेरा जैसे अन्तराल में लुप्त हो जाता है। १५३२

उसी तरह से कान के महाद्वार पर जब गीता गर्जना करने लगती है, उस समय सृष्टि का आज तक का पाप नष्ट हो जाता है। १५३३

ऐसी यह निर्मल जीवन परम्परा उत्तम पुण्यरूप हो जाती है। इससे भी बड़ा फल प्राप्त हो जाएगा, १५३४

वह ऐसा, कि इस गीता के जितने विचार कान में प्रवेश करेंगे, इतने अश्वमेध यज्ञ पूर्ण हो जाएँगे। १५३५

इसीलिये सुनने से पाप नष्ट हो जाते हैं, धर्म की प्रगति होने लगती है, उसके अन्त में स्वर्ग का ऐश्वर्य उसे प्राप्त हो जाता है। १५३६

वह मेरी प्राप्ति के लिये प्रथम, स्वर्ग में आकर रहता है। जब तक अच्छा लगे, स्वर्गसुख भोगता है और बाद में मुझे मिल जाता है। १५३७

अधिक क्या कहूँ अर्जुन, इसी तरह से यह गीता, सुनने वाले को, पढ़ने वाले को, महान आनंद का फल देती है। १५३८

इसीलिये अब यह छोड़ता हूँ। किन्तु जिसके लिये यह सारा शास्त्र का परिश्रम किया, उस सम्बन्ध में पूछता हूँ, तेरा काम हो गया कि नहीं ? १५३९

गीता ७२

तो अर्जुन कहो, यह सब शास्त्र सिद्धांत तूने एकाग्र अन्तःकरण से सुन लिये ना ? १५४०

जैसा मैंने जिस रीति से तुम्हारे कान को समझा दिया, वैसा ही तेरे अन्तःकरण में स्थिर हुआ कि नहीं ? १५४१

क्या कुछ बीच में ही गिरकर फैल गया ? या उपेक्षा कर, फेंक दिया ? १५४२

जैसा मैंने कहा वैसा ही तेरे अन्तःकरण में वह मिल गया हो, तो मैं पहले पूछता हूँ, यह कहो । १५४३

देखो, तेरे अज्ञान के कारण पहले तुझे मोह ने भुलाया था । वह मोह अब यहाँ है, या चला गया ? १५४४

अधिक क्या पूछूँ । कहो, तुझे अपने में ही कर्म, अकर्म, ऐसा कुछ दर्शन हुआ कि नही ? १५४५

अर्जुन स्वानंद से एकरस में घुल जाएगा, ऐसे विचार से भगवान उसे प्रश्नों के बहाने, भेद दशा में लाए । १५४६

अर्जुन पूर्ण ब्रह्म हो गया था, फिर भी, अगला कार्य करवाने के लिये श्री कृष्ण ने उसे मर्यादा के बाहर जाने दिया नहीं । १५४७

वैसे देखा जाए तो अपनी करनी श्री कृष्ण क्या जानते नहीं थे ? किन्तु इसीलिये तो पृछने का बहाना किया । १५४८

इसी तरह से, प्रश्न कर, अर्जुन का खोया हुआ अर्जुनपन पूर्णता से वापस लाकर उसे बोलने के लिये विवश किया । १५४९

जैसा पूर्ण चन्द्र क्षीर-सागर से निकलकर, बिना शोध, प्रकाशमान प्रगट होता है । १५५०

उसी प्रकार, 'मैं ब्रह्म हूँ ', यह भूलकर, अर्जुन को सर्वजग ब्रह्मत्व से भरा रहा । और फिर यह अवस्था भी जाकर, ब्रह्मपन भी समाप्त हो गया । १५५१

और ब्रह्मत्व तोड़ते-तोड़ते वह दुःखरूप देह की सीमा पर, 'मैं अर्जुन' ऐसे स्वरूप में खड़ा रह गया । १५५२

फिर कम्पित हाथ से अपने रोमांच दबाकर और पुल्कित हुआ अंग पसीने से भिगाकर, १५५३

बढ़े हुए प्राणवायू से डोलता हुआ, अंग को अंग का ही आधार देकर, हलचल भूलकर, चुप खड़ा रहा। १५५४

दोनों नेत्रों से जो आनंदामृत की भरती बह रही थी, उसे रोककर, १५५५

भिन्न-भिन्न उत्सुक्ता की जो भीड़ कंठ में रुक गई थी, वह अपने अंदर स्थिर करके, १५५६

पिघली हुई वाचा प्राण से संभालकर, अनियमित श्वासोश्वास ठीक कर, १५५७

गीता ७३

अर्जुन कहने लगा: क्या भगवान, 'मोह अच्छा लगता है क्या ?' ऐसे पूछते हो ? तो, वह तो सहकुटुम्ब अपना स्थान लेकर भाग गया है। १५५८

सूर्य पास आकर, आँखों को, 'अन्धेरा दिखता है क्या ?' ऐसा पूछेगा, यह कभी भी सम्भव नहीं। १५५९

इसी तरह से हे कृष्ण राया, हमारी आँखों को तू दिखता है। इसी तेरे अस्तित्व से, क्या पूर्ण नहीं होगा। १५६०

और उस पर माता समान प्रेम से, मुँह भर तू कहता है, तो क्यों नहीं हमें समझ आएगा। १५६१

अब मोह है या नहीं, ऐसा क्यों पूछ रहे हो। तुम्हारी प्राप्ति से मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। १५६२

अर्जुन-गुण में मैं फँसा हुआ था, वह तुम्हारे स्वरूप में मुक्त हो गया हूँ। अब पूछना-कहना दोनों ही रहे नहीं। १५६३

तुम्हारे प्रसाद से, आत्मज्ञान का लाभ होने के कारण, मैं वह मोह का बीज रखूँगा नहीं। १५६४

अब करना, न करना जिसके दूजेपन से उत्पन्न होता है, वह तेरे सिवाय, मैं और कुछ जानता ही नही। १५६५

इस सम्बन्ध में मेरे में, कोई भी शंका-स्थान नहीं रहा। सचमुच जिस अवस्था में कर्म रहता ही नहीं, वैसा मैं हो गया हूँ। १५६६

हे प्रभो, तुम्हारे कारण मुझे मेरी प्राप्ति होकर, सब कर्तव्य समाप्त हो गया है। अब केवल तुम्हारी आज्ञा ही बाकी है, और कुछ नहीं। १५६७

क्योंकि जो दृश्य, दृश्य का नाश करता है। जो दूजा, द्वैत-नाश करता है। जो एक जगह रहकर, सर्वत्र वास करता है। १५६८

जिससे सम्बंध आने के बाद बंधन नष्ट हो जाता है। जिसकी इच्छा होने के बाद, आशा के साथ सम्बन्ध टूट जाता है। जिसकी भेंट होने के बादअपने में ही सबकी भेंट हो जाती है। १५६९

वह तू मेरा गुरुलिंग है। जो एकत्वपन से स्थित है। और जिसके लिये अद्वैत के बोध को भी पारकरना पड़ता है। १५७०

स्वयं ब्रह्म होकर, कृत्याकृत्य सब छोड़ दे, और फिर निःसीम अन्तःकरण से जिसकी सेवा करे। १५७१

गंगा जैसे सिंधु सेवा करने निकल जाए, और वह मिलते ही, समुद्र हो जाए। इसी तरह से जिसने भक्तों को अपने चरण का आश्रय दिया; १५७२

वह तू, हे श्री कृष्ण, मेरा अनौपचारिक सेव्य सद्गुरु है। फिर आपके ही दिये हुए ब्रह्मत्व का मैं क्यों उपकार मान रहा हूँ, यह बताऊँ ? १५७३

क्योंकि, आप में और मेरे में, जो एक भेद का पर्दा था, वह हटाकर, आपने मुझे अपना मीठा सेवा-सुख दे दिया। १५७४

तो अब सर्व देवादि देव राया, मैं तुम्हारी आज्ञा पालन करूँगा। आप कुछ भी करने के लिये कहो। १५७५

ये अर्जुन के बोल सुनकर, भगवान मोहित होकर सुख से नाचने लगे और कहे, मेरा विश्वरूप सफल हुआ, कि मुझे अर्जुन जैसा फल लगा।१५७६

कमीपन नष्ट हो गया हुआ अपना पुत्र, जो पूर्ण चन्द्र, उसको देखकर क्षीर-सागर अपनी मर्यादा भूलता है कि नही ? १५७७

ऐसे संवाद की भरती मे, कृष्ण व अर्जुन, इन दोनों के अंतरंग का लग्न लगा हुआ देखकर संजय का अन्तःकरण उभर आया। १५७८

उस उभरने के कारण, संजय ने धृतराष्ट्र को कहा: महाराज, हम दोनों व्यास की कृपा से, कैसे सुरक्षित हो गए हैं। १५७९

आज देखो, आप को इस ससार मे चर्म-चक्षु न होते भी, ज्ञान-दृष्टि के व्यवहार मे वे ले आए हैं। १५८०

रथ के लिए घोड़े चुनने की क्षमता वाले जो हम हैं; ऐसे हमको, ऐसा ज्ञान प्राप्त हो रहा है। १५८१

और इसके ऊपर युद्ध ने तो ऐसा भयंकर अनर्थ पैदा किया हुआ है, कि इन दोनों के पराभव में, जैसे कोई अपना ही पराभव होने वाला है। १५८२

इतना बड़ा संकट जहाँ है, वहाँ कृपा भी कितनी बड़ी है देखो, कि खुलेपन से अपने को ब्रह्मानंद का भोग मिल रहा है। १५८३

ऐसा संजय बोल रहा था, किन्तु धृतराष्ट्र को उसका कोई असर नहीं हुआ। वह चुप ही रह गया था। जैसे कोई चन्द्र-किरणो का स्पर्श हुआ केवल पत्थर। १५८४

यह उसकी अवस्था देखकर, सजय ने उसकी ओर ध्यान देना ही छोड़ दिया। वह तो सुख से पागल होकर बोल रहा था। १५८५

हर्ष-भार से मोहित हो गया था, इसीलिये वह धृतराष्ट्र को कहता था। नहीं तो यह उसके लिये नहीं है, यह सचमुच उसने जान ही लिया था। १५८६

गीता ७४.

फिर कहने लगा: हे कुरू राजा, आपका भतीजा अर्जुन, श्री कृष्ण को जो बोला, वह उन्हें बहुत अच्छा लगा। १५८७

महाराज, पूर्वी समुद्र व पश्चिमी समुद्र, ये केवल नाम मे ही अलग। नहीं तो, पानी जैसे सब एक ही होता है। १५८८

उसी तरह से श्री कृष्ण व अर्जुन, ऐसा केवल शरीर का ही भेद दिखेगा। उनके संवाद में कहीं अलगपन नही । १५८९

दर्पण जैसी, दो निर्मल वस्तु जब आमने-सामने आ जाएँगी। तब वे दोनों अपने को ही देखेंगी। १५९०

वैसा अर्जुन, भगवान में अपने को ही भगवान देखता था। और अर्जुन में भगवान, अपने को पार्थ देखते थे। १५९१

भगवान, देव और भक्त को जिस स्वरूप में देखना चाहते थे, वहाँ ही, अर्जुन दोनों को ही देखता था। १५९२

उनके सिवाय और दूसरा कुछ भी न होने के कारण, वे क्या करेंगे ? दोनों ही एकपन से रहते थे। १५९३

अब, जब भेद नष्ट हो गया, तो प्रश्न व उत्तर कैसे घड़ेगा ? और भेद न होने पर, संवाद-सुख कैसे प्राप्त होगा ? १५९४

दूजेपन से बोलते हुए उस संवाद में द्वैत ही नष्ट हो रहा था, ऐसा उन दोनों का अद्वैत भाषण मैंने सुन लिया। १५९५

यह दो दर्पण स्वच्छ कर, आमने-सामने रखते समय, कौन किस को देखता है, यह कैसे निश्चित करें ? १५९६

या दीप सम्मुख दीप रख लें, तब कौन किस के लिये है, यह कौन जानेगा ? १५९७

या सूर्य सामने दूसरा सूर्य उदय हो गया तो किसको प्रकाश करने वाला कहें, और किसे प्रकाशित कहें ? १५९८

इसका सच्चा विचार करने लगें तो विचारों में धोखा ही होगा। वे दोनों संवाद में इतने समरस हो गए हैं। १५९९

महाराज, पानी के दो प्रवाह मिलते समय, जब बीच में उनको रोकने के लिये नमक खड़ा रहे, तो एक क्षण में वह भी पानी ही हो जाएगा। १६००

इसी तरह से श्री कृष्ण व अर्जुन, इन दोनों के संवाद का विचार करते समय, मेरी भी वही अवस्था हो गई। १६०१

यह कहा न कहा, तो सात्विक भाव से उसकी संजयपन की याद कहाँ भाग गई, कौन जाने ? १६०२

जैसे-जैसे रोमांच गलने लगे, वैसे-वैसे शरीर सूखने लगा। शक्ति चली गई। पसीना चला गया। अकेला कम्प रह गया। १६०३

अद्वैत आंनद फैलने लगा। लोचन गीले हो गए। किन्तु वे अश्रु न थे, जैसे कोई करुणावस्था स्वयं पिघल रही थी। १६०४

पेट में क्या न समा रहा था, कौन जाने ? गले में क्या अटक गया था, यह समझ में नहीं आ रहा था। अस्वस्थ हो गया था और वाचा बन्द हो गई थी। १६०५

संक्षिप्त में, अष्ट सात्विक भाव से बुद्धि अस्थिर होकर, संजय केवल संवाद-सुख से व्याप्त हुआ था। १६०६

उस सुख का प्रकार ऐसा था कि वह सुख स्वयं शान्तिरूप था। फिर कुछ समय बाद उसे देह-स्मृति आ गयी। १६०७

गीता ७५

तब स्थित आनंद से वह बोल रहा था: महाराज, जो उपनिषद को नहीं समझ में आ रहा था वह व्यास के प्रसाद से मैंने सुन लिया। १६०८

वह सुनने के बाद ब्रह्मत्व प्राप्त हो गया। दृष्टि में से, मैं-तू पन चला गया। १६०९

यह सब योगमार्ग जहाँ आ मिलते हैं, उस श्री कृष्ण का भाषण व्यास जी ने मुझे सुलभ किया। १६१०

देखो, अर्जुन के बहाने स्वयं को द्वैत में बाँटकर, देव अपने लिये ही जो बोले। १६११

वहाँ मेरे कान वह सुनने के लिये, कितने श्रेष्ठत्व से पात्र हो गए। श्री गुरु के स्वतंत्र सामर्थ्य का क्या वर्णन करें ? १६१२

गीता ७६

यह बोलते समय संजय आश्चर्य-भरित हो गया। उस आश्चर्य के रोमांच उसके शरीर पर खड़े रहे। जैसे रत्न-तेज, रत्न को ढक, बाहर उभर आता है। १६१३

बर्फीले सरोवर, जैसे चन्द्रोदय समय, स्फटिक समान हो जाते हैं। फिर सूर्योदय होने के बाद, पुनः पिघलने लगते हैं। १६१४

इसी तरह से शरीर की स्मृति आने के बाद, संजय वह संवाद अन्तःकरण में लाता था और फिर बाद में वही अवस्था फिर हो जाती थी। १६१५

गीता ७७

फिर उठकर वह राजा को कहने लगा· महाराज, श्री कृष्ण का विश्वरूप देखने के बाद, तब से आप ऐसे चुप क्यो रहते हैं ? १६१६

जो न देखते ही दिखता है। नहींपन से ही जो होता है। वह अब भूल से या स्मरण से, कैसे टाला जा सकता है। १६१७

वह विश्वरूप-फैलाव देखकर उसके लिये आश्चर्य करने के लिये ही समय नहीं रहता। वह महापुर मेरे समेत सब बहा ले जा रहा है। १६१८

ऐसे श्री कृष्ण-अर्जुन संवाद संगम में स्नानकर, वह अहंकार को तिलांजलि दे रहा था। १६१९

उस अनावर आनंद में उसे कुछ असामान्य स्पंदन हो रहा था। उस समय वह बार-बार, श्री कृष्ण, श्री कृष्ण, ऐसे बोल रहा था। १६२०

संजय की इस अवस्था की धृतराष्ट्र को कोई सुध ही नहीं थी। इसीलिये राजा वैसे ही कुछ सोच रहा था, इतने में, १६२१

जो सुखलाभ हुआ था, वह संजय ने अपने में स्थिरकर, अष्ट सात्विक भाव शान्त किये। १६२२

तब धृतराष्ट्र बोला : सजय, युद्धभूमि पर इस समय किसकी क्या अवस्था हो गई है, यह कहना छोड़कर, तुमने यह क्या आरम्भ किया है ?१६२३

तुझे व्यास जी ने यहाँ किस लिये बैठाया ? प्रसंग छोड़कर तू ऐसा क्यों बोल रहा है ? १६२४

एक सामान्य मनुष्य राज्यमहल में जाए, तो उसे जैसे चारों ओर सन्नाटा-सा लगता है। या राक्षसों का रात को उजाला होता है। १६२५

जिसको जिसका महत्व समझ मे नहीं आता, वह वस्तु उसे विचित्र लगती है। इसीलिये यह राजा को अप्रसंग लगा। १६२६

वह संजय को बोला: इस समय जो संकट उत्पन्न हो गया है, उसमें अन्त में किसकी जय होगी, यह कहो। १६२७

नहीं तो, मुझे तो ऐसा लग रहा है कि अधिकतर सर्व प्रसंग में दुर्योधन का प्रताप सदैव अधिक ही होगा। १६२८

और दूसरे की अपेक्षा उसका सैन्य भी दूना है। इसीलिये अन्त में उसकी ही विजय होगी ना ? १६२९

मुझे तो ऐसा ही लग रहा है। किन्तु तुम्हारा विचार कैसा है, कौन जाने ? संजय, जैसा होगा वैसा बताओ। १६३०

गीता ७८

संजय कहने लगा : किसका क्या होगा, यह मैं नहीं जानता। किन्तु जहाँ आयुष्य है, वहाँ ही जीना होता है। यह निश्चित है। १६३१

जहाँ चन्द्र होगा वहाँ ही चाँदनी होगी । जहाँ शंकर होंगे, वहाँ पार्वती होती ही हैं । जहाँ संत होंगे वहाँ सुविचार होने ही हैं । १६३२

जहाँ राजा वहाँ सैन्य । जहाँ सज्जनता वहाँ ही सम्बन्ध टिकते हैं । जहाँ अग्नि है वहाँ जलाने की शक्ति होगी ही । १६३३

जहाँ दया वहाँ ही धर्म । जहाँ धर्म वहाँ ही सुख प्राप्ति । और ऐसी सुख प्राप्ति की जगह, भगवान अवश्य होता ही है । १६३४

उद्यानों में ही वसंत प्रवेश करेगा । उद्यानो में ही फूल होंगे । जहाँ फूल होंगे वहाँ भ्रमर अवश्य होंगे । १६३५

जहाँ श्री गुरु वहाँ ही ज्ञान । और ज्ञान में आत्म दर्शन । और आत्म दर्शन में समाधान निश्चित है । १६३६

जहाँ भाग्य वहाँ ही ऐश्वर्य । जहाँ सुख वहाँ ही आनंद । यह छोड़ो, जहाँ सूर्य होगा, वहाँ प्रकाश होना ही है । १६३७

उसी तरह से चारों पुरुषार्थ जिस स्वामी के योग से सफल हो जाते हैं, वह राजा श्री कृष्ण जहाँ होगा, वहाँ लक्ष्मी भी होंगी । १६३८

और अपने पति के संग वह विश्वमाता लक्ष्मी जिस के पास होंगी, उसको अणिमादिक सिद्धियाँ, दासी जैसी होंगी कि नहीं । १६३९

प्रत्यक्ष यश, ऐसा जो श्री कृष्ण जिस के साथ जिस कार्य के लिये खड़ा हो, वहाँ जय निश्चित है । १६४०

यशवन्त नाम का प्रसिद्ध अर्जुन और प्रत्यक्ष विजय-स्वरूप ऐसे श्री कृष्ण नाथ, जहाँ होंगे, वहाँ ऐश्वर्य साथ विजय निश्चित है । १६४१

उस अर्जुन के देश में पेड़ भी कल्पतरू के साथ स्पर्धा करते हैं। फिर उसे ऐसा श्रेष्ठ माई-बाप होते हुए, यश न मिलेगा, यह कैसे सम्भव है ? १६४२

वहाँ सब पाषाण भी चिंतामणि क्यों न होंगे ? वहाँ की भूमि को भी चैतन्य क्यों नहीं प्राप्त होगा ? १६४३

हे राजन्, विचार करो। उस गाँव की नदियाँ भी अमृत बहती होंगी, इसमें क्या आश्चर्य ? १६४४

उसके स्वैर शब्दों को जब 'वेद', ऐसा कह सकते हैं, तब वह सदेह परमेश्वर क्यों न हो जाए ? १६४५

और जिसके पिता श्री कृष्ण, और माता लक्ष्मी, फिर उसके हाथ में स्वर्ग व मोक्ष, दोनों होंगे ही। १६४६

इसीलिये वह लक्ष्मीकान्त जिस पक्ष में खड़ा है, वहाँ सर्व सिद्धि स्वयंभू ही होती हैं। इससे अधिक मैं नहीं जानता। १६४७

समुद्र से निकला हुआ मेघ, वह जैसा उस समुद्र से भी अधिक उपयुक्त होता है। उसी तरह से आज अर्जुन श्री कृष्ण को हो गया है। १६४८

लोहे को सोनेपन की दीक्षा देने वाला गुरु, पारस होता तो है, किन्तु जग के निर्वाह के व्यवहार वह शिष्य ही जानता है। १६४९

यहाँ गुरुत्व को कमीपन आता है, ऐसा जो कोई कहे, तो अग्नि अपना प्रकाश, दीप की सहाय से प्रकाशित करती नही क्या ? १६५०

इसी तरह से, भगवान की शक्ति के [illegible] ही, अर्जुन [illegible] भगवान से भी बड़ा महत्व प्राप्त हो गया। और ऐसी उसकी स्तुति, भगवान को अपना ही गौरव प्रतीत होती है। १६५१

पुत्र ने अपने सर्व गुणों से 'मुझे जीतना चाहिये' ऐसी पिता कि इच्छा होती है। वह अब श्री कृष्ण में फलरूप हो गई। १६५२

संक्षिप्त में, हे राजन्, अर्जुन कृष्ण-कृपारूप हो गया है। वह श्री कृष्ण जिसकी ओर स्वयं ही गया है, १६५३

[illegible] को ही विजय प्राप्त होगी, इसमें आप को शंका क्यों ? वह विजय नहीं हुई, तो विजय ही झूठी मानी जाएगी। १६५४

इसीलिये जहाँ वह श्रीमंत और जहाँ वह पाण्डुपुत्र अर्जुन, वहाँ ही पूर्ण विजय और वहाँ ही उत्कर्ष। १६५५

व्यास जी के कारण, आपका मन जब सच्चा धैर्यवान हुआ हो, तो मेरा यह [illegible] अटल मानो। १६५६

जहाँ वह श्रीकान्त, और जहाँ वह भक्त समुदाय होगा, वहाँ सुख और सर्वमंगल की प्राप्ति होती है। १६५७

ऐसा बोलने में जब झूठापन होगा, तो 'व्यास का शिष्य', यह मान मैं छोड़ दूँगा। ऐसी गर्जना कर, उसने अपने बाहु उठाए। १६५८

संक्षिप्त में, सर्व महाभारत का सारांश, इस एक श्लोक में लाकर संजय ने धृतराष्ट्र के हाथ में दे दिया। १६५९

न जाने कितनी महान अग्नि, जैसे कोई बाती को लगाकर, संजय ने सूर्य की आवश्यकता ही पूरी की। १६६०

वैसे तो शब्दब्रह्म अनंत है, किन्तु महाभारत में वह सवा-लाख हो गया। और इस महाभारत की सर्वस्व, ऐसी जो गीता, केवल सात-सौ रह गई। १६६१

उन सात-सौ का पूर्ण अर्थ जिसमें है. ऐसा यह अन्त का श्लोक, व्यास-शिष्य संजय के मुख से निकला हुआ पूर्णोदगार है। १६६२

इस एक ही श्लोक पर जो विश्वास रख, रहेगा, उसने सर्व विद्या-सार जीत लिया, ऐसा हो जाएगा। १६६३

ऐसे सात-सौ श्लोक में गीता के तत्व, गीता स्वयं प्रवाहित कर रही है। इन्हें तत्व कहें, या गीता-क्षेत्र का परमामृत कहें। १६६४

या परमात्मा के राज्यसभा-मण्डप को, माने ही इस गीता को, यह सात-सौ श्लोक के खम्बे ही खड़े किये हुए हैं, ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है १६६५

या गीता, यह सात-सौ मंत्र से, वर्णन की हुई देवी, मोह-महिषासुर का वध कर, आनंदित हो गई है। १६६६

इसीलिये काया, वाचा, मन से, जो इस गीता का सेवक हो जाएगा, उसे गीता स्वानंद साम्राज्य का चक्रवर्ती करेगी। १६६७

या अविद्या का अन्धेरा नष्ट करने में, ये श्लोक सूर्य से दाव जीतें, ऐसा प्रकाश, राजा श्री कृष्ण गीता के बहाने से उसको देंगे। १६६८

या संसार-मार्ग पर थके हुए लोगों को विश्रांति के लिये, यह गीता श्लोकाक्षर के मधुर द्राक्षों की बेली का मंडप है। १६६९

या भाग्यवान संत-भ्रवरों ने जिन श्लोक-कमलों का सेवन किया, वे कमल श्री कृष्ण की कही हुई गीता-सरोवर में प्रफुल्लित हो गए हैं। १६७०

या ये श्लोक नहीं हैं, किन्तु गीता की महिमा वर्णन करने वाले, ये अनेक भाटजन हैं, ऐसा मुझे लगता है। १६७१

या श्लोकों के प्रदेश में, सात-सौ खण्ड का यह सुन्दर प्रासाद बनाकर. सब शास्त्र इस गीता-नगरी में वास करने आए हैं, ऐसा मुझे लगता है। १६७२

या अपना पति, जो परमात्मा, उसे प्रेम से आलिंगन देने के लिये, गीता, श्लोक नहीं, अपने बाहु फैलाकर आई हुई है। १६७३

ये श्लोक, गीता-कमल के भ्रंवर हैं। गीता-सागर के तरंग हैं। या श्री कृष्ण के गीता-रथ के ये तेजस्वी अश्व ही हैं। १६७४

या सर्व तीर्थों का यह श्लोक-समुदाय, गीता-गंगा में आया हुआ है। क्योंकि अब अर्जुन-रूप सिंहस्थपर्व का लाभ हुआ है। १६७५

या यह, श्लोक, ऐसी श्रेणी नहीं। यह अचिनत्य की प्राप्ती करवाने वाला चिन्तामणि है। या निरविकल्पा के लिए लगाया हुआ कल्पतरु उद्यान हैं। १६७६

ऐसे इन सात-सौ श्लोकों का एक से एक बढ़कर अलग रूप है। फिर अब अलगपन से किसका वर्णन करूँ। १६७७

दीप को अगला प्रकाश, पिछला प्रकाश, ऐसा कैसे होगा। सूर्य छोटा-बड़ा कभी होता है ? अमृत सागर छिछला या गहरा इससे क्या सम्बन्ध ? १६७८

कामधेनु के सम्बन्ध में, वह छोटी या बड़ी, ऐसा विचार जैसे नही करते। १६७९

उसी तरह से गीता की दृष्टि से पहले श्लोक या अन्त के श्लोक, ऐसा नहीं बोलना चाहिये। पुराना पारिजात, नया पारिजात, ऐसा भेद कभी होता है क्या ? १६८०

और श्लोकों में तुलना नहीं, ऐसे समर्थन की सचमुच आवश्यकता है क्या ? क्योंकि यहाँ वाच्य व वाचक ऐसा ही भेद नहीं। १६८१

इस गीताशास्त्र में अकेले श्री कृष्ण वाच्य और वाचक दोनों ही हैं। यह प्रसिद्ध गोष्ठी इस लोक में सबको मालूम है। १६८२

इससे अर्थज्ञान होने के बाद जो मिलता है, वही पठन से भी मिलता है। इसीलिये यहाँ वाच्य व वाचक, इन्हें गीताशास्त्र ने एकरूप कर दिया। १६८३

तो मुझे गीता का समर्थन करने के लिये कोई विषय ही रहा नहीं है। गीता, यह परब्रह्म की वाङ्मय श्रीमूर्ति है। ऐसा समझो। १६८४

वाचा का, अर्थ का, फल देकर, शास्त्र निकल जाता है; ऐसा यह शास्त्र नही है। यह सम्पूर्ण परब्रह्म ही है। १६८५

विश्व पर कृपाकर, भगवान, अर्जुन के निमित्त से, यह सहज प्राप्त होने वाला महानंद, गीतारूप से लाए हैं। १६८६

चकोर के बहाने से, कलापूर्ण चन्द्र जैसे तप्त-त्रिभुवन को शान्त करता है। १६८७

या गौतम के निमित्त से भगवान शंकर ने कलिकाल-ज्वर का दोष नष्ट करने के लिये जैसे गंगा को नीचे उतारा। १६८८

उसी तरह से इस कृष्ण गैया ने अर्जुन को बछड़ा कर, यह गीतारूपी दुग्ध सब विश्व को पूरा हो जाए, इतने प्रमाण में दिया। १६८९

इस गीता-गंगा में अन्तःकरण पूर्वक स्नान करोगे, तब जो हो जाता है, वही, पठन के निमित्त से उसका आचमन करने से भी होता है। १६९०

लोहा अपने अल्प के अल्प भाग से भी पारस को स्पर्श करेगा, तो तत्काल और सब भाग स्वर्ण हो जाएगा। १६९१

उसी तरह से गीता-पठन की कटोरी, श्लोक-चरण डालकर, होठों को लगाई जाए, तो तत्काल परब्रह्म की पुष्टता शरीर पर दिखनी आरम्भ हो जाएगी। १६९२

या उसकी ओर मुँह टेढ़ा होने से कान को भी स्पर्श हो जाए; तो स्पर्श होते ही वही हो जाएगा। १६९३

क्योंकि श्रवण से, अर्थज्ञान से, या पठन करने से, गीता, मोक्ष सिवाय और कुछ नहीं देती। यह समर्थदानी किसीको भी 'नहीं' नहीं कहता।१६९४

इसीलिये जानने वाले को संग लेकर, केवल अकेली गीता की ही सेवा करनी चाहिये। अन्य शास्त्र से क्या करोगे। १६९५

और कृष्ण-अर्जुन ने खुले दिल से जो अन्य विषय भी स्पर्श किया हो, वह सब, व्यास जी ने इस गीता से, हाथ में ले सकें, ऐसा किया। १६९६

जैसे बालक को माता जब प्रेम से खिलाने बैठती है, तब उसके योग्य, ऐसे ग्रास तैयार करती है। १६९७

या इस जोर से बहने वाली वायु को, सयाने मनुष्य ने, पंखे की निर्मिति कर, जैसे केवल अपने लिये बना लिया। १६९८

उसी तरह से शब्द से जिसकी प्राप्ति नहीं, वह श्रीव्यास ने अनुष्टुप छंद का रूप देकर, स्त्री, शूद्र, आदि की बुद्धि में समा जाए, ऐसा किया। १६९९

स्वाति जल के जब मोती न बनते, तो रूपवान के शरीर को वे कैसे शोभा देते ? १७००

नाद, वाद्यों की ओर न आता, तो वह कैसे मालूम होता ? फूल न होते तो सुगंध कैसे मिल सकती ? १७०१

पकवान जब मीठे न होते तो वे जिव्हा को कैसे समझ आते ? दर्पण बिना आँखों को आँखें कैसे दिखती ? १७०२

परमेश्वरस्वरूप श्री गुरुमूर्ति इस दृश्य मार्ग पर न होती तो किस उपाय से उन्हें पहचानते ? १७०३

इसी तरह से जो परब्रह्म, संख्या के पार है, उसे जब यह सात-सौ की संख्या न होती तो उसकी प्राप्ति किसे हो सकती थी ? १७०४

मेघ, समुद्र का पानी ही ढोते हैं, किन्तु जग मेघ को ही पहचानता है। कारण, समुद्र का अमाप पानी लेना, जग को असम्भव है। १७०५

और यह अच्छे श्लोक न होते तो वाणी को प्राप्त न होने वाला तत्व, कान को, मुख को, लेना शक्य था क्या ? १७०६

इन श्रीकृष्ण-वचनों को ग्रन्थ स्वरूप देकर, व्यास जी ने इस जग पर कितने बड़े उपकार किये हैं। १७०७

और वह ही ग्रन्थ मैं व्यास जी के वचन देखते-देखते, मराठी के श्रवण मार्ग पर लाया हूँ। १७०८

जब व्यासादिकों की प्रतिभा भी साशंक रह जाती है, वहाँ मैं एक सामान्य रंक, यह बड़-बड़ कर रहा हूँ। १७०९

किन्तु गीतेश्वर बड़ा भोला है। वह जैसे व्यास-वचनों की पुष्पमाला स्वीकारता है, वैसे मेरे दूर्वादल को भी 'नहीं' नही कहेगा। १७१०

और क्षीर-समुद्र तीर पर, हाथी समुदाय प्यास बुझाने आते हैं। वहाँ वह चिलटों को भी कभी रोकता है क्या ? १७११

नया पंख फूटा हुआ पक्षी, ऊँचा न उडे, फिर भी वह आकाश में ही भ्रमण करता है। किन्तु वहाँ गरुड़ भी घूमता रहता है। १७१२

राजहंस की चाल जग में बड़ी मोहक समझी जाती है। फिर भी, और कोई क्या चले ही न ? १७१३

गगरी अपने में समाए, इतना पूरा पानी भर लेती है। फिर अंजलि में अंजलि-भर ले नहीं सकते क्या ? १७१४

बड़ा दीवा हो, तो उसमें बड़ा प्रकाश होना है। किन्तु बाती भी अपनी शक्ति अनुसार प्रकाश देती है ना? १७१५

समुद्र जितना विस्तृत, इतना ही उसमें आकाश का आभास विस्तृत। किन्तु डबके में, डबके के आकार का प्रतिबिम्ब होता है कि नही ? १७१६

उसी तरह से व्यासादिक ज्ञानीलोग जिन ग्रन्थों में व्यवहार करते हैं, वहाँ हम-जैसे दूर रहें; यह विचार सचमुच ठीक नही। १७१७

जिस समुद्र में प्रचण्ड आकार की मछलियाँ सचार करती हैं, वहाँ अन्य छोटी मछलियाँ भी तैर सकती हैं। १७१८

अरुण, समीप का होने के कारण, सूर्य को देखता है। फिर पृथ्वी पर की चींटी क्या उसे नही देखती ? १७१९

इसलिये मेरे-जैसा सामान्य, गीता-प्रबन्ध देसी भाषा में लाया, इसे अनुचित कहने का कारण नही। १७२०

पिता आगे चलता है, उसके पाँवों का आधार लेते-लेते, छोटा बालक चलता रहे तो उसे वही स्थान क्या नहीं मिलेगा ? १७२१

इसी तरह से, व्यास जी के पीछे जाते-जाते, भाष्यकारों को मार्ग पूछते-पूछते, मैं अयोग्य होता हुआ भी, कैसे न जा पहुँचूंगा ? १७२२

जिसकी क्षमता से पृथ्वी स्थावर व जंगम को बोझ नहीं मानती। जिसके अमृत से चन्द्रमा विश्व को शान्त करता है। १७२३

उसका थोड़ा सा तेज लेकर, सूर्य, अन्धकार-संकट दूर कर रहा है। १७२४

समुद्र में जिसका पानी होता है। पानी को जिसकी मधुरता मिलती है। और मधुरता को जिसके कारण सौन्दर्य प्राप्त होता है। १७२५

वायु को जिसकी शक्ति मिलती है। आकाश जिसके कारण फैला हुआ होता है। ज्ञान जिसकी वजह से तेजस्वी चक्रवर्ती हो जाता है। १७२६

वेद जिसके कारण सुभाषित हो गए। सुख जिमकी वजह से उल्लसित रहता है। इतना ही नही, जिसंक कारण यह विश्व सुन्दर दीखता है। १७२७

वे, सर्वों पर उपकार करने में समर्थ, ऐसे सद्गुरु श्री निवृत्ति नाथ मेरे भी अन्दर में वास करते हैं। १७२८

फिर सहज ही मैं गीता मराठी मे कहूँगा, इसमें संशय के लिये क्या स्थान है ? १७२९

उस एकलव्य ने, उसके पास जो डोंगरी मिट्टी थी. वह श्री गुरु नाम से उपयोग कर, सर्व भीलों को त्रैलोक्य में मान्यता दिलवाई। १७३०

चंदन से लपेटा हुआ, सामान्य छोटा सा पेड़, चंदन की योग्यता का हो जाता है। वशिष्ठ के रखे हुए सामान्य तिनके ने भी सूर्य से स्पर्धा किया। १७३१

फिर मैं तो अन्तःकरण युक्त हूँ, मुझे ऐसे श्रेष्ठ श्री गुरु मिल गए हैं, कि वे केवल कृपादृष्टि से शिष्य को आत्मपद पर बैठाते हैं। १७३२

पहली, दृष्टि स्वच्छ। उस पर उस दृष्टि के पीछे सूर्य का प्रकाश होगा। वहाँ न दिखने वाली क्या वस्तु होगी ? १७३३

इसीलिये मेरे नित्य नये श्वासोश्वास भी प्रबन्ध हो जाएंगे। ज्ञानदेव कहते हैं, गुरुकृपा क्या नही करेगी ? १७३४

इसीलिये सब लोगो के लिये मैं यह गीतार्थ, मराठी में उनकी दृष्टि सम्मुख ला सका। १७३५

मेरे मराठी बोल रंगदार हैं। और उनका, गीता के अंतरंग से संयोग होने के बाद, अन्य गीता गायकों समान, उन्हें विशिष्ट वर्ग की आवश्यकता नहीं रहेगी। १७३६

इसीलिये मेरी यह गीता कोई गाने लग जाए तो यह उस गायक का भूषण हो जाएगी। और पढ़कर सुनवाएगा, तो भी उसमें गीतार्थ कम नही रहेगा। १७३७

सुन्दर शरीर पर अलंकार न डाले हों, उस समय वह मुक्त श्रृंगार हो जाता है। या अलंकार डाले हो, तो अधिक हो अच्छा। १७३८

मोती के गुण ऐसे हैं कि वे स्वर्ण की शोभा बढ़ाते हैं। किन्तु वे अलग होते हुए भी अच्छे लगते हैं। १७३९

वसन्त के आरम्भ के मोटे आकार के मोतिया के फूल, माला में गूँथने के बाद, या खुले हों, फिर भी सुगन्ध कम नहीं होती। १७४०

मैंने जो यह ओवीबन्ध किया हुआ है, उसका उपयोग ऐसा है, कि यह गाकर भी दिखा सकते हैं और बिना गीतपन भी यह रंग प्रकट करता है। १७४१

इस छोटे से बड़ों तक आसान, ऐसे ओवीबिन्ध में, ब्रह्मरस का सुस्वाद देने वाले शब्द मैंने गूँथे हुए हैं। १७४२

अब सुगंध के लिये, चंदन के वृक्ष पर जैसे फूलों का शोध करने की आवश्यकता नहीं होती। १७४३

इसी तरह से यह ग्रंथ कानों पर आते ही, समाधि अवस्था लाता है। फिर सुनने के बाद, वह फिर-फिर सुनने का व्यसन क्या नहीं लगाएगा? १७४४

इसका नित्य पाठ करते हुए, विद्वता, रूप धारण करके आती है। और ज्ञान होने के बाद, अमृत का भी स्मरण रहता नहीं। १७४५

और इसकी सुलभता के कारण यह काव्य-ग्रंथ सबको उपयुक्त हो गया है, क्योंकि केवल श्रवण ने ही मनन व निधिध्यास दोनों को जीत लिया है। १७४६

यह काव्य सबको आत्मानंद भोगने की क्षमता प्रदान करेगा। और कानों से सर्व इन्द्रियों का पोषण हो जाएगा। १७४७

चन्द्र का अंगस्पर्श उपभोग कर, चकोर सयानापन दिखाते हैं। किन्तु चाँदनी तो, सबको मिलती है। १७४८

वैसे देखा जाए तो इस अध्यात्मशास्त्र में अन्तःकरण ही अधिकारी होता है। किन्तु सामान्य जन भी उसके साहित्य-गुणों से सुखी हो जाएँगे। १७४९

यह कीर्ति सचमुच श्री निवृत्तिनाथ की है। यह ग्रंथ नहीं, उनकी कृपा का मूर्तिमंत वैभव है। १७५०

क्षीर समुद्र के परिसर में त्रिपुरारि श्री शंकर ने पार्वती के कानों में जो कुछ गुह्य कहा होगा वह कौन जाने? १७५१

वह गुह्य क्षीर कल्लोड़ों में रहने वाले मगरमच्छ के पेट में जो छुपकर रहा हुआ था, उनके हाथ में आ गया। १७५२

वह मच्छेन्द्र, जिनके सात सींग थे, कोई अवयव नहीं थे, उनको वह गुह्य मिलते ही वे सर्वांग से परिपूर्ण हो गए। १७५३

फिर उस मच्छेन्द्रनाथ ने वह गुह्य, निरविकल्प समाधि अवस्था अनुभव करने की जिसको तीव्र इच्छा थी, उस गोरखनाथ को कह दिया।१७५४

इसी कारण जैसे कोई योगविद्या का सरोवर ही, ऐसे, विषयों का विध्वन्स करने में शूर, गोरखनाथ को, निरविकल्प समाधि का सर्वेश्वर पद प्राप्त हो गया। १७५५

फिर उन्होंने अद्वैतानंद का वैभव, ऐसा जो शंकरप्रसाद, उसके पूर्ण शक्ति सहित श्री गहिनीनाथ को दे दिया। १७५६

कलिकाल इस जग के सर्व प्राणी मात्र का सम्पूर्ण ग्रास करने के लिये निकला हुआ देखकर, उन्होंने निवृत्तिनाथ को ऐसी आज्ञा दी, १७५७

कि आदि गुरु शंकराचार्य से शिष्य-परम्परा में जो ज्ञान इस संसार में हमको प्राप्त हो चुका है, १७५८

वह यह ज्ञान-धन, तुम साथ लेजाओ और काल ग्रसित जीवों का तुरन्त सम्पूर्ण रक्षण करो। १७५९

पहले ही निवृत्तिनाथ, कृपावन्त। ऊपर गुरु-आज्ञा के शब्द। फिर क्या! वर्षा-काल के मेघ की जैसी गर्जना होती है, वैसा वे कृपा-वर्षाव करने लगे। १७६०

फिर दुःखी जग की करुणा आकर गीतार्थ, ग्रंथ-रूप में कहने के बहाने से, जो उन्होंने शान्तरस की वर्षा की, वह यह ग्रंथ है। १७६१

तब मैं एक चातक, अपनी इच्छा लेकर सामने खड़ा रहा। इसीलिये वे मुझे इतनी बड़ी यश-अवस्था में लाए। १७६२

इसी तरह से गुरु-परम्परा से जो समाधि-धन उन्हें मिला था, वह मेरे स्वामी ने मुझे ग्रंथ में बाँधकर दे दिया। १७६३

वैसा तो मैं न पाठक न वाचक। और मेरे स्वामी की सेवा ही मैं नहीं जानता। ऐसे मुझे, ग्रंथ लेखन की योग्यता कैसे होगी ? १७६४

किन्तु सचमुच मेरे गुरु नाथ ने, मेरा बहाना करके, इस प्रबन्ध के योग से, स्वंय ही जग का रक्षण किया। १७६५

तो, कोई पुरोहित जैसा, मैं जो कुछ अच्छा-बुरा बोल रहा हूँ, वह आप मेरी माता होकर सहन कर लो। १७६६

वाक्यरचना कैसी करनी चाहिये, प्रमेय को कैसा हाथ लगाना चाहिये, अलंकार जिसको कहते हैं वह क्या है ? यह मैं कुछ नहीं जानता। १७६७

कठपुतली डोरी चलाने से ही चलती है। उसी तरह से वह मेरा स्वामी, मुझे आगे कर, स्वँयं ही बोल रहा है। १७६८

इसीलिये मैं इस ग्रंथ के गुण-दोष के बारे में खास क्षमा नहीं माँगता। क्योंकि आचार्य की रचना ही मैंने ग्रंथरूप की हुई है। १७६९

और आप संतों की सभा में जो कुछ कमीपन से खड़ा रहा हो, वह पूर्णत्व में नहीं आया, तो प्रेम से मैं आप पर ही रोष करूँगा। १७७०

पारस का स्पर्श होते ही लोहे की बुरी अवस्था जो स्वयं ही न जाए, तो दोषी किसको कहें ? १७७१

बरसाती प्रवाह ने एक ही कार्य करना चाहिये, कि गंगा जाकर मिले। फिर जो वह गंगा नहीं होगा, तो वह क्या करेगा ? १७७२

इसीलिये बड़े महाभाग्य से मैं आप संत मंडली के चरणों में आया हूँ। अब इस जग में मुझे क्या कमी है ! १७७३

अहो, मेरे स्वामी ने मुझे आप संतों का सम्बंध दिया। अब मैं सबकामी परिपूर्ण हो गया हूँ। १७७४

देखो, आप जैसा सुख का माहेर, मेरे स्वामी की कृपा से मुझे मिल गया। इसीलिये यह ग्रंथ-पसारा सिद्ध हो गया। १७७५

महाराज, यह सारा भूमंडल शुद्ध स्वर्ण से ढाला जा सकेगा। चिन्तामणि रत्न के पहाड़ के पहाड़, निर्माण कर सकेंगे। १७७६

सात समुद्र अमृत से भरना आसान। तारों के चन्द्र करना कठिन नहीं। १७७७

कल्पतरु के उद्यान बनाने में कोई कठिन कार्य न होगा। किन्तु गीतार्थ का वर्म शोधना, सम्भव नहीं। १७७८

वहाँ मैं एक सर्व दृष्टि से मूक। मराठी भाषा में गीतार्थ का वर्म, लोग आँखों से ले सकें, ऐसा कर रहा हूँ। १७७९

यह इतना बड़ा ग्रंथ-सागर पार करने की, परले तीर पर जहाँ कीर्तिविजय-पताका नाचती है, १७८०

उस गीतार्थ के परिसर में, शिखर समेत महापर्वत खड़ाकर, उसमें श्री गुरुलिंग पूजन मैं कर रहा हूँ। १७८१

गीता, यह शुद्ध अन्तःकरण वाली जो माता है, उससे भूल से दूर हुआ यह मैं उसका बालक। हम दोनों की भेंट करवा देना, यह आपका धर्म है। १७८२

आप संतजनों ने वह धर्मपालन किया हुआ है, ऐसी भावना से मैं बोल रहा हूँ। ज्ञानदेव कहते हैं यह आपको अधूरा तो नही लगता ? १७८३

मैं अधिक क्या बोलूँ ! ग्रंथ-सिद्धि का उत्सव आपने दिखा दिया, मेरा सारा जन्म सफल हो गया। १७८४

आपके भरोसे मैं जो-जो आशा कर बैठा था, वे बड़ी मात्रा से पूर्णकर आपने मझे बहुत सुखी किया है। १७८५

स्वामी महाराज, आपने मेरे लिये जो यह ग्रथ की दूसरी सृष्टि निर्माण की, उसे देखकर हम विश्वामित्र पर भी हँसेंगे। १७८६

क्योंकि विश्वामित्र की प्रतिसृष्टि, त्रिशंकु का दोप और विधाता को कमीपन लाने वाली थी। किन्तु यह ग्रंथ-सृष्टि आपने सम्पूर्ण दोष-रहित की है। १७८७

उपमन्यु के प्रेम से भगवान शकर ने क्षीरसमुद्र उत्पन्न किया। वह भी यहाँ उपमा के लिये योग्य नहीं, क्योंकि उसमें विष है। १७८८

अन्धकार-रूपी राक्षस सर्व चराचर को ग्रास करने लगा, तब सूर्य उस चराचर की प्रार्थना से दौड़ा आया, यह सच है। किन्तु वह भी ताप देने वाला था। १७८९

तप्त जग के लिये चन्द्र ने जो चाँदनी दे दी, वह भी सदोष थी। तो, ऐसा दोष-स्वरूप मैं कैसे कहूँ। १७९०

इसीलिये आप संतों ने इस त्रैलोक्य मे इस ग्रंथरूप से मेरे पर जो उपकार किये हुए हैं, उन्हें इसके आग उपमा नही। १७९१

संक्षिप्त में, आपका किया हुआ यह धर्म-कीर्तन सिद्ध हो गया, इसमें मेरा केवल सेवाधर्म रहा हुआ है। १७९२

अब विश्वात्मक परमेश्वर इस वाङ्मय-यज्ञ से संतुष्ट होकर, मुझे ऐसा पसायदान दें, १७९३

कि जिससे दुष्टों का दुष्टपन नष्ट हो, उनको सत्कर्म करने की प्रीति उत्पन्न हो, सर्व प्राणीमात्र में आपस में जीव भाव की मैत्री बढ़े। १७९४

दुष्कर्म का अन्धेरा नष्ट हो जाए और सर्व विश्व में स्वधर्मसूर्य का अरुणोदय हो। और सर्व प्राणीमात्र की सर्व इच्छाएँ पूर्ण हो जाँए। १७९५

सर्वमंगल की वर्षा करते हुए, ईश्वर-भक्तों की अखण्ड वर्षा-धारा इस सर्व भूमंडल पर, मब प्राणी मात्र को प्राप्त हो जाए। १७९६

ये ईश्वर भक्त, कल्पतरु के चलते उद्यान होते हैं। चैतन्यपूर्ण चिन्तामणि के गाँव होते हैं। और बोलने वाले अमृत के सागर होते हैं। १७९७

जो संत, दाग-रहित चन्द्रमा हैं। ताप-रहित सूर्य हैं। ऐसे सज्जन, सर्व लोगों को स्वजन जैसे हों। १७९८

संक्षिप्त में, सर्व त्रैलोक्य, पूर्ण सुखी होकर, उस आदिपुरुष की निरन्तर भक्ति करता रहे। १७९९

और महाराज, इस मृत्युलोक में प्रधानतः जिनको यह ग्रंथ जीवनस्वरूप होगा, उनको इष्टानिष्ट संकट पर विजय प्राप्त हो ! १८००

तब विश्व के राजेश्वर श्रीगुरु ने कहा : तथास्तु। और यह सुन, ज्ञानदेव पूर्ण सुखरूप हो गए। १८०१

इसी तरह से इस कलियुग में महाराष्ट्र देश में, गोदावरी के दक्षिण तीर पर, १८०२

सर्व त्रिभुवन में एकमात्र पवित्र, ऐसा जो पुरातन पंचकोशी तीर्थक्षेत्र है, और जिसमें जग के जीवनसूत्र, ऐसी श्री महालया देवी है। १८०३

उसमें यदु वंश की शोभा, ऐसा, सर्वकला का वस्ति स्थान, पृथ्वीपति श्री रामचन्द्र जहाँ न्याय से प्रजा पोषण करता है। १८०४

वहाँ, आदि-नाथ शंकर परम्परा में जन्म लिये हुए, श्री निवृत्ति नाथ का पुत्रवत, ऐसे ज्ञानदेव ने, गीता को यह देसी भाषा का अलंकार चढ़ा दिया। १८०५

इसी तरह से महा-भारत प्रान्त में, भीष्म नाम प्रसिद्ध पर्व में श्री कृष्ण और अर्जुन, इनमें जो उत्तम संवाद हो गया, १८०६

जो उपनिषद् का सार है, सर्व शास्त्र का माहेर है, और जिस सरोवर में परमहंस विलास करते हैं। १८०७

उस गीता की सम्पूर्णता का दर्शक, यह कलश समान अठारहवाँ अध्याय है। ऐसा निवृत्तिनाथ के सेवक ज्ञानदेव ने कहा। १८०८

अत यह पुण्य ग्रंथसम्पदा बार-बार सबको सुखदायक व पूर्णत्व प्राप्त कर देने वाली हो, यही प्रार्थना। १८०९

शक संवत् बारहसौ-बारह के उत्तरार्ध में ज्ञानदेव ने इस टीकाग्रंथ की रचना की। और श्री सच्चिदानन्द बाबा ने आदरभाव से उसका लेखन किया। १८१०

-इति-

श्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय १८

मोक्षसंन्यासयोग

अर्जुन उवाच
संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुन बोला :

हे महाबाहो, हे हृषीकेश, संन्यास का और त्याग का मैं तत्व जानना चाहता हूँ। हे वासुदेव, इनको अलग-अलग स्पष्ट करके बताओ।

श्रीभगवानुवाच
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥२॥

श्रीभगवान बोले :

काम्यकर्म के त्याग को विद्वानलोग संन्यास कहते हैं। और सर्वकर्मों के फलों का त्याग, उसको त्याग, ऐसा विचारवन्तपुरुष कहते हैं।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

बहुत से विद्वान, कर्म को दोषयुक्त मानकर, त्याज्य, ऐसा कहते हैं। और दूसरे, यज्ञ, दान, तप, ये कर्म त्याज्य नहीं, ऐसा कहते हैं।

निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥४॥

हे भरत-उत्तम, इस त्याग के सम्बन्ध में मेरा निश्चय क्या है, यह तुम सुनो। हे नर-श्रेष्ठ, त्याग तीन प्रकार का कहा गया है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥

यज्ञ, दान, तप, यह कर्म त्याज्य नही। वह करना ही चाहिए। यज्ञ, दान, तप, बुद्धिमान्मनुष्यों को पावन करने वाले हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥६॥

ये सर्व तथा कर्म भी, संग व फल छोड़कर, करने ही चाहिये, ऐसा हे अर्जुन, मेरा निश्चित व उत्तम मत है।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥७॥

और विहित कर्म का त्याग योग्य नहीं। मोह से किये हुए उस त्याग को तामस कहते हैं।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥८॥

दुःख कारक, ऐसा ही समझकर, देह-कष्ट के भय से जो कर्म त्यागा जाता है, वह राजस त्याग होने के कारण त्यागफल का लाभ नहीं होता।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गंत्यक्त्वा फलं चैव स त्यागःसात्त्विको मतः ॥९॥

हे अर्जुन, करना ही चाहिए, ऐसी भावना से, संग व फल छोड़कर जो विहित कर्म किया जाता है, उसको सात्विक त्याग, ऐसी मान्यता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

बुद्धिमान, संशय रहित, और सत्व गुण संपन्न, ऐसा त्यागी, अशुभ कर्म का भी द्वेष नहीं करता, और शुभ कर्म में आसक्ति नहीं रखता।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

जो देहधारी है उसे सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करना सम्भव नहीं। जो कर्म-फल का त्याग करता है, उसी को ही त्यागी कहते हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

कर्म का, अनिष्ट, इष्ट और मिश्र, ऐसा त्रिविध फल होता है। जो त्यागी नहीं होते हैं, उन्हें वह मरणोप्रान्त मिलता है। और संन्यासियों को यह (बाधक) होना ही नहीं।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

हे महाबाहो ! सर्व कर्मों की सिद्धि के लिए पाँच कारण होते हैं, ऐसा सांख्य शास्त्र में कहा हुआ है । वे तुम मुझसे समझ लो ।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

अधिष्ठान तथा कर्ता, व अलग-अलग इन्द्रियें, और उनकी अलग-अलग चेष्टाएं । और पाँचवा, दैवीशक्ति का प्रभाव ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

शरीर, वाचा, मन से, मनुष्य जो न्यायी अथवा विपरीत कर्म प्रारम्भ करता है, उसके यही पाँच हेतु भी होते हैं ।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

परन्तु ऐसा होते हुए, संस्कार-विहीन बुद्धि के कारण जो केवल आत्मा को ही कर्ता मानता है, वह दुर्बुद्ध यह नहीं जानता ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

जिसको अहंकार-भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, उसने इस सर्व जग की हत्या की, तो भी, वह हत्या नहीं होती और वह कर्म बन्धन कारक होता नहीं ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

ज्ञान, ज्ञेय व ज्ञाता, यह कर्म का प्रवृत्तित्रय है । इन्द्रिय, कर्म व कर्ता, ऐसा तीन प्रकार का कर्म-संचय है ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

सांख्यशास्त्र ने ऐसा कहा हुआ है कि ज्ञान, कर्म व कर्ता, ये भी गुण-भेद से तीन प्रकार के होते हैं । वही अब अच्छे प्रकार से सुनो ।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

भिन्न-भिन्न, ऐसे सर्व भूतों में, अविनाशी व अभिन्न ऐसा केवल एक ही भाव जो देखता है, वह ज्ञान तुम सात्विक समझो ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१ ॥

किन्तु जो ज्ञान सर्व भूतों में अनेक अलग-अलग भाव को अलग-अलग रूप से देखता है, वह ज्ञान राजस है ऐसा जानो ।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२ ॥

और जो ज्ञान; कार्य में एक ही धारणा से जुड़ा हुआ होता है, तथा जो हेतुरहित, तत्वार्थशून्य व क्षुद्र , ऐसा हो, उसको तामसज्ञान कहते हैं ।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३ ॥

आसक्ति रहित, प्रीति या द्वेष भाव जिसमें नहीं, ऐसा, फल की आकांक्षा न धरने वाले मनुष्य से जो विहित कर्म होता है, उसको सात्विक कहते हैं ।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४ ॥

किन्तु फल की आकांक्षा करने वाले अहंकारयुक्त मनुष्य से जो कर्म अतिशय प्रयासपूर्वक किया जाता है, उसको राजस कर्म कहते हैं ।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५ ॥

जो, परिणाम, हानि, हिंसा, व स्वसामर्थ्य को न देखते हुए, मोह से प्रारम्भित होता है, उस कर्म को तामस कहते हैं ।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६ ॥

आसक्ति व अहम्‌भाव रहित, सिद्धि व असिद्धि में निर्विकार, जो धैर्य व उत्साह से कार्य करता है, उसे सात्विक कर्ता कहते हैं ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अभिलाषी, कर्मफल की इच्छा करने वाला, लोभी, दूसरे को पीडा देने वाला, अस्वच्छ, हर्ष व शोक युक्त, ऐसा जो कर्ता होता है, उसको राजस कर्ता कहते हैं।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अनियमित, शास्त्र-संस्काररहित बुद्धि वाला, निष्क्रिय, कपटी, निरर्थक, आलस्यवान, शोकयुक्त, और विलम्बकारी, ऐसे कर्ता को तामस कहते हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं श्रृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

हे धनंजय! बुद्धि व धृति, इनके भी त्रिविद्ध गुण-भेद मैं सम्पूर्ण अलग-अलग करके कहता हूँ, सुनो।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

जो बुद्धि, प्रवृति निवृत्ति, कार्य अकार्य, भय अभय, बध मोक्ष, ऐसा विचार जानती है वह बुद्धि सात्विकी होती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

हे पार्थ, जिस बुद्धि में धर्म अधर्म या कार्य अकार्य, यह भेद ठीक तरह से जाना नहीं जाता, वह बुद्धि राजसी होती है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

हे पार्थ, जो बुद्धि तामस गुण से व्याप्त हुई है, अधर्म ही धर्म, ऐसा मानती है, ऐसे सर्व प्रकार से विपरीत, वह बुद्धि तामसी होती है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

हे पार्थ! मनुष्य, जिस योग के कारण दोषरहित हुई धृति से मनप्राणेन्द्रियों की क्रिया धारण करता है, वह धृति सात्त्विक है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

हे अर्जुन, मनुष्य जिस धैर्य के कारण धर्म, काम, अर्थ, इनका स्वीकार करता है, और प्रसङ्ग अनुरूप फल-आशा रखता है, वह धृति राजस है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥३५॥

और जो दुरबुद्ध मनुष्य, जिसके कारण निद्रा, भय, शोक, दुःख, और मद, इनसे मुक्त नहीं होता, वह धृति तामसी मानी जाती है।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

हे भरतश्रेष्ठ, जिसमे अभ्यासयोग से रममाण हो जाता है, और दुःख निश्चित ही नष्ट हो जाता है, उस सुख के तीन प्रकार मुझसे सुनो।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

जो प्रारम्भ मे विश समान, किन्तु परिणाम से अमृत जैसा होता है, और आत्मबुद्धि के प्रसाद से जो प्राप्त होता है, वह सुख सात्विक कहते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

विषय व इन्द्रिय, इनके संयोग से जो आरम्भ में अमृत जैसा, और परिणाम मे विष समान होता है, उस सुख को राजस कहा हुआ है।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

जो प्रारम्भ में और परिणाम मे भी, अन्तःकरण को मोह में डालने वाला होता है, निद्रा आलस्य और प्रमाद इनसे उत्पन्न होने वाला जो सुख, उसको तामस कहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

इन प्रकृतिजन्य त्रिगुण से मुक्त; ऐसा कोई भी प्राणी इस जगत मे या स्वर्ग में या देवों में, कहीं भी होता नही।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१ ॥

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों व शूद्रों का कर्म, स्वभाव-प्रभावित गुणों से विभाजित है ।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२ ॥

शम. दम, तप, शुद्धि, क्षमा, सरलपन, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्ता, यह ब्राह्मण का कर्म, स्वभाव से उत्पन्न हुआ है ।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३ ॥

शौर्य, तेज, धैर्य, दक्षता, रणछोड़ न होना, दान और स्वामित्व-भाव, यह क्षत्रिय का, स्वभावजन्य कर्म है ।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४ ॥

खेती, गौरक्षण, व व्यापार, यह वैश्य का स्वभावजन्य कर्म है । और केवल सेवा, यह शूद्र का स्वभाविक कर्म है ।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५ ॥

उनमें से हरेक अपने-अपने कर्म में रममाण होने वाले पुरुष को श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त हो जाती है । किस प्रकार से यह मोक्ष मिलता है, यह सुनो ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६ ॥

जिससे सर्व भूतमात्र की उत्पत्ति होती है, जिसने यह सर्व विश्व व्याप्त किया हुआ है, उस ईश्वर की अपने कर्म से अराधना करके मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७ ॥

प्रतिष्ठित, ऐसे परधर्म से गुणहीन भी स्वधर्म श्रेयस्कर है । स्वभावनियत कर्माचरण से दोष जड़ता नहीं ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८ ॥

हे कौन्तेय, स्वभाविक कर्म सदोश होते हुए भी न छोड़ो । सर्व कर्मारम्भ दोष मे ढका हुआ होता है, जैसे धुएँ से अग्नि ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९ ॥

जो जीतात्मा है, जो आकांक्षा रहित है, ऐसा सर्वत्र असक्तबुद्धि वाला पुरुष, संन्यासयोग से उत्तम नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है ।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५० ॥

हे कौन्तेय, सिद्ध पुरुष, तत्व ज्ञान की परानिष्ठा, ऐसे ब्रह्म को, किस क्रम से प्राप्त कर लेता है, वह संक्षिप्त में मुझसे सुनो ।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१ ॥

शुद्धबुद्धि मे युक्त, धैर्य से मन व इन्द्रियों का नियमन करके, शब्दादि विषयों का त्याग करके, प्रेम द्वेष ऐसे भाव छोडकर,

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२ ॥

एकात सेवन करने वाला, मिताहारी, वाचा, शरीर, व मन, इनका नियमन करके, ध्यानयोगपरायण, नित्य वैराग्य में जड़ा हुआ,

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३ ॥

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध व संग्रहदोष, इनसे मुक्त और मम्त्वबुद्धि विरहित और शान्त हुआ, ब्रह्मरूप होने में योग्य होता है ।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४ ॥

ब्रह्मभाव से भरा हुआ, प्रसन्न आत्मा, शोक करता नहीं और आशा रखता नही । सर्व भूतमात्र मे समदृष्टि वाला, मेरी परमभक्ति को प्राप्त कर लेता है ।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५ ॥

जो परम भक्ति से, मुझे जैसा मैं हूँ, ऐसा तत्त्वतः जानता है वह ऐसा तत्त्वतः जानने पर मुझमें प्रवेश करता है ।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६ ॥

मेरा आश्रय किया हुआ, सर्व कर्म करते हुए भी मेरे प्रसाद से, मेरा शाश्वत व अविनाशी पद प्राप्त करता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७ ॥

जागृत बुद्धि से सर्व कर्म मुझमें ही संन्यास करके, मेरी ओर ध्यान लगाकर, बुद्धियोग का आश्रय करके, सर्वकाल तुम मुझमें चित्त-जड़े-हुए हो जाओ ।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८ ॥

ऐसा मत्चित्त होने के बाद, मेरे प्रसाद से तुम सर्व संकट से तर जाओगे । किन्तु अहंकार के कारण न सुनोगे, तो विनाश होगा ।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९ ॥

यदि अहंकार का आश्रय करके, युद्ध न करूँगा, ऐसा मानोगे, तो तेरा यह निश्चय व्यर्थ, ऐसा ही होगा । प्रकृति तुझे जुटा ही देगी ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६० ॥

हे कौन्तेय, तुम स्वभाव से ही अपने कर्म में बन्धे हुए हो । मोह से, न करने की इच्छा रखोगे, फिर भी परवश हुए करोगे ही ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१ ॥

हे अर्जुन, सर्व भूतों के हृदय में ईश्वर स्थित रहता है, जो माया के संयोग से, जैसे यंत्रारूढ़ हुए सर्व भूतमात्र को, भ्रमण करवाता है ।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२ ॥

हे भारत, तुम सर्व भाव से उसको शरण जाओ । उसके प्रसाद से शाश्वत, ऐसा, परमशान्ति वाला स्थान प्राप्त करोगे ।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३ ॥

यह, गुह्य से भी गुह्य ज्ञान मैंने तुझे कहा है । इसका पूर्ण विचार करके तुझे जैसी इच्छा हो, वैसा कर ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४ ॥

तू मेरा दृढ-भक्त है इसीलिये सर्व गुह्यों से श्रेष्ठ, ऐसा मेरा परम वचन मैं तुझे फिर से कहता हूँ । इसमें मैं तेरा हित समझता हूँ ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५ ॥

मुझमें मन लगाकर रहो । मेरा भक्त बन जाओ । मेरा यजन करने वाला हो जाओ । मुझे ही नमस्कार करो । फिर, तुम मुझमें प्रवेश करोगे । तुम मुझे प्रिय हो इसीलिये मैं तुम्हें प्रतिज्ञा के साथ यह सत्य कह रहा हूँ ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥६६ ॥

सर्व प्रवृत्तियों का त्याग करके तुम मैं अकेले को ही शरण आ जाओ । मैं तुम्हें सर्व पापों से मुक्त करूंगा, तू शोक मत कर ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७ ॥

यह मेरे गुह्य बोल, अतपस्वी को, अभक्त को, जिसमें सुनने की इच्छा ही न हो, या मेरे निंदक को, कभी भी कहो नहीं ।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८ ॥

यह मेरा परम गुह्य जो मेरे भक्तों में प्रचार करेगा, वह ऐसी मेरी परमभक्ति से, निःसंशय मुझमें प्रवेश करेगा ।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९ ॥

मनुष्यों में उससे अधिक मेरे प्रति प्रेम किया हुआ, दूसरा कोई नहीं। और इस जगत में, भविष्य में भी उससे अधिक प्रिय अन्य कोई होगा नहीं।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७० ॥

यह हम दोनों के धर्मसंवाद का जो अध्यन करेगा, उसने ज्ञानयज्ञ से मेरा यजन किया, ऐसा मैं मानता हूँ।

श्रद्धावाननसूयश्च श्रृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१ ॥

और श्रद्धा युक्त, मत्सर-रहित, ऐसा जो मनुष्य यह श्रवण करेगा, वह भी मुक्त हुआ, पुण्य कर्म करने वालों को प्राप्त होने वाले शुभलोक प्राप्त करेगा।

कच्चिदेतत् श्रुतम् पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२ ॥

हे पार्थ, तूने यह सब एकाग्र अन्तःकरण से सुना है ना ? हे धनंजय, अज्ञान से उत्पन्न हुआ क्या तेरा मोह सम्पूर्ण नष्ट हुआ ?

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३ ॥

अर्जुन बोला :

हे अच्युत, तुम्हारे प्रसाद से मैं नष्ट-मोह, स्मृति प्राप्त हुआ और सन्देह-रहित खड़ा हूँ। तुम जो कहोगे, मैं करूँगा।

संजय उवाच
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४ ॥

संजय बोला :

इसी तरह से, वासुदेव और महान आत्मा अर्जुन का यह अद्भुत व रोमाञ्चकारी संवाद मैंने सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगंयोगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

व्यास के प्रसाद से यह योगरूप परमगुह्य मैंने स्वय योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष कहते हुए, सुने हैं।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

हे राजन्, यह श्रीकृष्ण व अर्जुन का अद्भुत कल्याणकारी सवाद बार-बार स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

हे राजन्, श्री कृष्ण के अति अद्भुत, ऐसे रूप को भी पुनःपुनः स्मरण करके मैं महान आश्चर्य से बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ हैं, वहाँ विजयश्री और ऐश्वर्य निश्चित हैं, यह अचलनीति है, ऐसा मैं मानता हूँ।

—इति—